श्रावक जीवन

भाग-१

आचार्यश्री हरिभद्रसूरि-विरचित
"धर्मबन्दु" ग्रंथ के तीसरे अध्याय
पर दिये गये मननीय, रसपूर्ण और
प्रेरणादायी २३ प्रवचन।

❖ आलेखक ❖

श्री प्रियदर्शन

(आचार्यदेव श्री विजय भद्रगुप्तसूरीश्वरजी महाराज)

❖ पुनः संपादन : ज्ञानतीर्थ - कोबा

© श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र, कोबा

❖ आवृत्ति : तृतीय

वि. सं. 2074, ई. स. 2018

❖ मूल्य : रु. 450.00

विश्वकल्याण पुनः प्रकाशन प्रवृत्ति के

मूल आर्थिक आधार

शेठ श्री निरंजन नरोत्तमभाई के स्मरणार्थ

ह. शेठ श्री नरोत्तमभाई लालभाई परिवार

❖ प्रकाशक : श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र

आचार्य श्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमंदिर

कोबा, जि. गांधीनगर - 382007

फोन नं. (079) 23276204, 205, 252

email : gyanmandir@kobatirth.org

website : www.kobatirth.org

❖ मुद्रक : नवप्रभात प्रिन्टींग प्रेस,

अहमदाबाद - 9825598855

❖ टाईटल डीजाईन : बिजल ग्राफिक्स - 8690725757

प्रकाशकीय

पूज्य आचार्य श्री विजयभद्रगुप्तसूरिजी महाराज (श्री प्रियदर्शन) द्वारा लिखित और विश्वकल्याण प्रकाशन, महेसाणा से प्रकाशित साहित्य, जैन समाज में ही नहीं अपितु जैनेतर समाज में भी बड़ी उत्सुकता और मनोयोग से पढ़ा जाने वाला लोकप्रिय साहित्य है।

पूज्यश्री का १९ नवम्बर, १९९९ के दिन अहमदाबाद में कालधर्म हुआ. इसके बाद विश्वकल्याण प्रकाशन ट्रस्ट को विसर्जित कर उनके प्रकाशनों का पुनः प्रकाशन बन्द करने के निर्णय की बात सुनकर हमारे **ट्रस्टीवर्य श्री किरीटभाई कोबावाला** की यह भावना हुई कि पूज्य आचार्यश्री के उत्कृष्ट साहित्य जनसमुदाय को हमेशा प्राप्त होते रहें, इसके लिये कुछ करना चाहिए।

पूज्य राष्ट्रसंत **आचार्य श्री पद्मसागरसूरिजी महाराज** तथा पूज्य **आचार्य श्री भद्रगुप्तसूरिजी महाराज** की घनिष्ठ मित्रता थी। अन्तिम दिनों में दिवंगत आचार्यश्री ने राष्ट्रसंत आचार्यश्री से मिलने की हार्दिक इच्छा भी व्यक्त की थी। पूज्य राष्ट्रसन्त आचार्यश्रीजी को विश्वकल्याण प्रकाशन ट्रस्टमंडल के सदस्यों के निर्णय से अवगत कराते हुए कोबा ट्रस्ट द्वारा उनके साहित्य को पुनः प्रकाशित करने की योजना से अवगत कराया गया। पूज्य आचार्यश्री ने इस कार्य हेतु प्रसन्नतापूर्वक अपने आशीर्वाद स्वरूप अनुमति प्रदान की, उनका आशीर्वाद प्राप्त कर कोबातीर्थ के ट्रस्टीयों ने इस कार्य को गतिमान करने हेतु विश्वकल्याण प्रकाशन ट्रस्ट के सामने प्रस्ताव रखा।

विश्वकल्याण प्रकाशन ट्रस्ट के ट्रस्टीयोंने दिवंगत आचार्य श्रीप्रियदर्शन के साहित्य के प्रचार-प्रसार की हमारी प्रबल एवं शुभ भावना को ध्यान में लेकर श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र-कोबातीर्थ को अपने ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित साहित्य का सर्वाधिकार सहर्ष सौंप दिया।

इसके बाद **श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र-कोबा** ने आचार्य श्री प्रियदर्शनजी के लोकप्रिय साहित्य का पुनः प्रकाशन तथा वितरण श्री संघ एवं समाज के श्रेयार्थ-मंगलार्थ प्रारम्भ किया।

श्री प्रियदर्शन के अनुपलब्ध साहित्य को पुनः प्रकाशित करने की शृंखला में श्रावक कैसा जीवन जीये उस विषय को समझाने वाले '**श्रावक जीवन**' ग्रंथ का प्रथम भाग प्रकाशित कर आपके कर कमलों में प्रस्तुत किया जा रहा है।

शेठ श्री संवेगभाई लालभाई के सौजन्य से इस प्रकाशन के लिये **शेठ श्री निरंजन नरोत्तमभाई के स्मरणार्थ, हस्ते शेठ श्री नरोत्तमभाई लालभाई परिवार** की ओर से उदारता पूर्वक आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है, इसलिये हम उनके ऋणी हैं तथा उनका हार्दिक आभार मानते हैं। आशा है कि भविष्य में भी उनकी ओर से सदैव उदारतापूर्ण सहयोग प्राप्त होता रहेगा।

इस आवृत्ति का प्रूफरीडिंग करने हेतु **पं. श्री रामप्रकाश झा** का हम हृदय से आभार व्यक्त करते हैं, व संस्था के कम्प्यूटर विभाग में कार्यरत **श्री केतनभाई शाह, श्री संजय गुर्जर** व **श्री बालसंग ठाकोर** के हम हृदय से आभारी हैं, जिन्होंने इस पुस्तक का सुंदर कम्पोजिंग किया।

हमारा विनम्र अनुरोध है कि आप अपने मित्रों व स्वजनों में इस प्रेरणादायक सत्साहित्य को वितरित करें। श्रुतज्ञान के प्रचार-प्रसार में आपका लघु योगदान भी सभी के लिये लाभदायक सिद्ध होगा।

पुनः प्रकाशन के समय ग्रंथकारश्री के आशय व जिनाज्ञा के विरुद्ध कोई बात हो गयी हो तो मिच्छामि दुक्कडम्। विद्वान पाठकों से निवेदन है कि वे इस ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करें।

अन्त में नये आवरण तथा साज-सज्जा के साथ प्रस्तुत ग्रंथ आपकी जीवनयात्रा का मार्ग प्रशस्त करने में निमित्त बने और विषमताओं में भी समरसता का लाभ कराये, ऐसी शुभकामनाओं के साथ...

ट्रस्टीगण

श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र, कोबा

(प्रथम आवृत्ति से)

निवेदन

''धर्मबन्दु'' ग्रंथ के पहले अध्याय पर आधारित ९६ प्रवचनों का प्रकाशन ''धम्मं सरणं पवज्जामि'' के नाम से चार भागों में करने के पश्चाद् अब उसी ग्रन्थ के तीसरे अध्याय पर आधारित प्रवचन ''श्रावक जीवन'' के नाम से प्रकाशित करने जा रहे हैं। २३ प्रवचनों का यह पहला भाग है। शायद इसके भी तीन अथवा चार भाग प्रकाशित होंगे।

यदि मनुष्य को अच्छा जीवन जीना है, सात्त्विक, धार्मिक और आदर्शयुक्त जीवन जीना है, तो ये सारे प्रवचन उनके लिए मार्गदर्शक बन सकेंगे। अनेक तर्क और अनेक दृष्टांतों के द्वारा, इन प्रवचनों में उन्नत और उदात्त जीवन जीने के मार्ग बताये गए हैं। वर्तमान कालीन मनुष्य को सामने रखते हुए ये सारे प्रवचन दिये गये हैं।

आप लोग शान्ति से इन प्रवचनों को पढ़ना। पढ़कर उन पर चिंतन-मनन करना। और, आप अपने जीवन में क्या परिवर्तन कर सकते हैं, इस बात का निर्णय करना। आप के जीवनपरिवर्तन में ये प्रवचन निमित्त बनें, प्रेरक बनें-यही मंगल कामना।

- ट्रस्टीगण

वि. क. प्र. ट्रस्ट

धर्म कला व श्रुत-साधना का आह्लादक धाम

श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र, कोबा तीर्थ

अहमदाबाद-गांधीनगर राजमार्ग पर स्थित साबरमती नदी के समीप सुरम्य वृक्षों की छटाओं से घिरा हुआ यह कोबा तीर्थ प्राकृतिक शान्तिपूर्ण वातावरण का अनुभव कराता है. **गच्छाधिपति महान जैनाचार्य श्रीमत् कैलाससागरसूरीश्वरजी महाराज साहब** की दिव्य कृपा व **युगद्रष्टा राष्ट्रसन्त आचार्य प्रवर श्रीमत् पद्मसागरसूरीश्वरजी महाराज साहब** के शुभाशीर्वाद से **श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र** की स्थापना २६ दिसम्बर, १९८० के दिन की गई थी. गच्छाधिपतिश्री की यह प्रबल इच्छा थी कि यहाँ पर धर्म, आराधना और ज्ञान-साधना की कोई एकाध प्रवृत्ति ही नहीं वरन् अनेकविध ज्ञान और धर्म-प्रवृत्तियों का महासंगम हो. एतदर्थ आचार्य श्री कैलाससागरसूरीश्वरजी की महान् भावनारूप **आचार्य श्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमंदिर** का खास तौर पर निर्माण किया गया.

श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र अनेकविध प्रवृत्तियों में अपनी निम्नलिखित शाखाओं के सत्प्रयासों के साथ धर्मशासन की सेवा में तत्पर है.

(१) महावीरालय : हृदय में अलौकिक धर्मोल्लास जगाने वाला चरम तीर्थंकर श्री महावीरस्वामी का शिल्पकला युक्त भव्य प्रासाद 'महावीरालय' दर्शनीय है. प्रथम तल पर गर्भगृह में मूलनायक महावीरस्वामी आदि १३ प्रतिमाओं के दर्शन अलग-अलग देरियों में होते हैं तथा भूमि तल पर आदीश्वर भगवान की भव्य प्रतिमा, माणिभद्रवीर तथा भगवती पद्मावती सहित पांच प्रतिमाओं के दर्शन होते हैं. सभी प्रतिमाएँ इतनी मोहक एवं चुम्बकीय आकर्षण रखती हैं कि लगता है सामने ही बैठे रहें..

मंदिर को परंपरागत शैली को शिल्पांकनों द्वारा रोचक पद्धति से अलंकृत किया गया है, जिससे सीढियों से लेकर शिखर के गुंबज तक तथा रंगमंडप से गर्भगृह का हर प्रदेश जैन शिल्प कला को आधुनिक युग में पुनः जागृत करता दृष्टिगोचर होता है. द्वारों पर उत्कीर्ण भगवान महावीर देव के प्रसंग, २४ यक्ष, २४ यक्षिणियों, १६ महाविद्याओं, विविध स्वरूपों में अप्सरा, देव, किन्नर, पशु-पक्षी सहित वेल-वल्लरी आदि इस मंदिर को जैन शिल्प एवं स्थापत्य के क्षेत्र में एक अप्रतिम उदाहरण के रूप में सफलतापूर्वक प्रस्तुत करते हैं.

महावीरालय की विशिष्टता यह है कि **आचार्य श्री कैलाससागरसूरीश्वरजी म. सा.** के अन्तिम संस्कार के समय प्रतिवर्ष २२ मई को दिन में २ बजकर ७ मिनट पर महावीरालय के शिखर में से होकर सूर्य किरणें श्री महावीरस्वामी के ललाट को सूर्यतिलक से देदीप्यमान करे, ऐसी अनुपम एवं अद्वितीय व्यवस्था की गई है. प्रति वर्ष इस आह्लादक दृश्य का दर्शन बड़ी संख्या में श्रद्धालु भावविभोर होकर करते हैं.

(२) आचार्य श्री कैलाससागरसूरि स्मृति मंदिर (गुरु मंदिर) : पूज्य गच्छाधिपति आचार्यदेव प्रशान्तमूर्ति श्रीमत् कैलाससागरसूरीश्वरजी म. सा. के पुण्य देह के अन्तिम संस्कार स्थल पर पूज्यश्री की पुण्य-स्मृति में संगमरमर का नयनरम्य कलात्मक गुरु मंदिर निर्मित किया गया है. स्फटिक रत्न से निर्मित अनन्तलब्धिनिधान श्री गौतमस्वामीजी की मनोहर मूर्ति तथा स्फटिक से ही निर्मित गुरु चरण-पादुका सच में ही दर्शनीय हैं.

(३) आचार्य श्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमन्दिर (ज्ञानतीर्थ) : विश्व में जैनधर्म एवं भारतीय संस्कृति के विशालतम अद्यतन साधनों से सुसज्ज शोध संस्थान के रूप में अपना स्थान बना चुका यह ज्ञानतीर्थ श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र की आत्मा है. ज्ञानतीर्थ स्वयं अपने आप में एक लब्धप्रतिष्ठ संस्था है. आचार्य श्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमंदिर के अन्तर्गत निम्नलिखित विभाग कार्यरत हैं : **(i) देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण हस्तप्रत भांडागार (ii) आर्य सुधर्मास्वामी श्रुतागार** (मुद्रित पुस्तकों का ग्रंथालय) **(iii) आर्यरक्षितसूरि शोधसागर** (कम्प्यूटर केन्द्र सहित) **(iv) सम्राट सम्प्रति संग्रहालय :** इस कलादीर्घा-म्यूजीयम में पुरातत्त्व-अध्येताओं और जिज्ञासु दर्शकों के लिए प्राचीन भारतीय शिल्प कला परम्परा का गौरवमय दर्शन इस स्थल पर होते हैं. पाषाण व धातु की मूर्तियों, ताड़पत्र व कागज पर लिखित पाण्डुलिपियों, लघुचित्र, पट्ट, विज्ञप्तिपत्र, काष्ठ तथा हस्तिदंत से बनी प्राचीन एवं अर्वाचीन अद्वितीय कलाकृतियों तथा अन्यान्य पुरावस्तुओं को बहुत ही आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक ढंग से धार्मिक व सांस्कृतिक गौरव के अनुरूप प्रदर्शित की गई है. **(v) शहर शाखा :** पूज्य साधु-साध्वीजी भगवंत एवं श्रावक-श्राविकाओं को स्वाध्याय, चिंतन और मनन हेतु जैनधर्म की पुस्तकें समीप में ही उपलब्ध हो सके इसलिए मुख्यतः जैन बस्तीवाले अहमदाबाद (पालडी-टोलकनगर) विस्तार में आचार्य श्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमंदिर की एक शहर शाखा ई. सं. १९९९ में प्रारंभ किया गया था. जो आज चतुर्विध संघ के श्रुतज्ञान के अध्ययन हेतु निरंतर अपनी सेवाएँ प्रदान कर रही है.

(४) आराधना भवन : आराधक यहाँ धर्माराधना कर सकें इसके लिए आराधना भवन का निर्माण किया गया है. प्राकृतिक हवा एवं रोशनी से भरपूर इस

आराधना भवन में मुनि भगवंत स्थिरता कर अपनी संयम आराधना के साथ-साथ विशिष्ट ज्ञानाभ्यास, ध्यान, स्वाध्याय आदि का योग प्राप्त करते हैं.

(५) मुमुक्षु कुटीर : देश-विदेश के जिज्ञासुओं, ज्ञान-पिपासुओं के लिए दस मुमुक्षु कुटीरों का निर्माण किया गया है. हर खण्ड जीवन यापन सम्बन्धी प्राथमिक सुविधाओं से सम्पन्न है. संस्था के नियमानुसार विद्यार्थी-मुमुक्षु सुव्यवस्थित रूप से यहाँ रह कर उच्चस्तरीय ज्ञानाभ्यास, प्राचीन एवं अर्वाचीन जैन साहित्य का परिचय एवं संशोधन तथा मुनिजनों से तत्त्वज्ञान प्राप्त कर सकते हैं.

(६) धर्मशाला : इस तीर्थ में आनेवाले यात्रियों एवं अतिथियों को ठहरने के लिए आधुनिक सुविधा संपन्न यात्रीभवन एवं अतिथिभवन का निर्माण किया गया है. धर्मशाला में वातानुकुलित एवं सामान्य मिलकर ४६ कमरे उपलब्ध है.

(७) भोजनशाला एवं अल्पाहार गृह : तीर्थ में पधारनेवाले श्रावकों, दर्शनार्थियों, मुमुक्षुओं, विद्वानों एवं यात्रियों की सुविधा हेतु जैन सिद्धान्तों के अनुरूप सात्त्विक आहार उपलब्ध कराने हेतु विशाल भोजनशाला व अल्पाहार गृह में सुन्दर व्यवस्था है.

प्रकृति की गोद में शांत और सुरम्य वातावरण में इस तीर्थ पर वर्ष भर में हजारों तीर्थयात्री आकर दर्शन-वन्दन का लाभ लेते हैं.

विश्वमैत्री धाम-बोरीजतीर्थ, गांधीनगर : योगनिष्ठ आचार्य श्रीमद् बुद्धिसागरसूरिजी महाराज की साधनास्थली बोरीजतीर्थ का पुनरुद्धार परम पूज्य आचार्यदेव श्री पद्मसागरसूरीश्वरजी म.सा. की प्रेरणा एवं शुभाशीर्वाद से किया गया है. श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र संलग्न विश्वमैत्री धाम के तत्त्वावधान में नवनिर्मित १०८ फीट ऊँचे विशालतम महावीरालय में ८१.२५ ईंच के पद्मासनस्थ श्री वर्द्धमान स्वामी प्रभु को प्रतिष्ठित किया गया है. ज्ञातव्य हो कि वर्तमान मन्दिर में इसी स्थान पर जमीन में से निकली भगवान महावीरस्वामी आदि प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा योगनिष्ठ आचार्य श्रीमद् बुद्धिसागरसूरीश्वरजी महाराज द्वारा हुई थी. नवीन मन्दिर स्थापत्य एवं शिल्प दोनों ही दृष्टि से दर्शनीय है. यहाँ पर महिमापुर (पश्चिमबंगाल) में जगत्शेठ श्री माणिकचंदजी द्वारा १८वी सदी में कसौटी पत्थर से निर्मित भव्य और ऐतिहासिक जिनालय का पुनरुद्धार किया गया है. वर्तमान में इसे जैनसंघ की ऐतिहासिक धरोहर माना जाता है. निस्संदेह इससे इस तीर्थ परिसर में पूर्व व पश्चिम भारत के जैनशिल्प का अभूतपूर्व संगम हुआ है.

❖ ❖ ❖

प्रवचन-१

सद्धर्मश्रवणादेवं नरो विगतकल्मषः ।
ज्ञाततत्त्वो महासत्त्वः परं संवेगमागतः ।।
धर्मोपादेयतां ज्ञात्वा संजातेच्छोऽत्र भावतः ।
दृढ़ं स्वशक्तिमालोच्य ग्रहणे संप्रवर्तते ।।

परम कृपानिधि महान् श्रुतधर आचार्यदेव श्री हरिभद्रसूरिजी ने 'धर्मबिन्दु' ग्रन्थ के तीसरे अध्याय में गृहस्थजीवन का विशेष धर्म बताया है। पहले अध्याय में गृहस्थजीवन का सामान्य धर्म बताया गया है, तीसरे अध्याय में विशेष धर्म।

आप के मन में यह जिज्ञासा पैदा होगी कि दूसरे अध्याय पर मैं क्यों प्रवचन नहीं दे रहा हूँ? दूसरा अध्याय आप लोगों के लिए नहीं है, हम लोगों के लिये है। उसमें धर्मोपदेश कैसे देना, इस विषय का समुचित मार्गदर्शन दिया गया है। ये बातें आप लोगों के लिये महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितनी तीसरे अध्याय की बातें महत्त्वपूर्ण हैं। दूसरी बात यह भी है कि गृहस्थजीवन का सामान्य धर्म समझने के बाद विशेष धर्म जानने की इच्छा जाग्रत होना स्वाभाविक होता है। सामान्य धर्मों की अति उपयोगी एवं रसपूर्ण बातें सुनते-सुनते कई श्रोताओं के मन में विशेष धर्मपुरुषार्थ करने की भावना जाग्रत हो सकती है। सद्गुरुओं के मुख से धर्मोपदेश श्रवण के विशिष्ट प्रभाव पड़ते हैं श्रोताओं के हृदय पर! इस तीसरे अध्याय के प्रारंभ में ही, आचार्यदेव ने वे प्रभाव बता दिये हैं।

धर्मश्रवण से पापमुक्ति :

अधिकारप्राप्त सद्गुरु से धर्मश्रवण करते-करते मनुष्य कुछ पापों से मुक्त हो सकता है। दो बातें हैं समझने की। पहली बात है, धर्म का उपदेश देनेवालों की। और दूसरी बात है, धर्म का उपदेश सुननेवालों की। दोनों योग्यताप्राप्त हों, तो अवश्य पापों से मुक्ति होती है।

जिनशासन में धर्मोपदेशक की कुछ योग्यतायें अपेक्षित हैं। सभी साधु उपदेशक नहीं बन सकते। उपदेशक साधु 'गीतार्थ' होना चाहिए। यानी शास्त्रज्ञ होना चाहिए। देशज्ञ और कालज्ञ होना चाहिए। श्रोताओं की बौद्धिक क्षमता को पहचाननेवाला होना चाहिये। मात्र शास्त्रज्ञ होने से मनुष्य धर्मोपदेशक नहीं बन

सकता। इतना ही नहीं, शास्त्रों का अध्ययन किया हो, परंतु चिंतन-परिशीलन नहीं किया हो, तो भी वह उपदेशक नहीं बन सकता। चिंतन-परिशीलन किया हो, परंतु देश-काल की वास्तविकता को नहीं जानता हो, तो भी वह धर्म का उपदेश नहीं दे सकता। चूंकि धर्म का संबंध मात्र वर्तमानकाल से नहीं है, वर्तमान जीवन से नहीं है, उसका संबंध भविष्यकाल के साथ भी है, पारलौकिक जीवन के साथ भी है। यदि मनुष्य धर्म को गलत अर्थ में समझ ले तो उसका वर्तमान और भविष्य-दोनों बिगड़ जाय। योग्यतारहित धर्मोपदेशक ऐसा अहित कर देता है। वह दूसरों पर, श्रोताओं पर उपकार नहीं करता है, वरन् घोर अपकार करता है। वह स्वयं भी उन्मार्ग-देशना देकर डूबता है और दूसरों को डुबाता है।

धर्म का सिद्धान्त सही हो, परंतु उस सिद्धान्त को समझने की क्षमता श्रोता में नहीं हो, तो वैसे सिद्धान्त का उपदेश नहीं देना चाहिये! जिस उपदेश के लिए जो योग्य नहीं है, उसे वैसा उपदेश नहीं देना चाहिये। यदि कोई उपदेशक देता है... तो वह अनर्थ करता है, अहित करता है। धर्मोपदेशक होना बड़ी जिम्मेदारी का काम है!

धर्मोपदेशक सुयोग्य है परंतु श्रोता अयोग्य है, तो वह श्रोता पापमुक्त नहीं हो सकता है! श्रोता सुयोग्य होना चाहिये। भले ही वह सर्वज्ञशासन के सिद्धान्तों को नहीं जानता हो या नहीं मानता हो, परंतु यदि वह सामान्य धर्मों का पालन करता है, तो सर्वज्ञशासन का धर्मोपदेश सुनते-सुनते श्रद्धावान् बनेगा ही। उसका मिथ्यात्व बर्फ की तरह पानी-पानी होकर बह जायेगा। उसका मिथ्यात्व का पाप नष्ट हो जायेगा। उसके तीव्र कषाय मंद हो जायेंगे।

राजा कुमारपाल का पूर्वजन्म :

गुजरात के राजा कुमारपाल के पूर्वजन्म की बात है! कुमारपाल पूर्वजन्म में डाकू था। उसका नाम था नरवीर। [कुछ ग्रन्थों में उसका नाम 'जयंत' भी बताया गया है और 'जयताक्' भी कहा गया है] मालवा और गुजरात के बोर्डर पर उसका अड्डा था। एक पहाड़ी पर वह रहता था। छोटा सा राज्य ही उसने स्थापित कर दिया था। पराक्रमी था। वीर योद्धा था। कई गाँवों को लूट लिये थे उसने। जो कोई मुसाफिर या काफिला वहाँ से गुजरता, नरवीर उसको लूट लेता था।

मैं आपको यह बात बताना चाहता हूँ कि ऐसे डाकू में भी सद्धर्म का श्रवण करने की योग्यता थी और उसके पुण्योदय से धर्मश्रवण कराने वाले महापुरुष भी उसको मिल गये थे! उसका मिथ्यात्व और उसके तीव्र कषाय कैसे नष्ट हुए, यह

बात आपको बताऊँगा।

नरवीर का विशाल गिरोह था। सारे प्रदेश में उसकी धाक थी। मुसाफिरों के लिये जैसे कि वह रास्ता ही बंद हो गया था। एक दिन मालवा का धनाढ्य व्यापारी धनदत्त अपने काफिले के साथ वहाँ से गुजर रहा था। धनदत्त के पास लाखों रुपये की संपत्ति थी, धन-माल था। नरवीर के साथी डाकूओं ने धनदत्त को लूट लिया। धनदत्त के सभी रक्षकों की हत्या कर दी गयी। धनदत्त कैसे भी करके वहाँ से बच निकला। उसने अपना सर्वस्व खो दिया था। वह मारे रोष के और निराशा के अत्यंत बेचैन हो गया था। वैर की आग से उसका हृदय जल रहा था। वह सोचता है-'अनेक क्रूर पिशाचों को इकट्ठे कर जैसे कोई राक्षस लोगों को सताता हो, वैसे यह नरवीर पल्लीपति, अनेक डाकुओं को इकट्ठे कर, मुसाफिरों को लूटता है, मारता है...। यह मदोन्मत्त बना हुआ है। यदि इसका अभी प्रतिकार नहीं किया जायेगा तो यह बहुत ज्यादा आतंक फैलायेगा। मेरे जैसे अनेक मुसाफिरों को कष्ट देगा।

मुझे ही इसका प्रतिकार करना होगा। परंतु मैं अकेला कुछ नहीं कर सकता। किसी राजा की सहायता लेनी होगी।' ऐसा विचार कर वह मालवदेश के राजा के पास गया। राजा को सारा वृत्तान्त निवेदन किया। राजा ने कहा : 'श्रेष्ठि, तुम अपने घर जाओ। उस नरवीर पल्लीपति को पराजित कर, तुम्हारा सारा धन तुम्हें लौटा दिया जायेगा। तुम निश्चिंत रहो।'

धनदत्त ने कहा : 'महाराज, मेरी संपत्ति चली गई, उसकी मुझे चिंता नहीं है। मैंने प्रतिज्ञा की है कि 'उस उन्मत्त पल्लीपति का पूरा सफाया करूँगा, उसका उन्मूलन करूँगा।' इसलिए मैं आपसे विनती करता हूँ कि आप अपना विशाल सैन्य मेरे साथ भेजें। बस, मैं उस दुष्ट से निपट लूँगा।'

मालवपति ने धनदत्त की बात सुनकर प्रसन्नता व्यक्त की। उसने धनदत्त को विशाल सेना दी। सेना लेकर धनदत्त उस जगह पहुँचा कि जहाँ नरवीर की पल्ली थी। जिस पहाड़ी पर पल्ली थी उस पहाड़ी को सैनिकों ने घेर लिया। नरवीर ने परिस्थिति की गंभीरता को परख लिया। हालाँकि वह पराक्रमी योद्धा था परंतु विशाल सेना के साथ लड़ना और जानबूझ कर मरना, उसको उचित नहीं लगा। परंतु उसके साथी डाकुओं ने जमकर सैनिकों का मुकाबला किया। धनदत्त पागल की तरह लड़ रहा था। बहुत से डाकू मारे गये। नरवीर को अपनी सगर्भा पत्नी की चिंता सता रही थी। वह गुप्त रास्ते से पहाड़ी उतर कर जंगल में अदृश्य हो गया, परंतु उसकी गर्भवती पत्नी धनदत्त के हाथ पकड़ा गई। धनदत्त पर क्रोध का राक्षस

हावी था। उस ने नरवीर की पत्नी का पेट चीर डाला... और गर्भ को पत्थर पर पछाड़ कर मार डाला। यह दृश्य सैनिकों ने देख लिया। धनदत्त के इस राक्षसी कृत्य पर सैनिकों ने थूक दिया। धनदत्त ने संपूर्ण पल्ली को जला दिया।

धनदत्त के मन को शान्ति हुई। वह सेना के साथ वापस मालवपति के पास आया। मालवपति को धनदत्त की क्रूरतापूर्ण हिंसा की बात मालूम हो गई थी। नरवीर की पत्नी की और उसके गर्भ की किस प्रकार घोर हत्या उसने की थी, राजा को मालूम हो गया था। जैसे ही धनदत्त राजा के सामने उपस्थित हुआ, राजा ने उसका घोर तिरस्कार करते हुए कहा :

'रे नीच वणिक, तू भले ही उच्च जाति में पैदा हुआ हो, तेरे कर्म एक शूद्र को भी शरमाये वैसे अधम हैं। तू कितना निर्दय है? तूने स्त्रीहत्या तो की, साथ में भ्रूणहत्या भी की? एक चंडाल भी ऐसा नीच कृत्य नहीं करता है। तू मेरे सामने से दूर हो जा। तेरा काला मुंह मैं देखना नहीं चाहता।'

राजा ने धनदत्त की संपत्ति छीन ली और उसको देशनिकाला दे दिया। धनदत्त मालवदेश छोड़कर जंगल में चला गया। उसको अपने किये हुए पाप का घोर पश्चाताप भी हुआ। उसने तपश्चर्या करते हुए अपना शेष जीवन पूर्ण किया।

नरवीर को सद्गुरु की प्राप्ति :

नरवीर भागता हुआ... भटकता हुआ... जंगल में एक वृक्ष के तले बैठा था। खून से सनी हुई तलवार उसके पास पड़ी थी। उसके कपड़े भी खून से लथपथ थे। वह सर्वहारा बन... निराशा में डूबा हुआ था। मन में धनदत्त के प्रति घोर आक्रोश था। साथियों की और पत्नी की मृत्यु से वह अत्यंत व्यथित था। भूख और प्यास भी उसको सता रही थी।

वहाँ उसने कुछ साधुपुरुषों को आते हुए देखे। आचार्य श्री यशोभद्रसूरिजी अपने शिष्यपरिवार के साथ वहाँ से गुजर रहे थे। ज्यों ही आचार्य पास आये, नरवीर ने खड़े होकर आचार्य को प्रणाम किया। आचार्य ने नरवीर को 'धर्मलाभ' का आशीर्वाद दिया। नरवीर की दीन-हीन अवस्था देखी। आचार्यदेव करुणावंत थे। उन्होंने नरवीर को पूछा : 'महानुभाव, तेरी ऐसी अवस्था देखकर मुझे लगता है कि तू बहुत दुःखी है। तेरी ऐसी अवदशा कैसे हुई?'

आचार्यदेव के पास अन्य साधु भी आकर खड़े हो गये थे। कुछ गृहस्थ भी जो साथ चल रहे थे, वे भी वहाँ आकर खड़े हो गये थे। नरवीर का दिल खुल गया मुनिराज के सामने। उसने अपने जीवन के सभी कुकर्म सुना दिये आचार्यदेव को।

अपने साथी और अपनी पत्नी की हत्या का वृत्तान्त कहते-कहते नरवीर की आँखें आँसूओं से भर गई। आचार्यदेव ने वात्सल्यपूर्ण हृदय से कहा :

गुरुदेव की धर्मदेशना :

'महानुभाव, तू एक पल्लिपति था, यानी छोटा राजा था। तेरे पास विपुल संपत्ति थी, फिर भी लोभवश होकर तूने मुसाफिरों को लूटने का पापकार्य किया...। अच्छा नहीं किया। एक निर्धन मनुष्य भी जो कार्य नहीं करता है, वैसा पापकार्य तूने धनवान होकर किया...। परिणामतः तेरा घोर पराभव हुआ... तेरा सब कुछ नष्ट हो गया...। महानुभाव, याद रखना कि लुटेरे को स्थानभ्रष्ट होना पड़ता है। उसके कुल का नाश होता है और उसका वैभव चला जाता है।

बुद्धिमान मनुष्य को ऐसा कार्य नहीं करना चाहिये। जीवनपर्यंत भले ही निर्धनता का दुःख सहना पड़े, परंतु चोरी या लूट करना सर्वथा अनुचित है। दुर्जन ही चोरी या लूट का पाप करता है। इसलिये तू यह पापकर्म छोड़ दे और प्रशस्त कार्य कर!

पापों से दुःख मिलता है, धर्म से सुख मिलता है, इसलिये पापों का त्याग कर, धर्म का आदर करना चाहिये। इस मनुष्यजीवन को व्यर्थ नहीं गंवाना चाहिये।'

बहुत थोड़े शब्दों में, सरल भाषा में... और मधुर ध्वनि में आचार्यदेव ने धर्मोपदेश दिया। जगह जंगल की थी, समय अल्प था, विहार कर गाँव में पहुँचना था... और सामने एक डाकू था! आचार्यदेव गीतार्थ ज्ञानी पुरुष थे। देशज्ञ और कालज्ञ महापुरुष थे। उन्होंने वहाँ संक्षिप्त उपदेश ही दिया।

साथ में जो मुसाफिर थे, उनको आचार्यदेव ने इशारा किया। एक मुसाफिर ने नरवीर को भोजन दिया, पानी दिया और आगे चल दिया। आचार्यदेव ने नरवीर को कहा : 'महानुभाव, तू यहाँ से 'एकशिला' नगरी में जाना। वहाँ 'आढ़र श्रेष्ठि' रहता है, वह तुझे सहारा देगा।' नरवीर ने आचार्यदेव को पुनः नतमस्तक हो वंदन किया।

आचार्यदेव अपने मुनिपरिवार के साथ वहाँ से चल दिये। नरवीर जाते हुए आचार्यदेव को भक्तिभाव से निहारता रहा। उसके मन में आचार्यदेव के प्रति प्रीतिभाव जगा और उनके वचनों पर श्रद्धा हुई। यह कैसे हुआ?

आचार्यदेव के उपदेश से नरवीर का मिथ्यात्व दूर हुआ और उसके तीव्र [अनन्तानुबंधी] कषाय शान्त हुए। मिथ्यात्व और कषाय ये दो बड़े पाप हैं। जब तक ये दो पाप नहीं जाते हैं, तब तक मनुष्य की मोक्ष यात्रा प्रारंभ नहीं होती है।

तब तक मनुष्य की ज्ञानदृष्टि नहीं खुलती है और मनुष्य अन्तर्मुख भी नहीं बन पाता है।

मिथ्यात्व की प्रतिक्रिया :

जीवात्मा में रहा हुआ 'मिथ्यात्व' एक अशुभ भाव है। इस अशुभ भाव के साथ अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ जुड़े हुए होते हैं। ये साथ रहते हैं और साथ ही जाते हैं। ये अशुभ भाव जब तक जीवात्मा में रहते हैं तब तक-

१. जीव शान्ति का अनुभव नहीं कर सकता है,
२. मोक्ष पाने की इच्छा पैदा नहीं होती है,
३. संसार के प्रति वैराग्य जाग्रत नहीं होता है,
४. दुःखी जीवों के प्रति अनुकंपा का भाव पैदा नहीं होता है और
५. धर्म का, गुरु का एवं परमात्मा का वास्तविक स्वरूप वह जान नहीं सकता है एवं मान नहीं सकता है। जो धर्म नहीं होता, उसको वह धर्म मानता है, जो गुरु नहीं होते, उनको गुरु मानता है और जो परमात्मस्वरूप नहीं होता, उसको परमात्मा मानता है। यानी देव-गुरु और धर्म के विषय में वह भ्रमित रहता है।

मिथ्यात्व के साथ अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ रहने से मिथ्यात्व के भाव को तीव्रता प्राप्त होती है।

सभा में से : 'अनन्तानुबंधी' का अर्थ क्या होता है?

महाराजश्री : अन्तहीन अनुबंध वाले क्रोधादि। कई वर्ष बीत जायें तो भी जिसका क्रोध... वैरभाव शान्त नहीं होता है, कई वर्ष व्यतीत होने पर भी जिसका मान... अभिमान दूर नहीं होता है, कई वर्ष बीत जायें तो भी जिसका माया-कपट दूर नहीं होता है और कई वर्ष बीत जाने पर भी जिसका लोभ कम नहीं होता है... उसको अनन्तानुबंधी कषाय कहते हैं।

ऐसे कषाय जिस जीवात्मा में पड़े हों, वह शान्ति का अनुभव कैसे कर सकता है? क्रोध, मान, माया और लोभ, अशान्ति ही पैदा करने वाले तत्त्व हैं। क्या क्रोधी व्यक्ति शान्ति पा सकता है? क्या अभिमानी मनुष्य प्रशमरस का पान कर सकता है? क्या मायावी मनुष्य कभी भीतर की प्रसन्नता का अनुभव कर सकता है? क्या लोभी मनुष्य कभी शान्ति की नींद ले सकता है? और, ये तो अनन्तानुबंधी के क्रोधादि! कितने तीव्र और कितने खतरनाक?

वैसे मिथ्यात्व का दुर्भाव, मोक्ष को समझने नहीं देता है। मोक्ष का जो वास्तविक स्वरूप है-**'कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः'** सभी कर्मों से आत्मा की मुक्ति - यह

समझने नहीं देता है। अनुराग तो होगा ही कहाँ से? 'मुझे मुक्ति पानी है'-प्रायः तो ऐसा विचार ही नहीं आने देता है। कभी विचार आ जाय, तो भी वास्तविक मुक्तिबोध नहीं होने देता है।

हाँ, मिथ्यात्वी को वैराग्य हो सकता है, परंतु वह वैराग्य या तो दुःखजनित होता है अथवा मोहजनित। ज्ञानजनित वैराग्य प्रायः उसे नहीं होता है। कषायों की प्रबलता कम होने पर, मिथ्यात्व की उपस्थिति में भी वैराग्य पैदा हो सकता है, फिर भी वह वैराग्य शायद ही वीतरागता के पास ले जाय! मंद कषाय तीव्र होने पर वैराग्य के भाव को नष्टभ्रष्ट कर देते हैं। हमें तो ऐसा वैराग्य इष्ट है कि जो वैराग्य हमें वीतराग तक पहुँचा दे!

मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी कषायों की उपस्थिति में जीवात्मा में अनुकंपा-वृत्ति जाग्रत नहीं हो पाती है। जब कषायों की मंदता हो तब दया-करुणा दिखाई देती है, परंतु वह दया-करुणा बड़े जीवों के विषय तक ही सीमित रहती है। स्थावर जीवों की तो उनको पहचान ही नहीं होती! फिर वे कैसे उन जीवों के प्रति दयावान् बन पायेंगे? त्रस जीवों के प्रति भी उनकी दया बहुत सीमित होती है। अज्ञानतावश वे जीवहिंसा में धर्म मानते हैं! धर्म के नाम पर वे हिंसा करते हैं!

इस अपेक्षा से मिथ्यात्व को बड़ा पाप कहा गया है। अनन्तानुबंधी कषायों को भी बड़ा पाप कहा गया है। सद्गुरु के निमित्त से यह पाप दूर हो सकता है। कभी निमित्त के बिना स्वाभाविकता से भी यह पाप दूर होता है। परंतु राजमार्ग है निमित्त का!

नरवीर को सद्गुरु का निमित्त मिल गया। उसका मिथ्यात्व का पाप दूर हो गया।

सभा में से : अच्छा निमित्त पुण्यकर्म से प्राप्त होता है न?

महाराजश्री : हाँ, पुण्यकर्म का उदय होता है, तब अच्छा निमित्त मिलता है और पापकर्म का उदय होता है, तब बुरा निमित्त मिलता है।

नरवीर एकशिला नगरी में :

नरवीर एकशिला नगरी में पहुँच गया। उसके मन में अब शान्ति थी। उसके मन में श्रद्धा का दिया जल उठा था। वह आढ़र श्रेष्ठि की हवेली के विशाल परिसर में पहुँचा। वहाँ उसने अनेक मुसाफिरों को एवं गरीबों को भोजन करते देखा। हालाँकि वह भी भूखा तो था ही, परंतु वह भोजन करने नहीं बैठा। वह खड़ा रहा एक तरफ। सेठ आढ़र ने नरवीर को देखा। नरवीर ने भी आढ़र सेठ को देखा। सेठ

ने इशारे से नरवीर को अपने पास बुलाया।

'तू मुसाफिर है, दूर से आया लगता है, भोजन कर ले।' सेठ ने नरवीर को कहा।

'सेठ, मैं मुफ्त में भोजन करना नहीं चाहता। मुझे पहले कोई कार्य बताइये, बाद में भोजन करूँगा।' नरवीर ने नम्रता से और विनय से बात की। आढ़र सेठ को नरवीर में विशेषता दिखायी दी। आज दिन तक आढ़र सेठ के सदाव्रत में हजारों लोग भोजन कर गये थे, परंतु नरवीर एक पहला ही व्यक्ति था, जो मुफ्त भोजन करना नहीं चाहता था। सेठ ने कहा : 'भैय्या, पहले तू भोजन कर ले, बाद में तुझे काम दूँगा।'

नरवीर ने भोजन कर लिया और आढ़र श्रेष्ठि ने उसको अपने घर नौकरी में रख लिया। नरवीर सत्त्वशील और पराक्रमी पुरुष तो था ही। उस में वफादारी का भी विशिष्ट गुण था। नौकरी में वफादारी का गुण अनिवार्य रूप से अपेक्षित होता है। और यह गुण जिसमें होता है, वह सेठ का विश्वासपात्र बन जाता है, स्नेहपात्र बन जाता है।

उन्नति का मूल गुण : वफादारी :

आढ़र श्रेष्ठि की पैनी दृष्टि में नरवीर खरा उतरा। श्रेष्ठि के घर में चार-चार जवान पुत्रवधुयें थी। नरवीर घर में ही रहता था, परंतु उसने कभी भी आँख उठाकर पुत्रवधुओं के सामने नहीं देखा, न अनावश्यक बातें की किसी भी औरत के साथ। आढ़र श्रेष्ठि ने नरवीर की सच्चरित्रता देखी। सेठ का उसके प्रति प्रेम बढ़ गया।

बहुत बड़ी बात है यह। ज्यादातर तो ऐसा देखने में आता है कि जिसके घर में नौकर पलता है, रहता है, उस घर की ही बहन-बहुओं के साथ दुराचार-व्यभिचार करने में हिचकिचाता नहीं है। पहले अच्छे कार्य करके सेठ-सेठानी का विश्वास संपादन कर लेता है, बाद में विश्वासघात! विश्वासघात कितना बड़ा पाप है-यह बात वह विषयलोलुप मनुष्य कैसे समझेगा? विषयलोलुपता ही मनुष्य को विश्वासघाती बनाती है।

दूसरी बात है रुपये की, धन-दौलत की। आढ़र श्रेष्ठि की हवेली में अपार धन-दौलत थी। सेठ ने नरवीर की प्रामाणिकता को अनेक बार देखी। चूँकि नरवीर ने आढ़र श्रेष्ठि की संपत्ति से भी ज्यादा संपत्ति देखी थी! वह पल्लीपति था न? इसलिए उसके मन में धनसंपत्ति का तनिक भी मोह नहीं रहा था।

धन संपत्ति का मोह मनुष्य को अप्रामाणिक बनाता है। चोरी भी करवाता है। धन-संपत्ति का मोह, प्रगाढ़ मोह मनुष्य को विश्वासघाती बनाता है। यह दुर्गुण मनुष्य की उन्नति में अवरोधक बनता है। इस दुर्गुण से 'अन्तरायकर्म' का बंधन होता है। जब यह कर्म उदय में आता है, तब निर्धनता की, दरिद्रता की भेंट देता है। इसलिये कहता हूँ कि प्रामाणिक बन कर, वफादारी को निभाते हुए जीओ। प्रामाणिकता से और वफादारी से आपकी उन्नति होगी। नरवीर की उन्नति के पीछे उसके ये दो प्रधान गुण थे।

यशोभद्रसूरिजी एकशिला नगरी में :

और, जैसे कि नरवीर के भाग्योदय से ही आचार्यदेव यशोभद्रसूरिजी एकशिला नगरी में पधार गये। नरवीर ने, रास्ते पर से गुजरते हुए आचार्यदेव को देखा। उसकी आँखें आनन्दित हो गई। वह सोचता है-'ये वे ही मुनिराज हैं... जो मुझे जंगल में मिले थे। मुझे उन्होंने भोजन दिलवाया था... और इस नगरी में आने की प्रेरणा दी थी। मुझ पर कितना महान् उपकार किया है इन महापुरुष ने? मैं उनके पास जाऊँगा और उनकी सेवा करूँगा।'

यह था नरवीर का दूसरा विशिष्ट गुण-कृतज्ञता। उपकारी के उपकारों को याद रखना, यह विशिष्ट गुण है। यह गुण सभी जीवों में नहीं होता है, बहुत कम जीवों में होता है। जिनकी उन्नति हो रही है, जिनका आत्मविकास हो रहा है, उनमें ही यह गुण होता है। नरवीर भविष्य के राजा कुमारपाल की आत्मा है न! नरवीर आचार्यदेव की सेवा करने का विचार करता है।

'मैं घर का काम पूरा कर, जहां गुरुदेव बिराजते होंगे वहाँ चला जाऊँगा और उनकी सेवा करूँगा।' नरवीर ने आचार्यदेव जिस जगह बिराजते थे वह जगह देख ली। घर का काम पूरा कर वह वहाँ जाने लगा और आचार्यदेव की सेवा करने लगा। आचार्यदेव ने नरवीर के जीवन-परिवर्तन से बहुत संतोष अनुभव किया। वास्तव में नरवीर का जीवन-परिवर्तन अद्भुत था। वह कितना शान्त, संतोषी और गुणवान् बन गया था! एक समय का खूंखार डाकू... आज कितना प्रशान्त होकर गुरुसेवा कर रहा था! आप कल्पना करेंगे तो ही जीवन-परिवर्तन की महत्ता ख्याल में आयेगी।

जब दिन में ज्यादा समय नरवीर घर से बाहर रहने लगा तो एक दिन आढ़र श्रेष्ठि ने पूछा : 'नरवीर, तू भोजन के बाद दोपहर में कहाँ जाता है?'

'सेठजी, अपनी नगरी में मेरे गुरु पधारे हुए हैं। उनका नाम है यशोभद्रसूरिजी।

मैं उनके पास जाता हूँ। उनके वचनामृतों का पान करना मुझे बहुत अच्छा लगता है।'

नरवीर की बात सुनकर आढ़र श्रेष्ठि सोचने लगे : 'मैं भी क्यों न जाऊँ ऐसे संतपुरुष के पास? संतपुरुषों का धर्मोपदे¡;श मनुष्य को शान्ति देता है। और **'साधुनां दर्शनं पुण्यम्'** साधुपुरुषों के दर्शन मात्र से मनुष्य के पाप धुल जाते हैं... पुण्यकर्म प्राप्त होता है...। मैं जाऊँगा यशोभद्रसूरि के पास...।'

विवेकी मनुष्य को कल्याणमार्ग की प्राप्ति सुलभ होती है। आढ़र श्रेष्ठि विवेकी था। सत्समागम की महिमा उसके हृदय में थी। इसलिए उसने नरवीर को उपालंभ नहीं दिया कि 'तू क्यों साधुओं के पास जाता है? क्या मिलता है वहाँ? घर का काम किया कर... जाना हो तो सप्ताह में एकाध दफे जाना... रोज-रोज नहीं जाना...' वगैरह। नहीं, ऐसी कोई बात आढ़र सेठ ने नहीं की। विवेकी था न! विवेकी मनुष्य हर बात में से अच्छाई ग्रहण करता है। उपयोगी बात ग्रहण करता है। आढ़र सेठ ने नरवीर को कहा : 'नरवीर, कल प्रातः मैं भी तेरे साथ गुरुदेव का दर्शन करने चलूँगा।' नरवीर आनन्दित हो गया।

'सेठजी, आप अवश्य चलना। मेरे वे गुरुदेव चंद्र जैसे शीतल हैं और सूर्य जैसे तेजस्वी हैं। वे ज्ञानी हैं। उनकी वाणी शक्कर से भी ज्यादा मीठी है। उनका उपदेश सुनकर आपका हृदय आनंद से भर जायेगा।' नरवीर अपने गुरु की प्रशंसा करते-करते गद्गद हो गया। उसकी आँखें भर आयीं।

आढ़र श्रेष्ठि नरवीर की गुरुप्रीति देखकर हर्षविभोर हो गये। उनका मन बोल उठा-'सच्ची शान्ति ऐसे साधुपुरुषों के संग ही प्राप्त होती है। आधि-व्याधि और उपाधि से भरे हुए इस संसार में अन्यत्र कहाँ शान्ति है? नरवीर, तू धन्य है, तू पुण्यशाली है... तुझे शान्तिदाता सद्गुरु मिल गये!'

आढ़र श्रेष्ठि दूसरे दिन प्रातःकाल ही नरवीर को लेकर गुरुदेव के पास पहुँच गये। गुरुदेव के दर्शन करके वे भावविभोर हो गये। नरवीर ने गुरुदेव का जो वर्णन किया था, वह वर्णन उन्हें अधूरा लगा। गुरुदेव की अद्भुत प्रतिभा से आढ़र श्रेष्ठि बहुत प्रभावित हो गये। उन्होंने साष्टांग प्रणाम किया और विनयपूर्वक वे गुरुदेव के सामने बैठ गये।

गुरुदेव ने दोनों को 'धर्मलाभ' का आशीर्वाद दिया और उनको धर्मोपदेश दिया। आचार्यदेव ने आढ़र श्रेष्ठि को अपनी ज्ञानदृष्टि से देखा। उनका भविष्य देखा। उनकी अन्तरात्मा पुलकित हो गई। उन्होंने आढ़र को लक्ष्य बना कर धर्मोपदेश दिया। आढ़र को धर्मोपदेश अमृत समान लगा।

धर्मोपदेश पूर्ण होने पर आढ़र ने कहा : 'गुरुदेव, हम प्रतिदिन प्रातःकाल धर्मोपदेश सुनने आपकी सेवा में आया करेंगे। आज आपकी अमृतमयी वाणी सुनकर मुझे अत्यंत हर्ष हुआ है। आपने मुझ पर परम कृपा की है। परम उपकार किया है।'

'वत्स, तुम्हारा शुभोदय है कि तुम्हें जिनधर्म का उपदेश प्रिय लगा। इस मनुष्य जीवन में धर्मपुरुषार्थ को ही प्रधानता देनी चाहिये। ताकि वर्तमान जीवन और भविष्यकालीन जीवन सुखमय बने।'

आढ़र और नरवीर ने गुरुदेव के चरणों में वंदना की और घर लौट आये।

धर्मोपदेश-श्रवण का पहला प्रतिभाव है, विगतकल्मषता। यानी पापमुक्ति। आढ़र श्रेष्ठि की भी मिथ्यात्व के पाप से एवं अनन्तानुबंधी कषायों के पाप से कैसे मुक्ति होती है, और दूसरे क्या प्रतिभाव इन दोनों पुण्यशाली जीवात्माओं में दिखायी देते हैं - यह आगे बताऊँगा।

आज बस, इतना ही-

सद्धर्मश्रवणादेव नरो विगतकल्मषः ।
ज्ञाततत्त्वो महासत्त्वः परंसंवेगमागतः ।।
धर्मोपादेयतां ज्ञात्वा संजातेच्छोऽत्र भावतः ।
दृढ़ं स्वशक्तिमालोच्य ग्रहणे संप्रवर्तते ।।

महान् श्रुतधर परम कृपानिधि आचार्य श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी ने स्वरचित 'धर्मबिन्दु' ग्रंथ के तीसरे अध्याय में गृहस्थजीवन का विशेष धर्म बताया है।

सामान्य धर्मों का यथोचित पालन करता हुआ मनुष्य, सद्गुरु का जब परिचय पाता है और उनसे सद्धर्म का उपदेश सुनता है, तब उसका मिथ्यात्व दूर होता है और क्रोधादि कषायों की तीव्रता घटती है।

मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी कषाय मनुष्य को तत्त्वबोध प्राप्त नहीं होने देते हैं। सर्वज्ञभाषित तत्त्वों का बोध नहीं होने देते हैं। तत्त्वबोध में अवरोधक हैं ये दो पाप। सद्धर्म का उपदेश, इन पापों को नष्ट कर सकता है। हाँ, कर सकता है, करता ही है-ऐसा नियम नहीं है। ऐसे भी जीव होते हैं दुनिया में कि तीर्थंकर के मुँह से उपदेश सुनते रहते हैं, फिर भी उनका मिथ्यात्व यथावत् बना रहता है और अनन्तानुबंधी कषाय यथावत् बने रहते हैं।

उपदेश का प्रभाव सापेक्ष होता है। जीवों की योग्यता अपेक्षित रहती है। योग्यता चाहिये सरलता की। यदि मनुष्य में कुटिलता नहीं है, वक्रता नहीं है और उसको सद्गुरु का संयोग मिल जाता है, तो उसकी उन्नति होने में देर नहीं लगती है। उस पर धर्मोपदेश का प्रभाव पड़ता ही है। आढ़र श्रेष्ठि और नरवीर, दोनों सरल प्रकृति के जीव थे। उनके हृदय में नहीं थी कपट, नहीं था दंभ। वे आचार्य श्री यशोभद्रसूरिजी के पास प्रतिदिन जाते हैं, धर्मोपदेश सुनते हैं और गुरुदेव की पर्युपासना करते हैं। उनका मिथ्यात्व दूर होता है। उनके कषायों की अनन्तानुबंधिता दूर होती है।

आढ़र और नरवीर ने वास्तविक परमात्मस्वरूप को समझा। सम्यग् गुरुतत्त्व को पहचाना और सद्धर्म का बोध प्राप्त किया। उनकी आत्मा में तत्वबोध का प्रकाश हुआ। आचार्यदेव ने उनको जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर,

बंध, निर्जरा और मोक्ष-तत्त्वों का स्वरूप समझाया। दोनों ने नौ तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त किया। उनके हृदय में परमात्मा जिनेश्वरदेव के धर्मशासन पर अनुराग बढ़ता चला।

ज्यों-ज्यों पाप और पुण्य का विवेक विकसित होता गया त्यों-त्यों संसार के भौतिक सुखों की ममता-आसक्ति कम होती चली। हालाँकि मोक्ष की स्पष्ट कल्पना आना तो मुमकिन नहीं था, परंतु फिर भी मोक्ष की, मुक्ति की बातें उन दोनों को अच्छी लगने लगी। आत्मा के शुद्ध स्वरूप की बातें प्रिय लगने लगी।

उन दोनों को धर्म उपादेय लगने लगा। यानी जीवन में धर्म की आवश्यकता महसूस करने लगे।

सभा में से : क्या नरवीर के जीवन में इतना परिवर्तन संभव है? डाकू जीवन का कोई व्यसन उस में नहीं रहा होगा?

महाराजश्री : हाँ, परिवर्तन 'सत्त्व' पर निर्भर होता है। सात्त्विक मनुष्य डाकू से साधु बन सकता है। ऐसे अनेक उदाहरण इतिहास में मिलते हैं। अर्जुनमाली और दृढ़प्रहारी के दृष्टांत शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं। वाल्मिकी की कहानी आप लोग जानते हो। वर्तमानकाल में भी मैंने ऐसे व्यक्ति देखे हैं... कि जिन्होंने सभी व्यसनों का एक साथ त्याग कर संयममय जीवन बनाया है। मनुष्य में सात्त्विकता होनी चाहिये। नरवीर सात्त्विक पुरुष था। और, उसको सहयोग आढ़र जैसे शिष्ट पुरुष का मिल गया। आढ़र के घर में कोई व्यसन नहीं था। सभी सच्चरित्री लोग थे। इसलिए नरवीर को वातावरण अच्छा मिल गया। मनुष्य के चरित्रनिर्माण में वातावरण की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। यदि अच्छा वातावरण मिलता है, तो अच्छे चरित्र का निर्माण होता है, यदि बुरा वातावरण मिलता है, तो बुरे चरित्र का निर्माण होता है। यदि स्वयं का और परिवार का अच्छा चरित्रनिर्माण चाहते हो, तो अच्छे वातावरण में रहो।

नरवीर का भाग्योदय होना था न? आढ़र श्रेष्ठि के परिवार में रहने को मिला और गुरुदेव यशोभद्रसूरीश्वरजी का समागम प्राप्त हुआ। उसका भीतरी व्यक्तित्व उभरने लगा। धर्मतत्त्व का उसे बोध प्राप्त होने लगा। ज्यों-ज्यों वह अहिंसा, सत्य, अचौर्य, सदाचार, अपरिग्रह आदि धर्मतत्त्वों को समझता गया, त्यों-त्यों वे तत्त्व उसके मन को प्रिय लगने लगे। वह सोचने लगा-'वास्तव में धर्म ही मित्र है और धर्म ही स्नेही है। मृत्यु के बाद आत्मा के साथ एक मात्र धर्म चलता है, शेष सबकुछ शरीर के साथ नष्ट हो जाता है। इसलिए मुझे धर्म से संबंध जोड़ना चाहिये। गुरुदेव

ने बारह व्रतमय श्रावक धर्म बताया है... मुझे वह ग्रहण करना चाहिये। परंतु क्या मैं उस श्रावकधर्म का समुचित पालन कर सकूँगा? मुझे आढ़र श्रेष्ठि के साथ परामर्श करना चाहिये। चूँकि वे भी श्रावकधर्म स्वीकार करने की बात करते थे।'

जब आढ़र श्रेष्ठि और नरवीर ने गुरुदेव के सामने बारह व्रतमय श्रावकधर्म अंगीकार करने की भावना व्यक्त की, तब गुरुदेव ने कहा-'महानुभावों, तुमने धर्म की उपादेयता समझ कर व्रतमय श्रावकधर्म स्वीकार करने की भावना व्यक्त की, इससे मुझे बहुत संतोष हुआ है, परंतु तुम अपनी शक्ति और सामर्थ्य का विचार कर लो। तुम व्रतों का आजीवन पालन कर सकोगे या नहीं? भावोल्लास में व्रत ग्रहण करना सरल होता है, परंतु पालन करना दुष्कर है।'

नरवीर ने पूछा-'ऐसा क्यों होता है गुरुदेव?'

आचार्यदेव ने कहा : 'महानुभाव, मन के भाव स्थिर नहीं होते हैं। अभी तेरा मन व्रतधर्म को स्वीकार करने के लिये उल्लसित है। परंतु यह उल्लास जीवनपर्यंत नहीं टिक सकता। जब उल्लास चला जायेगा तब व्रत का पालन करना दुष्कर बन जायेगा। कभी व्रत को भंग करने का विचार भी आ सकता है। हाँ, मन का उल्लास चले जाने पर भी यदि मन की दृढ़ता होती है, तो प्राण जाने पर भी व्रतभंग नहीं होता है।

इसलिए, तुम दोनों अति सूक्ष्म बुद्धि से सोच लो। अपनी-अपनी मानसिक शक्ति के विषय में सोच लो। सोचे बिना, शक्ति के बिना व्रत ग्रहण करने पर भंग होने की संभावना रहती है। इससे बहुत बड़ा अनर्थ होता है, नुकसान होता है। जिस प्रकार व्रतपालन महान् फल देनेवाला होता है, वैसे व्रतभंग बहुत नुकसान करनेवाला होता है।'

आचार्यदेव की बात, दोनों महानुभावों को गंभीरता से सोचने के लिये बाध्य करती है। यह बात हम लोगों को यानी उपदेशकों को भी सोचने के लिये विवश करती है।

सभा में से : आप को क्या सोचने का है?

महाराजश्री : हम लोगों को यह सोचने का है कि व्रत लेनेवाला, प्रतिज्ञा... अभिग्रह लेनेवाला, व्रत... प्रतिज्ञा... अभिग्रह ग्रहण कर उसका पालन कर सकेगा या नहीं? व्रत लेने की इच्छावालों को सोचने के लिये, विचार करने के लिये प्रेरित करने चाहिये कि 'तुम सोच लो गंभीरता से कि तुम व्रतों का पालन कर सकोगे या नहीं।' कोई-कोई धर्मगुरु तो व्रत ग्रहण करने वालों को योग्यता-अयोग्यता सोचते

ही नहीं! उनकी भावना है या नहीं व्रत लेने की, यह भी नहीं सोचते... और व्रत दे देते हैं। नियम... प्रतिज्ञा दे देते हैं। और ऐसे कई लोगों को व्रतभंग करते हुए मैंने देखा है। पूछने पर उन्होंने कहा-'क्या करें महाराज साहब, उन महाराज साहब ने मेरे ऊपर बहुत दबाव डाला 'यह प्रतिज्ञा तो तुझे लेनी ही पड़ेगी...' 'तू यह प्रतिज्ञा नहीं लेगा तो मैं तेरे घर से भिक्षा नहीं लूँगा...।' वगैरह कहकर मुझे जबरन प्रतिज्ञा दे दी। मैं उस प्रतिज्ञा का पालन नहीं कर सका, प्रतिज्ञाभंग हो गया...।' इसमें प्रतिज्ञा लेने वाला जितना दोषित नहीं है, उतना प्रतिज्ञा देने वाला दोषित है। व्रत, नियम और प्रतिज्ञा देने का काम गीतार्थ साधुपुरुषों का होता है। व्रत देते समय, व्रत लेनेवाले के पारिवारिक संयोग, उसका मनोबल, उसका व्यवसाय वगैरह बहुत सी बातें ध्यान में लेने की होती है।

व्रत लेनेवालों को बहुत गंभीरता से सोचने के लिये ग्रंथकार आचार्यदेव अनुरोध करते हैं। **'दृढ़ं स्वशक्तिमालोच्य'** कहा है उन्होंने। व्रत लेनेवालों को अपनी शक्ति की आलोचना सूक्ष्मता से करनी चाहिए। 'दृढ़ं' का अर्थ टीकाकार आचार्यश्री ने **'अतिसूक्ष्माभोगेन'** किया है। स्वशक्ति की आलोचना अति सूक्ष्म आभोग से करने को कहा है। 'आभोग' यानी उपयोग। मन के प्रति अति सूक्ष्म उपयोग से देखना है। अपने मन को ऊपर-ऊपर से नहीं देखना है। मन की गतिविधियाँ अति सूक्ष्मता से देखनी चाहिये। व्रतों का पालन करने की योग्यता अपने मन में है या नहीं, उस बात का निर्णय करना चाहिये। यदि व्रतपालन करने की क्षमता-दृढ़ता हो मन में तो ही व्रत ग्रहण करना चाहिये, अन्यथा नहीं। चूँकि स्वशक्ति की आलोचना किये बिना व्रत लेने पर व्रतभंग होने की पूरी संभावना रहती है। व्रतभंग से अनर्थ होता है, बहुत बड़ा अहित होता है।

इस दृष्टि से आचार्यदेव ने आढ़र श्रेष्ठि को और नरवीर को व्रतों को स्वीकार करने से पूर्व गंभीरता से सोचने के लिये कहा था। व्रतों का स्वरुप समझाया, व्रतों का रहस्य समझाया, व्रत ग्रहण करने की विधि भी समझाई...। व्रत-स्वीकार करने के भाव भी दोनों के हृदय में पैदा कर दिये, परंतु ज्यों ही वे दोनों व्रत ग्रहण करने के लिए तत्पर हुए कि दोनों को अपनी-अपनी शक्ति का पर्यालोचन करने के लिए प्रेरित किया। 'अपनी शक्ति का विचार कर लो गंभीरता से-मैं व्रतों का पालन कर सकूँगा क्या?'

प्रायः ऐसा देखने में आता है कि जो व्रत मनुष्य लेता है, उस व्रत के भंग होने के संयोग कभी न कभी आ जाते हैं! कसौटी का समय आ ही जाता है! उस

प्रतिकूल संयोग में व्रतपालन में दृढ़ रहना मुश्किल ही नहीं, अति मुश्किल होता है। इसलिये भविष्य में कैसे-कैसे संयोग आ सकते हैं व्रतभंग के, और उन संयोगों में व्रतपालन की दृढ़ता रहेगी या नहीं-वह सोचने का होता है। यदि लगे कि 'मैं कैसे भी संयोग में व्रतभंग नहीं होने दूँगा... प्राण जाय तो जाय लेकिन व्रत का भंग नहीं करूँगा...' तो व्रत स्वीकार करना चाहिये। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट करता हूँ।

मान लो कि मेरे उपदेश से आपके मन में भावना पैदा हुई कि 'जमीनकंद नहीं खाना है, जमीनकंद का त्याग करना है।' आप मेरे पास प्रतिज्ञा लेने आये। आपको उस समय सोचना चाहिये-

१. 'कोई शादी-विवाह में जाने पर, वहाँ आलू... प्याज वगैरह की सब्जी होगी तो सब्जी के बिना भोजन कर सकूँगा?'
२. 'कभी लंबी मुसाफरी में जमीनकंद की ही सब्जी मिलेगी, तो सब्जी के बिना मात्र दूध या दही के साथ रोटी-पूड़ी खा कर चला लूँगा न?'
३. 'कभी होटल में खाने का अवसर आया, और वहाँ जमीन-कंद वाली ही दाल-सब्जी है, तो क्या उसके बिना भोजन कर सकूँगा?'
४. 'मित्रों के साथ पार्टी में गये, यदि वहाँ जमीनकंद से बनी हुई वस्तु नहीं खाऊँगा तो दोस्त मेरी मजाक उड़ायेंगे... मुझे खाने के लिए आग्रह करेंगे... उस समय मैं मेरी प्रतिज्ञा में दृढ़ रह सकूँगा क्या?'

एक दूसरा उदाहरण सुन लो।

आप के मन में रात्रि भोजन का त्याग करने की इच्छा पैदा हुई। आपने प्रतिज्ञा लेने का विचार किया। आपको अति सूक्ष्मता से आपके मनोबल के विषय में सोचना चाहिए कि-

१. कोई शादी-विवाह के प्रसंगों में, कोई पार्टी वगैरह में भोजन का निमंत्रण आयेगा। भोजन प्रायः रात्रि में होगा, तो मैं स्पष्ट इन्कार कर सकूँगा क्या? 'मैं रात्रिभोजन नहीं करता हूँ' ऐसी स्पष्ट बात कर सकूँगा क्या?
२. कभी कार्यवश, सूर्यास्त के पूर्व घर नहीं पहुँच सका, सूर्यास्त हो गया, तो भोजन के बिना रह सकूँगा क्या?
३. मेरे सिवा घर में सभी लोग रात्रिभोजन करते हैं, उनको रोजाना रात्रिभोजन करते देख, मेरे मन में रात्रिभोजन करने की इच्छा पैदा नहीं होगी न?
४. कभी रात्रि के समय अति क्षुधा लगने पर, रात्रिभोजन करने के लिये तत्पर नहीं बनूँगा न? व्रतभंग नहीं होगा न?

५. मेरे रात्रिभोजन नहीं करने पर मेरे स्नेही, मेरे मित्र वगैरह नाराज होंगे, उस समय मैं उनकी नाराजगी सहन करुँगा न? अथवा उनको खुश करने के लिए प्रतिज्ञाभंग करुँगा?

इस प्रकार हर प्रतिज्ञा के विषय में सोचना चाहिये। ग्रंथकार का कहने का तात्पर्य यह है कि भावोल्लास में बहकर बिना सोचे प्रतिज्ञा नहीं लेनी चाहिये। प्रतिज्ञा लेने से पूर्व शान्त दिमाग से, स्वस्थ मन से सोचना चाहिये। यदि स्वयं मनुष्य गंभीरता से नहीं सोच सकता है, तो अपने बुद्धिमान मित्रों से परामर्श करना चाहिये कि जो मित्र व्रतधारी हों। जो मित्र व्रत-नियमों के प्रति आदरभाव रखनेवाले हों। ऐसे मित्र नहीं हों तो व्रत देनेवाले ज्ञानी गुरुदेव से परामर्श करना चाहिये।

नरवीर ने आढ़र श्रेष्ठि के साथ परामर्श किया। नरवीर के लिये वे ही श्रद्धेय थे और आधार थे। आढ़र श्रेष्ठि स्वयं भी व्रत ग्रहण करने की भावनावाले थे। अर्थात् आढ़र श्रेष्ठि व्रतचाहक थे। इसलिये वे नरवीर को यथोचित मार्गदर्शन दे सकते थे। नरवीर के मनोबल को दृढ़ कर सकते थे।

आढ़र श्रेष्ठि को यह तो मालूम ही था कि नरवीर सत्त्वशील पुरुष है। ग्रहण की हुई प्रतिज्ञा का प्राणान्त तक पालन कर सकता है। धर्म के लिये यह प्राण त्याग कर सकता है, परंतु प्राणों के लिये धर्म का त्याग नहीं करेगा। उन्होंने नरवीर को कहा : 'नरवीर, तू निर्भय और निश्चिंत बनकर व्रत ग्रहण करना। तू बारह व्रतों का पालन कर सकेगा। मैं तेरे साथ ही हूँ। मैं भी व्रत ग्रहण करुँगा। तुझे मेरे पास ही रहना है न। अपन साथ-साथ आनन्द से व्रतपालन करेंगे। अब तू नौकर और मैं सेठ-नहीं रहेंगे। अपना संबंध साधर्मिक का बनेगा। तू मेरा साधर्मिक बंधु बनेगा।

हाँ, एक बात है, जब कभी तेरा मन व्रतपालन में शिथिल बन जाय, ढीला पड़ जाय तब मुझे यह बात बता देना। और, मेरा मन कभी ढीला पड़ जायेगा तो मैं तुझे बता दूँगा। इससे अपन एक-दूसरे के सहायक बन जायेंगे। अपनी धर्म आराधना बहुत ही अच्छी होगी।'

नरवीर का हृदय हर्ष से गद्गद हो गया। उसकी आँखें हर्षाश्रु से भर आयीं। उसने आढ़र श्रेष्ठि के चरणों में प्रणाम किये और कहा : 'हे पूज्य, आप कहेंगे तब अपन गुरुदेव के पास जाकर व्रत अंगीकार करेंगे।'

धर्माराधना के मार्ग में यदि कोई साथी-संगाथी मिल जाता है, तो अपूर्व उत्साह से धर्माराधना संपन्न होती है। विवेकी और समझदार साथी होने से, मोक्षमार्ग की विकट अटवियों से मनुष्य सरलता से गुजर जाता है। यदि पुण्योदय

होता है तो ही विवेकी साथी मिलता है। नरवीर का पुण्योदय था तभी आढ़र श्रेष्ठि जैसे विवेक-संपन्न साथी मिल गये! दोनों में सरलता थी, निर्दंभता थी। दोनों में समझदारी थी और गुणसमृद्धि थी। इसलिये गुरुदेव के अल्प परिचय में ही उन्होंने व्रतमय गृहस्थधर्म समझ लिया और पा भी लिया। शुभ दिन और शुभ समय में गुरुदेव ने दोनों को बारह व्रत प्रदान किये। दोनों हर्षविभोर हो गये। आढ़र श्रेष्ठि ने वंदन कर गुरुदेव को कहा : 'गुरुदेव, आपने हम पर परम उपकार किया है, आप फरमाइये! मैं आपको क्या गुरुदक्षिणा दूँ?'

गुरुदेव ने कहा : 'महानुभाव, जैन श्रमण गुरुदक्षिणा ग्रहण नहीं करते हैं। वे तो निर्मम और निःसंग होते हैं। वे प्रत्युपकार की आशा रखे बिना धर्मोपदेश देते रहते हैं।'

'तो फिर मैं आपकी क्या भक्ति करूँ? मुझे कोई आज्ञा देकर अनुगृहित करें।' आढ़र श्रेष्ठि ने अति अहोभाव व्यक्त किया। गुरुदेव ने कहा : 'महानुभाव, एक भव्य जिनमंदिर का निर्माण कराकर पुण्यानुबंधी पुण्य का उपार्जन करो।'

आढ़र श्रेष्ठि ने गुरुदेव का उपदेश सहर्ष स्वीकार किया और जिनमंदिर के निर्माण का कार्य प्रारंभ कर दिया।

उधर, आचार्यदेव ने एकशिला नगरी से विहार करने की बात कर दी। चूँकि चातुर्मास काल [वर्षाकाल] नजदीक था। आढ़र श्रेष्ठि ने [साथ में नरवीर ने भी] गुरुदेव को एकशिला नगरी में ही वर्षाकाल व्यतीत करने का आग्रह किया। गरुदेव ने विनती स्वीकार करली। आढ़र और नरवीर के संवेग में अभिवृद्धि हुई। गुरुदेव की करुणा से दोनों अभिभूत हो गये।

आढ़र ने नरवीर को कहा : 'नरवीर, अपना महान् पुण्योदय है। गुरुदेव यहाँ वर्षाकाल व्यतीत करेंगे। अपन को निरंतर धर्मोपदेश का श्रवण मिलेगा। गुरुदेव ने अपनी आत्मा में जो धर्मबीज बोये हैं, वे धर्मबीज अंकुरित होंगे। व्रतपालन में हमें दृढ़ता प्राप्त होगी। महान् उपकार किया है, गुरुदेव ने हम पर। इस उपकार का बदला किस जनम में चुकायेंगे?' उन्होंने अपने दोनों जन्म सुधार दिये। यह जनम और आनेवाला जनम...।' बोलते-बोलते आढ़र का कंठ अवरुद्ध हो गया। नरवीर की आंखें भी गीली हो गई।

इस प्रकार दोनों का सम्यग्दर्शन निर्मल होता चला। गुरुश्रद्धा ने दोनों को परमात्मभक्त बनाये और धर्मचुस्त बनाये। दोनों प्रतिदिन परमात्मपूजा करते हैं, गुरुसेवा करते हैं, दुःखी जीवों की अनुकंपा करते हैं और औचित्यपूर्ण जीवनव्यवहार

करते हैं। फलस्वरूप दोनों महानुभाव नगर में जनप्रिय बने और श्रद्धेय बने।

ऐसे गीतार्थ ज्ञानी पुरुषों के चरणों में जीवन समर्पित कर, उनके मार्गदर्शन में जीवन जीने से अनेक लाभ प्राप्त होते हैं। इसलिए कहता हूँ कि ऐसे किसी महापुरुष के हाथों में आपके जीवन की बागडोर सौंप दो। उनका मार्गदर्शन ग्रहण कर पुरुषार्थमार्ग पर अग्रसर होते रहो। राजा कुमारपाल के जीवनचरित्र में आपको यही बात जानने को मिलेगी-गुरुसमर्पण!

गुरुसमर्पण का बीज है गुरुप्रीति। प्रारंभ होता है गुरुप्रीति से। जंगल में नरवीर को गुरुप्रीति हो गई थी। एकशिला नगरी में आने के बाद गुरुभक्ति जाग्रत हुई... गुरु की शरण ग्रहण की और गुरुसमर्पण कर दिया। वैसे आढ़र श्रेष्ठि के मन में भी गुरुप्रीति... भक्ति... शरणागति और समर्पणभाव जागृत हुआ, यह सब असाधारण था, अपूर्व था। इसलिये ये सारे संबंध दूसरे जन्मों तक चलते रहे। और प्रीतिभक्ति वगैरह भाव वृद्धिगत होते रहे, विकसित होते रहे। उनके जीवन पवित्र... पवित्रतम बनते गये।

मोक्षमार्ग का जीवन जीने के लिये ज्ञानी-संयमी महापुरुषों का मार्गदर्शन आवश्यक होता ही है। आढ़र और नरवीर को आचार्य श्री यशोभद्रसूरीश्वरजी का मार्गदर्शन मिलता रहा।

एक दिन, आढ़र श्रेष्ठि नरवीर के साथ परमात्मपूजा करने जिनमंदिर गये। आढ़र श्रेष्ठि पूजन के लिये पुष्प, फल, नैवेद्य आदि श्रेष्ठ सामग्री लाये थे। उल्लसित भाव से उन्होंने पूजा की। नरवीर भी उस सामग्री से पूजा कर सकता था, परंतु उसने सोचा-'यह पूजनसामग्री मेरे सेठ की है। मुझे मेरी सामग्री से पूजा करनी चाहिये। मेरे पास पाँच कौड़ी हैं... पाँच कौड़ी के पुष्प खरीद कर, उन पुष्पों से मैं परमात्मा की पूजा करूँ...।' ऐसा सोच कर, मंदिर के बाहर जाकर, माली से फूल खरीदे और उन फूलों से उसने परमात्मा की पूजा की। पुष्पपूजा करते हुए उसके हृदय में अपूर्व भक्तिभाव उभरा और उसने अद्भुत पुण्यानुबंधी पुण्य उपार्जन कर लिया। वह पुण्यानुबंधी पुण्य था आनेवाले जन्म में राजा बनने का! हालाँकि नरवीर नहीं जानता था कि उसने वैसा पुण्यकर्म बाँध लिया है। कर्मबन्ध के विषय में तो पूर्ण ज्ञानी ही बता सकते हैं। हमें तो निष्काम भावना से शुभ कार्य करते रहना है।

पर्युषण पर्व आया। एकशिला नगरी को धर्मयौवन आया। आचार्यदेव श्री यशोभद्रसूरीश्वरजी की अद्भुत प्रेरणा को पाकर हजारों स्त्री-पुरुषों ने विशिष्ट धर्म आराधना शुरु की।

संवत्सरी महापर्व के अगले दिन, विशेष कार्य से नरवीर को बाहरगाँव जाना पड़ा। दूसरे दिन जब वह आया, सेठ का घर बंद था। सभी उपाश्रय में प्रवचन सुनने गये थे। नरवीर भी उपाश्रय पहुँचा। जाकर ऐसी जगह वह बैठ गया कि आढ़र श्रेष्ठि उसको देख लें। सेठ ने नरवीर को देख लिया। सेठ ने सोचा : 'नरवीर ने आज सुबह से कुछ खाया-पीया नहीं होगा, उसको भोजन के लिये भेज दूँ।' उन्होंने सेठानी को घर जाने का इशारा किया। सेठानी ने पुत्रवधू को घर भेजा। नरवीर भी घर गया। नरवीर को मालूम हुआ कि आज तो संवत्सरी पर्व है और सबको उपवास है...। उसने सेठ की पुत्रवधू को कह दिया : 'बहनजी, आप सभी को उपवास है। मैं भी आज उपवास करुँगा। मेरे लिये भोजन नहीं बनाना। मैं वापस उपाश्रय जाता हूँ। उपवास का पच्चक्खाण कर लूँगा।'

नरवीर उपाश्रय गया। प्रवचन पूर्ण होने पर उसने गुरुदेव से उपवास का पच्चक्खाण लिया। नरवीर के जीवन में यह पहला ही उपवास था। उसने कभी भी पहले उपवास नहीं किया था। आज उसको अपूर्व हर्ष हो रहा था। आढ़र श्रेष्ठि और उनके परिवार को भी बहुत आनन्द हो रहा था। 'नरवीर ने आज उपवास किया है...!' यह बात परिवार में अनुमोदना का विषय बन गयी थी। आढ़र श्रेष्ठि का परिवार गुणानुरागी था। और जो गुणानुरागी होते हैं वे गुणों की प्रशंसा करते ही हैं। गुणों की प्रशंसा करने से गुणवानों की गुणवृद्धि होती है और गुणों की दृढ़ता प्राप्त होती है।

घर में या समाज में जिस गुण की प्रशंसा होती है, जिस कार्य की प्रशंसा होती है, उस गुण और उस कार्य को बढ़ावा मिलता है। लोग उस गुण के प्रति, उस कार्य के प्रति आकर्षित होते हैं। इसलिये गुणवानों की प्रशंसा करते ही रहो।

नरवीर का उपवास शान्ति से हो गया। पारणे के दिन, आढ़र श्रेष्ठि के साथ नरवीर ने परमात्मा की पूजा की, मुनिराज को भिक्षा दी और बाद में पारणा किया। आढ़र श्रेष्ठि ने नरवीर को अपने पास बिठा कर पारणा करवाया। सेठ के पुत्रों ने, पुत्रवधुओं ने... सब ने आग्रह कर नरवीर को भोजन कराया। उत्साह, उमंग... और उल्लास इतना था कि वे लोग भूल गये कि नरवीर को यह प्रथम उपवास का पारणा है। सब परोसते गये और नरवीर खाता गया...! नरवीर को तो पहला ही पारणा था। इसलिये क्या खाना, कितना खाना... कुछ मालूम नहीं था! जिनको मालूम था वे लोग उत्साह में थे पारणा कराने के!

पारणा हो गया। नरवीर अपने कमरे में जाकर आराम करने लगा। थोड़े समय में ही उसके पेट में दर्द पैदा हुआ। वह दर्द सहता रहा। दर्द बढ़ता चला।

आढ़र शेठ कुछ काम से नरवीर के कमरे में गये। नरवीर को दर्द से कराहते देखा। सेठ उसके पास बैठ गये। दर्द की गंभीरता देखते हुए उन्होंने शीघ्र वैद्य को बुलावा भेजा। परिवार इकट्ठा हो गया। घरेलू उपचार शुरू कर दिये। सेठ नरवीर के सर पर हाथ फेरते रहे और आश्वासन देते रहे। वैद्य आये। उन्होंने उपचार शुरु कर दिये। वैद्य ने सेठ को दर्द की गंभीरता इशारे से बता दी। सेठ ने नरवीर का सर अपने उत्संग में लेकर श्री नवकार मंत्र सुनाना शुरु कर दिया। परिवार के लोगों की आँखें गीली हो गई। सेठ ने नरवीर के मन को धर्म ध्यान में जोड़ने का भरसक प्रयत्न किया। उसको समता-समाधि देने का प्रयत्न किया। नरवीर मृत्यु के निकट जा रहा था। उसका मन विरक्त था। संसार की घटनाओं से उसका मन मुक्त था। इसलिये राग-द्वेष से भी मुक्त था उसका मन। फिर भी तीव्र वेदना उसके मन को विचलित कर रही थी। मृत्यु का उसको भय नहीं था, जीवन से कोई लगाव नहीं था।

नरवीर का जीवन-दीप बुझ गया।

सेठ आढ़र रो पड़े। परिवार रो पड़ा। नरवीर की मृत्यु से सारी एकशिला नगरी शोकमग्न हो गई। सर्वत्र नरवीर के गुणों की प्रशंसा होने लगी। आढ़र श्रेष्ठि और उसके परिवार को, गुरुदेव श्री यशोभद्रसूरिजी ने आश्वासन देते हुए कहा :

'महानुभाव, नरवीर अपने मनुष्य जीवन को सफल कर गया है। उसने सम्यग्दर्शन का प्रकाश पाया, और व्रतमय जीवन स्वीकार किया। उसकी आत्मा धर्मरंग से रंग गयी है। उसकी मृत्यु समाधिपूर्वक हुई है। इसलिये तुम शोक मत करो। जन्म के साथ मृत्यु जुड़ी हुई है। सभी को एक दिन जाना है।

नरवीर की तरह मृत्यु से निर्भय बनो। नरवीर की तरह जीवन का मोह त्यागो। समाधिमृत्यु की कामना करते हुए धर्ममय जीवन जीते रहो।

नरवीर के गुणों को तो मैं भी नहीं भूल सकता हूँ। क्या पता, नरवीर के प्रति और तुम्हारे प्रति मेरे हृदय में वात्सल्य की धारा अविरत बह रही है। लगता है कि आनेवाले जन्म में पुनः अपना मिलन होगा! अपनी मोक्षयात्रा निरंतर आगे बढ़ती रहेगी।'

सद्गुरु के समागम से, उनकी प्रेरणा से... सहानुभूति से आढ़र श्रेष्ठि को शान्ति मिली। शोकमग्न हृदय शोकमुक्त होता चला। उनका वैराग्य भाव बढ़ता चला। जीवन की क्षणभंगुरता का अंदाजा लग गया। उन्होंने अपने मन को विशेष रूप से धर्माराधना में जोड़ा।

उत्तम आत्माओं की यही निशानी है। वे हर घटना में से अच्छी प्रेरणा ग्रहण करते हैं। अच्छा बोध ग्रहण करते हैं।

ग्रंथकार आचार्यदेव, तीसरे अध्याय के प्रारंभ में यह बात बताते हैं कि-सद्धर्म के श्रवण से सात्त्विक मनुष्य पापरहित बनता है, तत्त्वबोध प्राप्त करता है और परम संवेगी बनता है। धर्मतत्त्व की उपादेयता जानकर, श्रावकधर्म स्वीकार करने की इच्छावाला बनता है। वह व्रतपालन करने को अपनी शक्ति का सूक्ष्मता से विचार करता है। यदि वैसी शक्ति होती है तो वह व्रत ग्रहण करने के लिये तत्पर बनता है।

इस विषय में ग्रंथकार आचार्यश्री कुछ विशेष बातें बताते हैं वे आगे बताऊँगा। और नरवीर मर कर कहाँ जनमता है... वगैरह बातें भी आगे बताऊँगा। आज बस, इतना ही...

प्रवचन-३

योग्यो ह्येवंविधः प्रोक्तो जिनैः परहितोद्यतैः ।
फलसाधनभावेन नातोऽन्यः परमार्थतः ।।

महान् श्रुतधर परम कृपानिधि आचार्य श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी ने स्वरचित 'धर्मबिन्दु' ग्रन्थ के तीसरे अध्याय में गृहस्थजीवन का विशेष धर्म बताया है। सामान्य धर्मों का स्वीकार और पालन हर कोई व्यक्ति कर सकता है, परंतु विशेष धर्म का स्वीकार विशिष्ट योग्यता-संपन्न व्यक्ति ही कर सकता है।

- ❖ जिसकी आत्मा मिथ्यात्व से मुक्त हुई हो,
- ❖ जिसकी आत्मा तीव्र क्रोधादि कषायों से मुक्त हुई हो,
- ❖ जिस मनुष्य ने जीव-अजीवादि तत्त्वों का ज्ञान पाया हो,
- ❖ जिसके मन में मोक्ष के प्रति प्रीति और संसार के प्रति अप्रीति पैदा हुई हो,
- ❖ जो मनुष्य सत्त्वशील हो,
- ❖ जिसने धर्म की उपादेयता समझ ली हो,
- ❖ विशेष धर्म को स्वीकार करने की और पालन करने की स्वयं की शक्ति का जो मनुष्य सूक्ष्मता से विचार कर सकता हो,

ऐसा मनुष्य ही विशेष धर्म [बारह व्रतमय धर्म] को स्वीकार करने के लिये योग्य है, पात्र है, समर्थ है। दूसरा व्यक्ति नहीं। यह प्रतिपादन [योग्यता का] परम हितकारी परमात्मा जिनेश्वरदेवों ने किया है।

परमात्मा ही परम हितकारी :

योग्यता की बात कहनेवाले कोई सामान्य संत-महंत या विद्वान् नहीं हैं, परंतु वीतराग सर्वज्ञ जिनेश्वर हैं। हमें उनपर, उनकी कही हुई बातों पर विश्वास करना चाहिये। जो वीतराग होते हैं, जो सर्वज्ञ होते हैं, जो 'जिन' होते हैं, वे विश्वसनीय होते हैं। चूँकि वे सकल जीवलोक का हित करनेवाले होते हैं। वे सभी स्वार्थों से मुक्त होते हैं।

पहले मैं आप को 'जिन' शब्द का अर्थ-भावार्थ बताता हूँ। यह समझना आप लोगों के लिये अति आवश्यक है। पहली बात तो यह है कि 'जिन' व्यक्ति विशेष का नाम नहीं है। यह गुणवाचक नाम है। दूसरी बात-'जिन' शब्द का अर्थ

है विजेता। जो महापुरुष अपने भीतर के शत्रु राग-द्वेष [काम, क्रोध, लोभ, मद, मान, हर्ष...] को पूर्णतया पराजित करते हैं, हरा देते हैं, नष्ट कर देते हैं वे 'जिन' कहलाते हैं। उन में राग-द्वेष का नामोनिशान नहीं रहता है। भविष्य में भी कभी उनकी आत्मा रागी या द्वेषी नहीं बनेगी। अनन्तकाल बीतने पर भी नहीं बनेगी। सदा के लिये वह 'जिन' बनी रहेगी।

ये 'जिन' दो प्रकार के होते हैं। एक प्रकार हैं तीर्थंकरों का और दूसरा प्रकार है सामान्य केवलज्ञानियों का। सभी तीर्थंकर जिन होते हैं। यानी राग-द्वेष के विजेता होते हैं। जो तीर्थंकर नहीं बनते हैं, वैसे केवलज्ञानी [पूर्णज्ञानी] भी सभी जिन होते हैं। यानी राग-द्वेष से मुक्त होते हैं।

जो तीर्थंकर होते हैं वे सभी 'जिन' ही होते हैं, परंतु जितने 'जिन' होते हैं वे सभी तीर्थंकर नहीं होते हैं, यह बात स्पष्टता से समझ लेना। एक कालचक्र में [एक उत्सर्पिणी+एक अवसर्पिणी] तीर्थंकर मात्र ४८ ही होते हैं, जबकि 'जिन' असंख्य आत्मायें होती हैं।

जो 'जिन' बनते हैं वे निर्वाण पाते हैं। उनको जन्म नहीं लेना पड़ता है, न मरना पड़ता है। वे निर्वाण के बाद अशरीरी [शरीर रहित] ही रहते हैं। आत्मा अपने मूल स्वरूप में अवस्थित रहती है। जिसको शास्त्रों में 'सिद्धशिला' कही गई है, वहाँ पर ऐसी अनंत विशुद्ध आत्मायें अवस्थित हैं।

'जिन' को **'वीतराग'** भी कहते हैं, **'जिनेश्वर'** भी कहते हैं और 'अरिहंत' भी कहते हैं। इन शब्दों का अर्थ एक ही होता है। ऐसे 'जिन' निःस्वार्थ होते हैं। यथार्थवादी होते हैं।

और, जो निःस्वार्थ होते हैं, वे ही सच्चे परहितकारी होते हैं। जिनको स्वयं के स्वार्थ साधने होते हैं, वे परहित नहीं कर सकते। परहित करने जायेंगे कभी, तो उसमें भी अपने स्वार्थों की साधना तो रहेगी ही।

'जिन' को कोई एकाध भी स्वार्थ नहीं होता है। वे जो कुछ उपदेश देते हैं, वह जीवों के हित के लिये देते हैं। सुख के लिये देते हैं, कुशलता के लिये देते हैं। ऐसे जिन-जिनेश्वर भगवंत हमारे आराध्य परमात्मा हैं। वे ही हमारे उपास्य हैं और विश्वसनीय हैं। उनके हर उपदेश को बिना शंका किये, हमें मानना चाहिये। उन्होंने जो कुछ कहा है, हम सबके हित के लिये, कल्याण के लिये कहा है। उनकी परम करुणा थी सकल जीवनसृष्टि के प्रति।

सभा में से : आज ऐसे **'जिन'** क्या अपने देश में या विश्व में कहीं पर भी हैं?

महाराजश्री : नहीं हैं अपने देश में, नहीं हैं विदेशों में। हाँ, धर्मशास्त्रों में ऐसे एक प्रदेश का नाम व वर्णन आता है, जिसको 'महाविदेहक्षेत्र' कहते हैं, वहाँ ऐसे **'जिन'** वर्तमान में भी हैं। बीस तीर्थंकर अभी वहाँ पर हैं। लेकिन अपन वहाँ जा नहीं सकते हैं। न पैदल जा सकते हैं, न कार से, न हवाई जहाज से वहाँ जा सकते हैं।

अपने देश में दो हजार वर्ष पूर्व अंतिम 'जिन' हुए जंबूस्वामी। जंबूस्वामी, श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के प्रशिष्य थे। महावीरस्वामी के शिष्य थे सुधर्मास्वामी और उनके शिष्य थे जंबूस्वामी। जंबूस्वामी के निर्वाण के बाद कोई भी आत्मा यहाँ इस देश में 'जिन' नहीं बनी है और हजारों-लाखों वर्ष तक बनेगी नहीं।

यह बात भी जिनेश्वरों ने ही कही है। मैंने धर्मशास्त्रों में पढ़ा है और आपको बता रहा हूँ। जिनेश्वरों की बातें हमें माननी ही चाहिये। चूँकि वे परम हितकारी हैं। उनकी बात पर विश्वास नहीं करेंगे तो किसकी बात पर विश्वास करेंगे? परम हितकारी और परम सुखकारी के प्रति पूर्ण श्रद्धा से नतमस्तक होना चाहिये और निःशंक बन, उनके मार्ग का अनुसरण करना चाहिये।

इस ग्रंथ में आचार्यदेव श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी ने जो कुछ लिखा है, वह सब कुछ जिनेश्वरों का कहा हुआ ही लिखा है। आचार्यदेव, जिनेश्वर-शासन को पूर्ण समर्पित महापुरुष थे। इसलिये वे भी उतने ही श्रद्धेय हैं, जितने जिनेश्वर भगवंत! जिनेश्वर-शासन की अविच्छिन्न परंपरा में, प्रायः कोई भी व्यक्ति जिन-वचन से विपरीत नहीं जा सकता।

हर क्षेत्र में योग्यता अपेक्षित :

जिनेश्वर भगवंतों ने विशेष धर्म के स्वीकार एवं पालन के लिये योग्यता की आवश्यकता बतायी है। संसार के प्रत्येक क्षेत्र में योग्यता को महत्त्व दिया गया है न? आपको स्कूल-कॉलेज में अध्यापक होना है, आपको न्यायालय में वकालत करनी है, आपको डॉक्टर बन रुग्ण लोगों का उपचार करना है, आपको सरकारी प्रतिष्ठानों में नौकरी करनी है... तो आपको अपनी योग्यता बतानी पड़ती है। योग्यता प्राप्त करनी पड़ती है। उस-उस कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिये योग्यता प्राप्त करना अनिवार्य होता है।

जिस क्षेत्र में, जिस कार्य को करना है, बिना क्षति के कार्य करना है तो योग्यता चाहिये ही। इसलिये अपन-अपने कार्यों के लिये योग्य व्यक्तियों को खोजते हैं।

शरीर में रोग होता है तो उस रोग के निष्णात डॉक्टर के पास जाते हैं न? संसार-व्यवहारों में कोई उलझन पैदा होती है तो सुयोग्य वकील के पास जाते हैं न? अरे, लड़के को ट्यूशन पढ़ाना होता है तो भी सुयोग्य शिक्षक खोजते हो! और महिला को बरतन माँजनेवाला नौकर चाहिये तो भी सुयोग्य-प्रामाणिक नौकर खोजते हो। तो फिर आत्मा की विशुद्धि करनेवाले धर्म को स्वीकार करनेवाला व्यक्ति सुयोग्य नहीं चाहिये क्या? विशेष धर्म का पालन करने के लिये योग्यता चाहिए ही।

गुजरात का राजा कुमारपाल [विक्रम की बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी] वैसा सुयोग्य महापुरुष था। कलिकालसर्वज्ञ आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरीश्वरजी ने उसमें विशेष धर्म की योग्यता देखी थी।

एकशिला नगरी में नरवीर की मृत्यु हुई। नरवीर की आत्मा सौराष्ट्र के 'दधिस्थली' गाँव में राजा त्रिभुवनपाल की रानी काश्मीरादेवी के उदर में गर्भरूप में अवतरित हुई। जब उसका जन्म हुआ, उसका नाम कुमारपाल रखा गया। इस कुमारपाल और आचार्यदेव हेमचन्द्रसूरीश्वरजी का ओजस्वी और तेजस्वी स्वर्ण इतिहास लिखा गया है। बहुत ही प्रेरणादायी और रोमांचक है यह इतिहास। इस इतिहास को लिखा है आचार्य श्री जयसिंहसूरिजी ने। संस्कृत भाषा में महाकाव्य के रूप में लिखा है उन्होंने।

चावड़ावंश और चौलुक्यवंश :

इस चातुर्मासिक दैनिक प्रवचनमाला में यह इतिहास आप लोगों को सुनाऊँगा। आज उस इतिहास की पूर्व भूमिका ही बताऊँगा! आप ध्यान से एकाग्र मन से सुनना।

वि. सं. ८०२ में 'चावड़ावंश' के पराक्रमी राजा वनराज ने अणहिल्लपुर पाटण बसाया। वनराज, आचार्य श्री शीलगुणसूरिजी से उपकृत था और प्रभावित था। वह आचार्यदेव को अपना गुरु मानता था। आचार्यदेव की प्रेरणा से उसने पाटण में भव्य जिनमंदिर का निर्माण कराया और आचार्यदेव के करकमलों से प्रभुप्रतिष्ठा करवायी।

पचास वर्ष की उम्र में वनराज राजा बना था और साठ वर्ष तक उसने राज्य किया था। एक सौ दस वर्ष का आयुष्य पूर्ण कर वह स्वर्गवासी हुआ था। उसके बाद राजा योगराज ने ३५ वर्ष राज्य किया। क्षेमराज ने २५ वर्ष राज्य किया। भूवड़राज ने २९ वर्ष, वैरसिंह ने २५ वर्ष, रत्नादित्य ने १५ वर्ष और सामन्तसिंह ने ७ वर्ष राज्य किया था। इस प्रकार गुजरात में चावड़ावंश का १९६ वर्ष शासन

रहा। सामन्तसिंह की मृत्यु के साथ चावड़ावंश का अंत हो गया। उसके बाद चौलुक्य वंश का प्रारंभ हुआ।

राजा सामन्तसिंह की बहन का नाम था लीलावती। लीलावती की शादी 'राज' नाम के राजा के साथ हुई थी। लीलावती ने एक पुत्र को जन्म दिया। जन्म 'मूलनक्षत्र' में हुआ था, इसलिए उसका नाम मूलराज रखा गया। मूलराज राजा सामन्तसिंह के पास रहता था सामन्तसिंह को मद्यपान करने का व्यसन था। एक बार वह शराब के नशे में था, उसने मूलराज को राजसिंहासन पर बिठा दिया! परंतु जब नशा उतर गया... उसने भाणजे को राजसिंहासन पर से उठा लिया। ऐसा एक बार नहीं दो बार किया सामन्तसिंह ने। इससे मूलराज को गुस्सा आ गया। उसने सामन्तसिंह को मार दिया और स्वयं गुजरात का राजा बन गया।

मूलराज चौलुक्यवंश का था। उसके बाद चामुंडराज, वल्लभराज, दुर्लभराज और भीमदेव नाम के क्रमशः राजा बने। भीमदेव के दो पुत्र थे। एक का नाम था क्षेमराज और दूसरे का नाम था कर्ण।

कुमारपाल का जन्म :

भीमदेव की मृत्यु के बाद गुजरात का राजा कर्ण बनता है। क्षेमराज स्वेच्छा से अपना राज्याधिकार छोटे भाई कर्ण को दे देता है। राजा कर्ण, क्षेमराज के पुत्र देवप्रसाद को 'दधिस्थली' का राज्य देता है। देवप्रसाद को एक पुत्ररत्न की प्राप्ति होती है, उसका नाम रखा जाता है त्रिभुवनपाल!

भीमदेव से त्रिभुवनपाल तक का इतिहास, आचार्यदेव **मेरुतुंगसूरिजी ने 'प्रबन्धचिन्तामणि'** ग्रन्थ में दूसरे ढंग से बताया है। इतिहास में ऐसे मतान्तर आते हैं।

जिस समय राजा भीमदेव राज्य करता था उस समय राजधानी पाटण में **'चौलादेवी'** नाम की वारांगना रहती थी। जैसा उसका अद्भुत रूप था वैसे उसके गुण अद्भुत थे। वारांगना होते हुए भी वह धर्ममर्यादा का इतना सुंदर पालन करती थी कि पतिव्रता स्त्री भी शायद उतना पालन नहीं कर सके। चौलादेवी की यह प्रशंसा कर्णोपकर्ण राजा भीमदेव ने सुनी। भीमदेव को आश्चर्य हुआ। 'एक वारांगना में ऐसे गुण हो सकते हैं क्या? मुझे परीक्षा करनी चाहिये।' ऐसा सोचकर भीमदेव ने अपने विश्वसनीय अनुचर के साथ सवा लाख रुपये के मूल्य की रत्नजड़ित तलवार चौलादेवी को भेजी।

उस काल में वारांगनायें इस प्रकार अमुक निर्धारित द्रव्य से प्रेमी के साथ

निश्चित समय के लिये बंध जाती थी। उस समय में दूसरे किसी भी पुरुष के साथ वह परिचय नहीं रखती थी। एक समर्पित पत्नी की तरह वह रहती थी।

भीमदेव को तो परीक्षा करनी थी। उसने चौलादेवी की हवेली के आसपास गुप्तचरों को नियुक्त कर दिये। उसने सोचा कि 'मैं रात्रि में उस वारांगना के पास जाऊँगा।' परंतु उसी रात्रि में उसको मालव देश पर आक्रमण करने के लिये सैन्य के साथ पाटण से प्रस्थान करना पड़ा। वह चौलादेवी के पास नहीं जा सका।

मालव देश के युद्ध में दो वर्ष लग गये। भीमदेव को दो वर्ष वहीं बिताने पड़े। मालव पर विजय प्राप्त कर जब वह पाटण लौट आया, उसको एक दिन चौलादेवी याद आयी। उसने उन गुप्तचरों को बुलाये और चौलादेवी के विषय में पूछा। गुप्तचरों ने कहा :

'महाराजा, चौलादेवी ने एक महापतिव्रता सन्नारी की तरह शीलव्रत का पालन किया है। उसकी एक भी गलती हम नहीं देख पाये हैं। वह आपके प्रति ही निष्ठावान् रही है।'

इस प्रकार गुप्तचरों का वृत्तान्त सुनकर और नगर में भी चौलादेवी की प्रशंसा सुनकर, भीमदेव चौलादेवी के प्रति विशेष आकर्षित हुआ। चौलादेवी के साथ शादी कर, उसको अपनी रानी बनायी। हालाँकि राजपरिवार में बहुत विरोध हुआ था, परंतु भीमदेव ने विरोध की परवाह नहीं की। चौलादेवी ने एक पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम हरपाल था। हरपाल के पुत्र का नाम त्रिभुवनपाल और त्रिभुवनपाल के पुत्र का नाम कुमारपाल!

सिद्धराज का जन्म :

भीमदेव की मृत्यु के बाद गुजरात का राजा कर्ण हुआ। राजा कर्णदेव की पट्टरानी का नाम मीनलदेवी था।

राजा कर्ण और मीनलदेवी के संबंध में कलिकालसर्वज्ञ आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरीश्वरजी ने 'द्वयाश्रय' महाकाव्य में इस प्रकार वृत्तान्त बताया है-

एक दिन कर्णराजा के पास एक चित्रकार आया। वह एक राजकुमारी का चित्र लेकर आया था। उसने कर्ण को कहा : 'हे गुर्जरेश्वर, दक्षिण प्रदेश में चन्द्रपुर नाम का नगर है। वहाँ का राजा है जयकेशी। जयकेशी की सुंदर राजकुमारी मीनलदेवी का यह चित्र है।' उस चित्रकार ने कर्ण को मीनलदेवी का चित्र दिया। कर्ण चित्र देखते ही मंत्रमुग्ध हो गया। चित्रकार ने कहा : 'महाराजा, इस राजकुमारी को किसीने आपका चित्र बताया है। जबसे उसने आपका चित्र

देखा हैं, तबसे वह आपके प्रेम में पड़ गई है और मन से उसने आपको पतिरूप में वरण कर लिया है।'

राजा कर्ण ने चित्रकार को धन-धान्य से सत्कार कर विदा किया। कुछ दिनों के बाद राजा जयकेशी के मंत्री कर्णराजा के दरबार में उपस्थित हुए। उन्होंने कर्णराजा को प्रणाम कर कहा : 'हे गुर्जरेश्वर, हम चन्द्रपुर के राजा जयकेशी के सेवक हैं। महाराजा ने आपके लिये एक भेंट भेजी है। परंतु वह भेंट आप निरन्तर आपके पास ही रखें दूसरे को नहीं दें, तो ही हम दे सकते हैं।'

राजा कर्ण बात समझ गया। उसने कहा : 'आपकी भेंट को मैं सहर्ष स्वीकर करूँगा, परंतु इसके पूर्व आप मेरा आतिथ्य ग्रहण करें।' राजा जयकेशी के मंत्रिमंडल को सुंदर आवास में ठहराया गया। रात्रि के समय रूपपरिवर्तन कर राजा कर्ण ने मीनलदेवी को देख लिया। उसका अद्भुत रूप देखकर वह मुग्ध हो गया। दूसरे दिन धामधूम से कर्ण ने मीनलदेवी से शादी कर ली। जयकेशी के मंत्रिमंडल ने अनेक हाथी, घोड़े... रत्न वगैरह भेंट किये।

रानी मीनलदेवी ने एक पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम था सिद्धराज।

आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरिजी का जन्म :

'कुमारपाल-चरित्र' में दो ऐतिहासिक पुरुष कुमारपाल और सिद्धराज के जन्मवृत्तान्त बताने के पश्चात् अब तीसरे महापुरुष हेमचन्द्रसूरीश्वरजी के जन्म का वृत्तान्त बता रहा हूँ।

वह समय था बारहवीं शताब्दी का मध्यकाल। गुजरात में उस समय साक्षात् धर्ममूर्ति आचार्यश्री देवचन्द्रसूरिजी जैनधर्म की सुवास प्रसारित करते हुए हजारों स्त्री-पुरुषों को सन्मार्ग बता रहे थे। आचार्यदेव एक बार धंधुका नगर में पधार गये। आचार्यदेव के दर्शन से पूरा जैनसंघ आनंदविभोर हो गया।

धंधुका में 'मोढ़' ज्ञाति का 'चाचग' नाम का धनाढ्य श्रेष्ठि रहता था। वह धर्मप्रिय और बुद्धिमान था। उसकी धर्मपत्नी का नाम था पाहिनीदेवी। पाहिनी परम श्राविका थी। एक दिन रात्रि के समय पाहिनीदेवी को स्वप्न आया कि उसको चिन्तामणि रत्न प्राप्त हुआ और वह रत्न उसने गुरुदेव को समर्पित कर दिया। स्वप्न देखकर वह जगी और शेष रात्रि धर्मध्यान में व्यतीत की। प्रातःकाल वह जिनमंदिर गई। परमात्मा के दर्शन कर वह उपाश्रय में गुरुदेवश्री देवचन्द्रसूरीश्वरजी के पास गई। गुरुदेव को वंदन कर उसने अपना स्वप्न

कह सुनाया। उसने पूछा : 'गुरुदेव, इस स्वप्न का फल क्या होगा?' गुरुदेव ने कहा: 'पुण्यशालिनी, तू कोई असाधारण गुणवाले पुत्र की जननी होगी। वह पुत्ररत्न तू मुझे अर्पण करेगी। तेरा वह पुत्र भविष्य में जिनशासन की अपूर्व शोभा बढ़ायेगा।'

पाहिनीदेवी गुरुदेव के वचन सुनकर आनंदविभोर हो गई। उसने कहा : 'गुरुदेव, तथास्तु! आपने कहा वैसा ही हो!' उसने अपने वस्त्र के एक छोर पर गाँठ बाँध ली, जैसे कि स्वप्न-फल को ही बाँध लिया!

उसी रात्रि में पाहिनीदेवी की कुक्षी में एक उत्तम जीव अवतरित हुआ! पाहिनी गर्भवती हुई। गर्भकाल पूर्ण होने पर उसने पुत्र को जन्म दिया। चाचग श्रेष्ठि ने पुत्र का जन्मोत्सव किया। बारहवें दिन पुत्र का नाम 'चांगदेव' रखा गया। यही चांगदेव आगे जाकर कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्रसूरिजी बनते हैं!

गुरुदेव चांगदेव में योग्यता देखते हैं :

गुरुदेव देवचन्द्रसूरीश्वरजी धंधुका से विहार कर जाते हैं। कुछ वर्ष अन्यत्र विचरण कर वे पुनः धंधुका में पधारते हैं। उस समय चांगदेव छः-सात साल का हो गया था।

एक दिन आश्चर्यकारी घटना घटती है। आचार्यदेव जिनमंदिर में दर्शन करने गये थे। तीन प्रदक्षिणा देकर वे परमात्मा की प्रार्थना करने में लीन थे। उस समय पाहिनी देवी के साथ चांगदेव मंदिर में पहुँचा। और वह गुरुदेव के आसन पर बैठ गया। पाहिनीदेवी परमात्मा के दर्शन में लीन थी। गुरुदेव ने चांगदेव को अपने आसन पर बैठा देखा। उनके मुँह पर स्मित आ गया। चांगदेव भी गुरुदेव के सामने मंद-मंद हँस रहा है। गुरुदेव ने उस समय पाहिनीदेवी को कहा : 'हे सुशीले, तुझे याद है तेरे स्वप्न की बात? तूने स्वप्न में चिन्तामणि रत्न देखा था? और वह रत्न तूने गुरु को दे दिया था। देवी, वही यह तेरा पुत्र-रत्न है। पूर्ण पुण्य के उदय से जो स्वप्न आते हैं, वे गलत नहीं होते। देख, यह मेरे आसन पर बैठ गया है न? वैसे यह मेरी पाट पर, मेरा उत्तराधिकारी बनकर बैठेगा। यह लड़का साधु बनने योग्य है, आचार्य बनने योग्य है। हे पुण्यशालिनी, छोटे लड़के को हम पात्रता-योग्यता देखे बिना दीक्षा नहीं देते हैं। इसलिये कहता हूँ कि तू तेरा यह रत्न मुझे दे दे। पूरे देश में यह आर्हत् धर्म का साम्राज्य प्रस्थापित करने वाला होगा।'

पाहिनीदेवी, आचार्यदेव के मधुर वचनों का श्रवण कर आनन्द विभोर हो गई। उसने नतमस्तक हो, विनीत भाव से कहा : 'गुरुदेव, आप इस लड़के के पिता से प्राप्त कर लें।' पाहिनीदेवी ने अपनी स्वीकृति दे दी।

आचार्य श्री देवचन्द्रसूरीश्वरजी में योग्यता-अयोग्यता देखने का विशिष्ट ज्ञान था। उन्होंने चांगदेव में साधु बनने की योग्यता देखी थी, उन्होंने मात्र चांगदेव की तत्कालीन भावना को ही महत्व नहीं दिया था, 'इस लड़के की दीक्षा लेने की भावना है, यह दीक्षा लेना चाहता है...' इतने मात्र से दीक्षा देना योग्य नहीं है। लड़का यौवन में आने के बाद भी इन्द्रियपरवश नहीं बनेगा, कामविजेता बनेगा, पाँच महाव्रतों का पालन करने में सक्षम बना रहेगा, ज्ञान-ध्यान में तत्पर रहेगा...। ऐसी निश्चित प्रतीति, दीक्षा देने वाले गुरु को होनी चाहिये।

वर्तमान समय में जबकि समाज का वातावरण ज्यादा कलुषित बना है, विषयविकारों का नग्न प्रदर्शन बढ़ गया है... ऐसे समय में युवा साधु-साध्वी को अपने महाव्रतों के पालन में दृढ़ रहने की मौलिक योग्यता होना नितान्त आवश्यक प्रतीत होता है। साधुजीवन में निर्विकारिता महत्वपूर्ण गुण है।

कुछ आत्माएँ जन्म से निर्विकार होती हैं। पूर्व जन्मों के संस्कार लेकर जो आत्माएँ आती हैं... वे सहजता से निर्विकार होती हैं। ऐसे जीवों को आठ वर्ष की उम्र में साधुजीवन देने में कोई दिक्कत नहीं आती है। ऐसे जीव यौवन में भी अविकारी रह सकते हैं।

अन्यथा, जब विषयवासना जाग्रत होती है, सेक्सी वृत्तियाँ प्रबल बन जाती हैं, उस समय उन वासनाओं पर संयम करना मामूली बात नहीं है। भयानक आग को बुझाना सरल है, कामवासना की प्रचंड आग को बुझाना मुश्किल बात है। छोटा-बड़ा निमित्त मिलने पर संयम की शक्ति [Controlling Power] खत्म हो जाती है और संयमी पलभर में असंयमी बन जाता है। वह अपने महाव्रत को खो देता है।

यौवनकालीन आवेग या तो शान्त होने चाहिये, अथवा उन आवेगों पर संयम रखने की प्रचंड ताकत होनी चाहिये। साधुजीवन की यह योग्यता अनिवार्य रूप से देखनी चाहिये। ऐसी योग्यता है या नहीं-इस बात का निश्चित रूप से निर्णय करने का विशिष्ट ज्ञान होना चाहिये। श्री देवचन्द्रसूरीश्वरजी में ऐसा ज्ञान था। उन्होंने चांगदेव में ऐसी योग्यता देखकर, उसकी माँ से चांगदेव की भिक्षा माँगी थी।

बिना योग्यता देखे, दीक्षा देने से परिणाम अच्छे नहीं आते हैं। दीक्षा लेनेवाले में यह बात सोचने की क्षमता होनी चाहिये कि 'क्या मैं पांच महाव्रतों का पालन कर सकूँगा?' गृहस्थ जीवन के बारह व्रत लेने से पूर्व जब ग्रन्थकार गंभीरता से सोचने का आदेश देते हैं, तब साधुजीवन के महाव्रतों के लिये तो सोचे बिना कैसे चल सकता है?

सभा में से : आठ-दस साल का बच्चा इतनी गंभीर बातें कैसे सोच सकता है?

महाराजश्री : नहीं सोच सकता है। इसलिये दीक्षा देनेवाले गुरु को सोचना चाहिये अपनी ज्ञानदृष्टि से कि 'यह लड़का क्या पाँच महाव्रतों का पालन कर सकेगा? पाँच समिति और तीन गुप्ति का पालन कर सकेगा? ज्ञानोपासना में लीन हो सकेगा? गुरु-आज्ञा का पालन कर सकेगा?' वगैरह बातें गंभीरता से सोचनी चाहिये। भविष्य को जानने का ज्ञान होना चाहिये! ऐसे ज्ञान के बिना निर्णय नहीं कर सकते हैं।

वर्तमान में लड़का कितना भी अच्छा लगता हो, परंतु यदि उसका भविष्य साधुता की दृष्टि से अच्छा नहीं दिखता हो, तो उसको दीक्षा नहीं देनी चाहिये! शक्ति और योग्यता के बिना व्रत-महाव्रत नहीं लेने चाहिए। व्रतपालन की शक्ति नहीं होने पर भी व्रत-महाव्रत लेने पर व्रतभंग होने की संभावना रहती है, इससे बहुत बड़ा नुकसान होता है।

समग्र जीवसृष्टि का परम हित करनेवाले तीर्थंकर भगवंतों ने इसलिये ही योग्यता का आग्रह किया है व्रत लेनेवालों के लिये, योग्य व्यक्ति को ही धर्मप्राप्ति का समुचित फल प्राप्त होता है। जिसमें योग्यता नहीं है [पहले बतायी है वैसी] वह मनुष्य धर्म ग्रहण नहीं कर सकता। यदि ग्रहण कर भी ले, धर्मप्राप्ति का फल उसको नहीं मिल सकता है।

आचार्यदेव, चांगदेव को लेते हैं :

आचार्यदेव श्री देवचन्द्रसूरीश्वरजी ने चांगदेव में महान् योग्यता देखी थी। उन्होंने चाचग श्रेष्ठि को अपने पास बुलवाकर प्रेम से व वात्सल्य से समझाया। पुत्रस्नेह का बंधन भी सामान्य नहीं होता है। जल्दी टूटता नहीं है। आचार्यदेव ने धैर्य से और बुद्धि से चाचग को समझाया। चाचग को आचार्यदेव के ज्ञान और संयम के प्रति पूर्ण श्रद्धा थी। वह आचार्यदेव से प्रभावित हुआ और उसने गुरुदेव को चांगदेव समर्पित कर दिया।

चांगदेव को, चारित्रमार्ग पर जाने के लिये माता और पिता के आशीर्वाद मिल गये! महान् पुण्य के उदय के बिना यह बात संभव नहीं होती। चांगदेव रूपवान् था, बुद्धिमान् था और जनप्रिय था। घर में संपत्ति थी, समाज में मान और भविष्य उज्ज्वल था। ऐसी स्थिति में छोटे लड़के को त्यागमार्ग पर, मोक्षमार्ग पर चलने के संयोग मिलना... असाधारण पुण्योदय से ही संभव होता है।

सुयोग्य गुरुदेव का संयोग मिल गया चांगदेव को! मात्र सुयोग्य ही नहीं,

समर्थ गुरुदेव मिल गये उसको! बिना पुरुषार्थ किये ऐसे गुरुदेव का संयोग प्राप्त होना, पूर्व संचित पुण्यकर्म का ही फल मानना चाहिये।

साथ-साथ, माता-पिता भी कैसे श्रेष्ठ विचार के मिले! 'पुत्र त्याग के मार्ग पर चलकर सुखी बनेगा... मनुष्य जीवन सफल बनायेगा...।' ये विचार थे माता-पिता के। और पुत्रस्नेह का बंधन भी इतना प्रगाढ़ नहीं था। ऐसे माता-पिता मिलना, पूर्वसंचित पुण्य का उदय ही मानना होगा।

चांगदेव को क्षतिरहित शरीर मिला था, पाँचों इन्द्रियाँ परिपूर्ण थी, सुंदरता थी, स्पष्ट और मधुर वचनशक्ति थी और सौभाग्य भी अद्भुत था। यह सब पुण्यकर्म का फल था।

आचार्यदेव ने, चांगदेव में सब प्रकार की योग्यता देखी थी और वे बहुत ही प्रसन्न थे। चांगदेव में उन्होंने 'लाखों का तारणहार' देखा था। चांगदेव में उन्होंने 'महान् ज्योतिर्धर' देखा था। चांगदेव में उन्होंने 'कलिकाल का केवलज्ञानी' देखा था।

ऐसे चांगदेव को लेकर आचार्य धंधुका से खंभात की ओर विहार कर देते हैं।

'धर्मबिन्दु' के रचयिता आचार्यदेव, सद्धर्म को स्वीकार करने वालों की योग्यता बताकर, 'धर्मग्रहण' के विषय में एक मार्मिक प्रश्न उठाते हैं। इस विषय में आगे सोचेंगे, आज बस इतना ही!

धर्मग्रहणं हि सत्प्रतिपत्तिमद्विमलभावकारणम् ।

परम कृपानिधि महान् श्रुतधर आचार्यदेव श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी स्वरचित 'धर्मबिन्दु' ग्रन्थ के तीसरे अध्याय में गृहस्थ जीवन का विशेष धर्म बता रहे हैं।

व्रतमय विशेष धर्म योग्यतासंपन्न व्यक्ति ही ग्रहण कर सकता है, यह बात बताने के बाद, टीकाकार आचार्य श्री एक प्रश्न पैदा करते हैं। वे कहते हैं : 'धर्म : स्वचित्तपरिशुद्धयधीन :' धर्म पैदा होता है परिशुद्ध चित्त में से! तो फिर दूसरे से धर्म ग्रहण करने की बात ही कहाँ रहती है? जो वस्तु स्वयं में से पैदा होती हो, वह वस्तु दूसरे से लेने की बात संगत नहीं होती है।

प्रश्न मार्मिक है। धर्म जैसा परम तत्त्व क्या लेने-देने की वस्तु है? धर्म तो स्वयंभू तत्त्व है। परिशुद्ध चित्त में से पैदा होनेवाला तत्त्व है। तो फिर ग्रन्थकार आचार्यदेव ने धर्म ग्रहण करने की और धर्म प्रदान करने की बात यहाँ क्यों कही? इस प्रश्न का समाधान ग्रंथकार स्वयं करते हैं।

धर्म का कारण भी धर्म :

सद्गुरु से धर्म ग्रहण करना विमल भावों की जागृति का अपूर्व निमित्त है। जो मनुष्य अपनी शक्ति का [व्रतपालन करने की] पर्याप्त विचार करता है और जिनवचनानुसार, सद्गुरु से व्रत ग्रहण करता है, उसके आंतरिक भाव विशुद्ध बनते हैं, निर्मल-विमल बनते हैं। भावों की निर्मलता ही प्रधान कारण है व्रतग्रहण का, धर्मग्रहण का।

चित्त में निर्मल भाव रूप... विशुद्ध भाव रूप धर्म पैदा करने के लिए धर्मग्रहण करने का बाह्य विधि करना चाहिये । समझ लेना कि सारे बाह्य क्रिया-कलाप, भीतर के शुभ-शुद्ध भाव प्रगट करने के निमित्त हैं। साधन हैं, आलंबन हैं। शुभ क्रिया से शुभ भाव प्रगट होते हैं, अशुभ क्रिया से अशुभ भाव प्रगट होते हैं। क्रिया और भाव का घनिष्ठ संबंध है। यदि शुभ भाव, पवित्र विचार, निर्मल अध्यवसाय चाहते हो तो शुभ, पवित्र और प्रशस्त क्रियायें करते रहो। अच्छे कार्य करते रहो।

और, **जैसे आत्मा के शुभ और शुद्ध भाव धर्म हैं, वैसे शुभ भाव और शुद्ध**

भाव प्रगट होने में निमित्तभूत क्रिया भी धर्म है। वे सभी क्रियायें... कार्य धर्म हैं, जो शुभ-शुद्ध आंतरभाव प्रगट करने में निमित्त बनते हैं। इसलिये, यदि हम निर्मल भावरूप धर्म चाहते हैं, तो हमें पवित्र क्रियायें करनी ही होगी। जिनेश्वर भगवंतों ने जो-जो क्रियायें करने का उपदेश दिया है, वे सभी क्रियायें आदर के साथ, प्रीति के साथ करनी होगी।

सद्गुरु से धर्मग्रहण की एक विधिवत् क्रिया करने की होती है। उस विधिवत् क्रिया से व्रतमय धर्म ग्रहण करने से चित्त में विमल भाव पैदा होते हैं। परंतु वह क्रिया खिन्न मन से नहीं करनी है, अविधि से नहीं करनी है, चंचल मन से नहीं करनी है।

हर धर्मक्रिया में प्रीति और आदर चाहिये :

जो भी धर्मक्रिया करें, उस धर्मक्रिया में आंतरप्रीति होनी चाहिये। परंतु अनादिकालीन पापप्रीति जब तक टूटेगी नहीं वहाँ तक धर्मप्रीति बनेगी नहीं। संसार की पापक्रियायें प्रीति से मत किया करो, उन क्रियाओं के प्रति घृणा-नफरत का भाव जाग्रत करो। प्रारंभ में भले ही कृत्रिम नफरत करते रहो...! धीरे-धीरे स्वाभाविक नफरत पैदा हो जायेगी। वैसे धर्मक्रियाओं में प्रारंभिक प्रीतिभाव भले ही कृत्रिम हो... धीरे-धीरे वह प्रीतिभाव स्वाभाविक बन जायेगा। प्रीति हो जायेगी धर्मक्रिया के प्रति, बाद में आदर तो हो ही जायेगा। प्रीति के साथ आदर की भावना जुड़ी हुई रहती है। 'शुभ भावों को जगाने वाली यह पवित्र क्रिया जिनेश्वर भगवंत ने बताकर हम पर परम उपकार किया है... कितनी अच्छी क्रिया है यह!' इस प्रकार विचार करने चाहिये। ऐसे विचारों से प्रीति का भाव दृढ़ होता जाता है।

धर्मक्रिया में चाहिये सातत्य और विधिपरता :

प्रीति-आदर का भाव तभी बढ़ता रहेगा यदि आप क्रिया सतत यानी प्रतिदिन करते रहोगे। ऐसा नहीं कि आज एक धर्मक्रिया की, बाद में दो-चार दिन नहीं की, फिर एक-दो दिन की, बाद में आठ-दस दिन नहीं की...! धर्मक्रिया में सातत्य बना रहना चाहिये। नियमितता होनी चाहिये।

सातत्य के साथ, उस-उस धर्मक्रिया की विधि के प्रति भी आदर होना चाहिये। जो क्रिया जिस विधि से करने का विधान है, उस विधान से ही वह क्रिया करनी चाहिए। यदि प्रीति होगी तो विधि का पालन सहजता से होता रहेगा। क्रिया में रस-रुचि नहीं होगी तो अविधि से क्रिया होती रहेगी। अथवा, अविधि से क्रिया करने से क्रियारुचि धीरे-धीरे नष्ट होती जायेगी। धर्मक्रिया में आनन्द का अनुभव

करना हो तो विधि का पालन अवश्य करते रहो।

सभा में से : एक धर्मक्रिया जब 'रूटिन' बन जाता है तब उसमें निरसता आ जाती है!

महाराजश्री : नहीं, ऐसा नहीं है, जो धर्मक्रिया हम प्रेम से नहीं करते हैं, सतत नहीं करते हैं, विधिपूर्वक नहीं करते हैं, अर्थज्ञान के साथ नहीं करते हैं, उस धर्मक्रिया के फल का विचार नहीं करते हैं, तब वह 'रूटीनवर्क' लगता है और निरसता आती है। दुकान पर जाना... पैसा कमाना... क्या रूटीनवर्क नहीं है? परंतु ज्यों-ज्यों पैसा मिलता जाता है त्यों-त्यों पैसा कमाने का रस बढ़ता जाता है न? वास्तव में देखा जाय तो जिस क्रिया में हमें लाभ... प्राप्ति दिखाई देती है... वह क्रिया रुटीन बन जाती है और उस कार्य में हमें आनन्द मिलता है। धर्मक्रिया में हमें 'लाभ' दिखना चाहिये, कुछ प्राप्ति दिखनी चाहिये... तो आनन्द का अनुभव होगा। सबसे बड़ा लाभ होता है विमल... निर्मल भावों का! चित्त निर्मल भावों से लबालब भर जाता है! यही धर्म है, यही धर्म का फल है।

धर्मक्रिया में एकाग्रता और अर्थज्ञान चाहिये :

धर्मक्रिया के प्रति प्रीति का भाव होगा तो मन एकाग्र बनेगा। जहाँ प्रेम होता है, वहाँ मन एकाग्र बनता ही है। धर्मक्रिया के साथ मन का जुड़ना अति महत्वपूर्ण है। उस-उस धर्मक्रिया के भाव में मन को जोड़ना चाहिए।

यदि धर्मक्रिया के साथ मन जुड़ जाता है तो क्रिया 'अमृतक्रिया' बन जाती है। क्रिया करनेवाले का हृदय आनन्द से भर जाता है। उसकी आत्मा में विमलभावरूप धर्म पैदा होता है।

परंतु धर्मक्रिया में मन तब जुड़ेगा, जब उस धर्मक्रिया के सूत्रों के अर्थ-भावार्थ का ज्ञान होगा। अपनी सारी धर्मक्रियाओं के सूत्र संस्कृत और प्राकृत भाषा में हैं। ज्यादातर प्राकृत भाषा में है। दो-तीन सूत्र गुजराती भाषा में है। आप गृहस्थ लोगों को प्राकृत-संस्कृत भाषा का तो ज्ञान ही नहीं है। आप कैसे उन सूत्रों का भावार्थ समझ पाओगे? इसलिये सूत्रों का अर्थज्ञान व्यवस्थित रूप से ग्रहण करना चाहिये। धार्मिक पाठशालाओं में भी अर्थज्ञान विशेष रूप से देना चाहिये।

प्रत्येक धर्मक्रिया के प्राण होते हैं सूत्र। सूत्रों का उच्चारण और शुद्धि भी विशेष महत्व रखती है। उच्चारण स्पष्ट होना चाहिये और अशुद्धियाँ नहीं होनी चाहिये। शुद्ध और स्पष्ट सूत्रोच्चार के साथ अर्थ का उपयोग होना चाहिये। तब मन की एकाग्रता सहजता से प्राप्त होगी।

व्रतमय विशेष गृहस्थधर्म प्रदान करने की और ग्रहण करने की क्रिया, धर्मग्रहण करनेवाले शिष्य के लिए, श्रमणोपासक के लिये फलवती बनती है। जिनवचन के अनुसार विधिपूर्वक धर्मग्रहण करने से चित्त में विमल भाव... निर्मल भाव जाग्रत होते हैं, यही फलवत्ता है धर्मग्रहण की।

धर्मग्रहण में गुरु-अनुग्रह आवश्यक :

विधिपूर्वक सद्गुरु से धर्मग्रहण करने से गुरु-अनुग्रह यानी गुरुकृपा प्राप्त होती है। गुरु के हार्दिक आशीर्वाद के साथ धर्म ग्रहण करनेवाला मुमुक्षु आत्मा, प्रायः व्रतपालन में सफल बनता है। व्रतपालन में उसका उत्साह बढ़ता है।

आचार्यदेव देवचन्द्रसूरीश्वरजी, चांगदेव को लेकर धंधुका से विहार कर, खंभात पधार जाते हैं। चांगदेव को विधिपूर्वक साधुधर्म प्रदान करना था। चांगदेव ने गुरुकृपा तो प्राप्त कर ही ली थी।

सभा में से : आचार्यदेव ने चांगदेव को सीधा साधुधर्म देने का निर्णय क्यों किया? पहले गृहस्थधर्म देते, उसका पालन करवाते और बाद में साधुधर्म देते तो उचित नहीं था?

महाराजश्री : राजमार्ग तो यही है कि पहले श्रावकधर्म का पालन करें और बाद में साधुधर्म को स्वीकार करें। साधुधर्म का पालन करने के लिये वही मनुष्य योग्य माना गया है कि जिसने श्रावकधर्म का पालन समुचित रूप में किया हो। श्रावकधर्म का अभ्यास करते हुए परिपक्वता प्राप्त होती है, व्रतपालन की दृढ़ता प्राप्त होती है। इससे साधुधर्म के पालन में सरलता रहती है।

परंतु हर नियम का अपवाद होता है! चांगदेव में आचार्यदेव ने वैसी योग्यता देखी थी कि 'यह लड़का श्रावकधर्म का पालन किये बिना भी साधुधर्म का पालन करने में समर्थ है, शक्तिमान है।' योग्यता को देखनेवाले आचार्यदेव विशिष्ट ज्ञानी थे। चांगदेव का भविष्य देखने की क्षमता थी उनमें। इसलिये उन्होंने चांगदेव को सीधा ही साधुधर्म देने का निर्णय किया था। ऐसे महापुरुषों का अनुकरण हर कोई साधु या आचार्य नहीं कर सकते हैं।

आचार्यदेव खंभात पधारे। खंभात में उस समय महामंत्री उदयन जैन संघ के अग्रणी थे। आचार्यदेव ने उनको बुलवाया। चांगदेव की दीक्षा के विषय में उनसे परामर्श किया और श्रेष्ठ मुहूर्त में उनको दीक्षा दी गई। दीक्षामहोत्सव उदयन मंत्री ने किया। चांगदेव का नाम मुनि सोमचंद्र रखा गया।

सब कुछ जिनाज्ञानुसार एवं विधिपूर्वक किया गया। सोमचन्द्र मुनि, साधुधर्म

प्राप्त होने पर अत्यंत प्रफुल्लित हो गये। विमल भाव उल्लसित हो गये। शुभ भावों की बाढ़ आ गयी उनके हृदय में।

गुरुदेव ने सोमचंद्र मुनि का अध्ययन शुरु करवाया। बहुत थोड़े वर्षों में उन्होंने जिनागमों का अध्ययन कर लिया। संस्कृत-प्राकृत भाषा के भी वे ज्ञाता बन गये। वेदान्त, बौद्ध, न्याय आदि दर्शनशास्त्रों के भी वे पारंगत हो गये। ज्ञानोपासना, ज्ञानप्राप्ति ही उनका जीवनरस बन गया। तरुण अवस्था पूर्ण हुई, यौवन में प्रवेश हुआ। एक दिन उन्होंने गुरुदेव से सुना कि पूर्वकालीन भद्रबाहुस्वामी वगैरह महापुरुषों के पास 'पदानुसारी प्रज्ञा' थी। इसकी वजह से वे 'चौदह पूर्व' के ज्ञाता बने थे। उनके मन में इस बात को लेकर कई दिनों तक चिंतन चलता रहा। एक दिन उन्होंने गुरुदेव को विनयपूर्वक अपने मन की बात बता दी :

'गुरुदेव, मैंने मेरी अल्पबुद्धि से जिनागमों का ज्ञान तो संपादन किया है, परंतु विशेष ज्ञान प्राप्त करने के लिये मैं देवी सरस्वती की उपासना करना चाहता हूँ। इसलिए काश्मीर जाना चाहता हूँ। यदि आपकी आज्ञा हो और आपको उचित लगता हो तो।'

आचार्यदेव ने सोमचन्द्र मुनि में ज्ञानप्राप्ति की असाधारण तृषा देखी। समस्त द्वादशांगी का परिपूर्ण ज्ञान संपादन करने की तीव्र इच्छा देखी। फिर भी वे भावावेश में नहीं बह गये। प्रिय शिष्य की प्रशस्त इच्छा को देखते हुए गुरुजन प्रायः भावावेश में बह जाते हैं। 'इसकी अच्छी भावना है... तो इजाजत दे दो...।' ऐसा होता है। परंतु आचार्य श्री देवचन्द्रसूरिजी भावप्रवाह में बहनेवाले नहीं थे। उन्होंने ध्यान के आलोक में सोमचन्द्र मुनि का भविष्य देखा। 'क्या सोमचन्द्र मुनि देवी सरस्वती के अनुग्रह के पात्र बनेंगे?'

मात्र जैन संघ को ही नहीं, मात्र देश को ही नहीं, परंतु पूरे विश्व को हेमचन्द्रसूरि जैसी अद्वितीय ज्ञानप्रतिभा प्राप्त हुई, यह मात्र दैवयोग नहीं था। परंतु समर्थ गुरु और समर्पित शिष्य के सुभग संयोग की उपलब्धि थी। देवचन्द्रसूरिजी समर्थ गुरु थे। हेमचन्द्रसूरिजी समर्पित शिष्य थे। समर्पित और मेधावी शिष्य, समर्थ गुरु की कृपा का पात्र बनता है और अपूर्व प्रतिभा का धनी बनता है।

सोमचन्द्र मुनि की इच्छा थी काश्मीर जाकर देवी सरस्वती की आराधना करने की, परंतु वह इच्छा भी गुरुदेव के अधीन कर दी थी। गुरुदेव ने गंभीरता से सोचा उस इच्छा के विषय में। जब उनको सफलता का संकेत मिला तब उन्होंने सोमचन्द्र मुनि को काश्मीर जाकर देवी सरस्वती की आराधना करने की इजाजत दी। साथी मुनिवरों के साथ सोमचन्द्र मुनि ने शुभ मुहूर्त में प्रस्थान भी कर दिया।

पहला ही मुकाम था। 'उज्जयन्तावतार' नाम के चैत्य में रात्रि के समय, सोमचन्द्र मुनि ने मांत्रिक स्नान कर, सरस्वती का ध्यान प्रारंभ किया। ध्यानलीन हो गये। तमन्ना थी न सरस्वती का वरदान प्राप्त करने की? काश्मीर तो जब पहुँचेंगे तब पहुँचेंगे...! 'उज्जयन्तावतार' जिनमंदिर का स्थान उनको उपयुक्त लगा और आराधना शुरु कर दी। ध्यान लग गया। लीनता प्राप्त हो गई। मध्य रात्रि का समय हुआ। और सोमचन्द्र मुनि के प्रति आकर्षित होकर, वागीश्वरी देवी सरस्वती साक्षात् प्रगट हुई। उनके वाम कर में पुस्तक था और दक्षिण कर में वरदायिनी अक्षमाला थी। उज्ज्वल कान्तिमय देहप्रभा थी उनकी। ऐसी देवी भारती, प्रफुल्लित पद्म की पंखुड़ियों सदृश नेत्रों से स्नेहार्द्र भाव से सोमचन्द्र मुनि को देखती हुई कहती है :

'हे मुनिवर, मुझे प्रसन्न करने के लिये अब तुझे काश्मीर जाने की आवश्यकता नहीं है। तेरी भक्ति से एवं ध्यान से मैं यहाँ ही तुम पर प्रसन्न हुई हूँ। मेरे प्रसाद से तू सिद्ध सारस्वत होगा।' ऐसा वरदान देकर तुरंत ही विद्युत की तरह अदृश्य हो गई।

सोमचन्द्र मुनि का शरीर रोमांचित हो गया था। उनकी आँखों से हर्षाश्रु बह रहे थे। उनकी प्रज्ञा सूर्यप्रभा के समान तेजस्वी बन गई थी। शेष रात्रि उन्होंने देवी सरस्वती की स्तवना में व्यतीत की। प्रभात में आवश्यक कार्यों से निवृत्त होकर वे वापस गुरुदेव के पास पहुँचे।

'मत्थएण वंदामि' बोलते हुए उपाश्रय में प्रवेश कर, गुरुदेव के उत्संग में अपना सर रख दिया। गुरुदेव ने अपने प्रिय शिष्य के सर पर हाथ रखा और अपूर्व हर्ष महसूस किया। देवी सरस्वती की परम कृपा से सोमचन्द्र मुनि के मुँह पर तेजस्विता की किरणें फैल रही थी। सोमचन्द्र मुनि ने रात्रि का समग्र वृत्तान्त गुरुदेव को कह सुनाया। गुरुदेव को अति हर्ष हुआ। उन्होंने देवी सरस्वती की स्तुति की और सोमचन्द्र मुनि की सभी मुनिवरों के सामने प्रशंसा की।

सभा में से : क्या गुरु शिष्य की प्रशंसा कर सकते हैं?

महाराजश्री : क्यों नहीं? जब शिष्य अद्वितीय... असाधारण आराधना करता है, सिद्धि प्राप्त करता है, जिनशासन की प्रभावना करता है... अभिनव धर्मग्रंथों की रचना करता है, तब गुरुदेव उनकी प्रशंसा करते ही हैं, प्रशंसा करनी ही चाहिये। क्या स्थूलभद्र मुनिवर, कोशा के वहाँ चातुर्मास कर, कोशा को श्राविका बनाकर गुरुदेव के पास गये थे तब गुरुदेव ने स्थूलभद्रजी की प्रशंसा नहीं की थी? भरपूर प्रशंसा की थी।

गुणवान् प्रज्ञावंत शिष्य के असाधारण कार्यों की प्रशंसा करने से शिष्य सत्कार्य के प्रति विशेष उल्लसित होता है। उसका उत्साह बढ़ता है। गुरु के प्रति उसकी श्रद्धा दृढ़ होती है, समर्पणभाव बढ़ता है।

गुरु जैसे शिष्य को उपालंभ दे, वैसे प्रसंगोपात प्रशंसा भी करे :

इसलिये विशेष प्रसंगों में, संतुलित शब्दों में गुरु शिष्य के गुणों की, महान् कार्य को प्रशंसा करते रहें। प्रशंसा कभी करें ही नहीं और मात्र दोष बताकर उपालंभ ही देते रहेंगे तो शिष्य के हृदय में गुरु के प्रति अभाव... दुर्भाव बढ़ता जायेगा। जबकि शिष्य के हृदय में कभी भी गुरु के प्रति दुर्भाव तो पैदा ही नहीं होना चाहिये। गुरु को गुणवान् प्रज्ञावान् मेधावी शिष्यों के मनोभावों का खयाल करना चाहिये, ऐसी जिनाज्ञा है। शिष्यों के हृदय चारित्र धर्म की आराधना में उल्लसित बने रहें, इसलिये गुरु को 'सायकोलोजिकल ट्रीटमेंट' यानी मानसिक चिकित्सा भी करनी चाहिये।

श्री देवचन्द्रसूरीश्वरजी, सोमचन्द्र मुनि की तब भरपूर प्रशंसा करते हैं, जब सोमचन्द्र मुनि देवी सरस्वती की परम कृपा प्राप्त कर लौटे हैं। 'सिद्ध सारस्वत' बन कर लौटे हैं। सभी सहवर्ती मुनिवर, सोमचन्द्र मुनि की प्रशंसा करते हैं।

इस विषय में एक सावधानी रखने की होती है। शिष्य को गुरु से प्रशंसा की अपेक्षा नहीं रखने की है। और गुरु को शिष्य के सत्कार्यों की उपेक्षा नहीं करने की है। यदि शिष्य, गुरु से प्रशंसा की अपेक्षा रखेगा तो वह जब प्रशंसा सुन नहीं पायेगा तब गुरु के प्रति नफरत करने लग जायेगा। गुरु ने ९९ बार प्रशंसा की होगी, एक बार नहीं की... तो वह शिष्य बोल देगा-'गुरुमहाराज को मेरी कोई कद्र नहीं है। गुरु स्वार्थी है...' वगैरह।

हालाँकि अयोग्य और अपात्र शिष्य की प्रशंसा करने की है ही नहीं। जो शिष्य प्रशंसा नहीं चाहता है, उसकी ही प्रशंसा करने की है! ज्ञान-दर्शन और चारित्र में शिष्य का उल्लास बढ़ाने की दृष्टि से कभी-कभी उसकी 'उपबृंहणा' करने की है।

सोमचन्द्र मुनि जैसे प्रज्ञावान् थे वैसे ही गुणवान् थे। गुरुदेव ने जब उनकी प्रशंसा की, वे शरमा गये और दूसरे खंड में चले गये। उनके मन में तो एक मात्र ज्ञानरमणता थी। अब उनको देवी सरस्वती का वरदान मिल गया था! उन्होंने ज्ञान की चार शाखाओं में पारंगतता प्राप्त की। तर्क [न्यायशास्त्र] शास्त्र में निपुण बने। वेदान्तदर्शन का रहस्य प्राप्त कर लिया। इतिहास [भगवान् ऋषभदेव से...] के पारगामी बने और राजनीति में कौशल्य प्राप्त किया।

तर्कशास्त्र की आवश्यकता :

सोमचन्द्र मुनि प्रज्ञावान् थे इसलिये तर्कशास्त्र का ज्ञान होना बहुत ही आवश्यक था उनके लिए। तर्कशास्त्र बुद्धि को तेजस्वी बनाता है। हर तत्त्व को सोचने का व्यवस्थित मार्ग बताता है। हर बात की सत्यासत्यता का निर्णय करने की क्षमता प्रदान करता है। स्वमत को सिद्ध करने की और परमत का खंडन करने की क्षमता प्रदान करता है। वाद-प्रतिवाद करनेवालों को तो तर्कशास्त्र का अध्ययन करना ही चाहिए। तर्कशास्त्र के अध्ययन के बिना मनुष्य वाद-विवाद नहीं कर सकता। करने जाता है तो पराजित होता है! अपमानित होता है। दार्शनिक ग्रंथों के अध्ययन के लिए भी तर्कशास्त्र का ज्ञान चाहिये।

वेदान्तदर्शन का अध्ययन आवश्यक :

सोमचन्द्र मुनि वेदान्तदर्शन के पारगामी बने थे। वेदान्तदर्शन में सांख्यदर्शन, योगदर्शन और वैशेषिक दर्शन का समावेश हो जाता है। चूँकि ये तीनों दर्शन वेद की मान्यता पर खड़े हैं। आपस के कुछ-कुछ मतभेदों पर वे अलग-अलग अस्तित्व लिये हुए हैं। सोमचन्द्र मुनि ने बौद्धदर्शन का और चार्वाकदर्शन [नास्तिक] का भी गहरा अध्ययन किया था।

आवश्यक था उस समय इन दर्शनों का अध्ययन। चूँकि राजसभाओं में भिन्न-भिन्न दर्शनों का आपस में वाद-विवाद होता था। उन वाद-विवादों मे जय-पराजय का बड़ा महत्त्व रहता था। राजा उन विवादों में रस लेते थे। इसलिये इसका असर प्रजा पर पड़ता था। कभी-कभी तो, जिस दर्शन वाले हारते उनको उस राज्य को छोड़कर दूसरे राज्य में जाना पड़ता था। इसलिये हर दर्शन के, हर धर्म के धर्मगुरु स्वदर्शन के अध्ययन के साथ-साथ परदर्शन का अध्ययन भी करते थे। तर्कशास्त्र का अध्ययन तो सभी दर्शन के विद्वानों को करना ही पड़ता था।

उस काल में जैन और बौद्ध के बीच, जैन और वेदान्ती के बीच, बौद्ध और वेदान्ती के बीच... प्रायः वाद-विवाद होते ही रहते थे। भारत में अनेक राजा थे। हर राजा कोई न कोई धर्म का पालन करता था। जिस धर्म का राजा पालन करता था। उस धर्म के विद्वानों को, विद्वान् साधु-संन्यासियों को राजा अपनी राजसभा में स्थान देता था और अन्य धर्म के विद्वानों के साथ वाद-विवादों का आयोजन करता रहता था।

वर्तमान में न रहे राजा और न रहे वैसे वाद-विवाद! आज तो भारत धर्मनिरपेक्ष राज्य है। सभी धर्मों का समान स्थान है। इस देश में। फिर भी दर्शनों का अध्ययन

आज भी किया जाता है। इससे बुद्धि और ज्ञान, दोनों का विकास होता है। दार्शनिक मतभेदों के ज्ञान से बहुत सी बातें सीखने को मिलती हैं।

श्री सोमचन्द्र मुनि ने इतिहास का ज्ञान, देवी सरस्वती की कृपा से प्राप्त किया था। **'त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र'** इस बात का साक्षी है। इतिहास प्रामाणिक होना चाहिये। आज-कल यानी दो सौ वर्ष से हमारे देश के स्कूलों में जो इतिहास पढ़ाया जाता है, वह अंग्रेजों द्वारा लिखा गया इतिहास पढ़ाया जाता है। इसमें नहीं है धर्म का इतिहास, नहीं है जाति का इतिहास, नहीं है संस्कृति का या साहित्य-कला का इतिहास! इसमें है हिन्दुओं के पराजयों का इतिहास, मुगलों के विजय का इतिहास, अंग्रेजों की बहादुरी का इतिहास!

इतिहास का अध्ययन करना हो तो 'त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र' का अध्ययन करना चाहिए। मूल ग्रंथ संस्कृत भाषा में लिखा गया है। हिन्दी भाषा में इसका अनुवाद हुआ है। अंग्रेजी भाषा में भी अनुवाद हो गया है। हालाँकि विश्व की दूसरी भाषाओं में भी अनुवाद होना बहुत आवश्यक है।

ठीक है, यह काम तो होता रहेगा, परंतु आप लोग कब पढ़ेंगे इस ग्रंथ को? बहुत ही रसपूर्ण ग्रंथ है यह। फालतू किताबें पढने की बजाय, ऐसे ग्रंथ पढ़ो तो आपका ज्ञान बढ़ेगा और दिमाग भी कुछ सुधरेगा।

कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्रसूरीश्वरजी [सोमचन्द्र मुनि] ने इस ग्रंथ की रचना कर, वास्तव में अद्भुत कार्य किया है।

राजनीति का ज्ञान महापुरुषों को होना चाहिये :

श्री सोमचन्द्र मुनि ने राजनीति का भी गहरा अध्ययन किया था। चूँकि वह राजशाही का युग था। धर्म राज्याश्रित होते थे। इसलिये, जिम्मेदार जैनाचार्यों को राजाओं के साथ व राजनीतिज्ञों के साथ संपर्क बनाये रखना पड़ता था। धर्मरक्षा और धर्मप्रसार-दो हेतु थे इस संपर्क के। मात्र जैनाचार्य ही नहीं, अन्य-अन्य धर्माचार्य भी राजाओं से संपर्क रखते थे। जब राजा, राजपरिवार व राजनीतिज्ञों से संपर्क रखना अनिवार्य हो तब राजनीति का अध्ययन बहुत ही आवश्यक होता है। श्री हेमचन्द्रसूरीश्वरजी का पहला परिचय राजा सिद्धराज जयसिंह के साथ था और बाद में राजा कुमारपाल के साथ परिचय हुआ। और दोनों राजाओं के माध्यम से उन्होंने धर्मरक्षा तो की ही थी, धर्म का प्रसार भी कितना अद्भुत किया था! आगे बताऊँगा इस चरित्रग्रंथ के माध्यम से।

राजाओं के इर्द-गिर्द कूटनीति... कूट-कपट... वगैरह चलता रहता था।

इसमें यदि राजनीति का ज्ञान न होता तो मनुष्य बुरी मौत मारा जाता था। राजा का कोपभाजन बन जाता था।

जिनशासन की परंपरा में, राजाओं को धर्मसन्मुख कर, उनके द्वारा प्रजा में धर्मप्रसार करने की पद्धति हजारों वर्षों से चलती थी। अनेक महान् आचार्यों ने राजाओं को प्रतिबुद्ध कर धर्मप्रसार किया था, परंतु हेमचन्द्राचार्यजी ने राजा कुमारपाल को प्रतिबुद्ध कर देश में जो अहिंसाधर्म का प्रसार किया था वह अद्वितीय था, अद्भुत था।

अलबत्ता, श्री हेमचन्द्रसूरिजी ने मात्र राजनीति के ज्ञान से ही यह काम नहीं किया था, उनके पास दैवी शक्तियाँ भी थीं और अद्भुत वचनशक्ति भी थी। सब कुछ मिलाकर जो उनकी दिव्य प्रतिभा बनी थी, उस प्रतिभा से उन्होंने धर्मशासन की उन्नति की थी। धर्मशासन की उन्नति की बातें आगे बताऊँगा, प्रस्तुत में 'धर्मबिन्दु' के ग्रंथकार महर्षि, धर्मग्रहण एवं धर्मप्रदान की जो बात बता रहे हैं, उस बात का उपसंहार कर आज का प्रवचन पूर्ण करूँगा।

-जिस मनुष्य ने सद्गुरु से श्रावक-जीवन के व्रतों का स्वरूप सुना है, समझा है और व्रत ग्रहण करने का सोच-समझकर निर्णय किया है, ऐसे व्यक्ति को जिनवचनानुसार विधिपूर्वक सद्गुरु से व्रत ग्रहण करने चाहिए।

ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि 'धर्म तो विशुद्ध चित्त में से ही पैदा होता है। अपना मन निर्मल है तो फिर गुरु के पास जाकर व्रत स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है? विधि-विधान की क्या आवश्यकता है?'

आवश्यकता है इन सभी बातों की। इन बातों से विमल भाव की प्राप्ति होती है। चित्त में विमल भावों की बाढ़ आ जाती है। यही तो श्रेष्ठ उपलब्धि है। श्रेष्ठ फल की प्राप्ति है।

विमल... विशुद्ध भावों को जाग्रत करनेवाली प्रशस्त धार्मिक क्रियाओं का कभी भी अनादर नहीं करना चाहिये। धार्मिक क्रियाओं के प्रति अनादर... अनुत्साह वाले कुछ विद्वान लोग आप जैसे सरल लोगों को भ्रमित नहीं कर दें, इसलिए जाग्रत रहना। आजकल तो आप लोग सब जगह सुनने जाते हो न? दिमाग ठिकाने रख कर सुनना। अन्यथा उत्पथ पर चले जाओगे। जो धर्मक्रियायें आप करते हो वह भी छोड़ दोगे! दूसरी पापक्रियायें शुरु कर दोगे। दिमाग मलीन भावों से भर जायेगा।

एक परिचित भाई की बात है। वे प्रतिदिन परमात्मा की पूजा करते थे। दो-तीन वर्ष के बाद जब वे मिले, मैंने पूछा :

'क्यों परमात्मपूजा नियमित करते हो न?'

'नहीं साब, मैंने दो वर्ष से पूजा करना छोड़ दिया है।'

'क्यों?'

'महाराज साहब, आत्मा ही परमात्मा है... फिर मंदिर में जाकर क्यों पूजा करना?'

'तो फिर, आत्मा मूल स्वरूप में अणाहारी है, फिर भोजन क्यों करना? जैसे पूजा छोड़ दी वैसे भोजन भी छोड़ देना चाहिये! आत्मा मूल रूप से परमात्मा है, वैसे आत्मा मूल रूप से अणाहारी है!'

वे भाई विचार में डूब गये। मैंने पूछा :

'पूजा छोड़कर, उस समय और क्या करते हो? धार्मिक अध्ययन भी नहीं करते होगे! चूँकि आत्मा मूल रूप में अनंत ज्ञानी है! फिर पढ़ने की क्या जरुरत? जो मूल रूप में है वह नहीं करने का... क्यों? जो मूल रूप में नहीं हो... वह सब कुछ करने का? हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ... यह सब करने का! ये सारी पापक्रियायें करने की?'

वह भाई समझ गया। उसने दूसरे दिन से परमात्मा की पूजा शुरु कर दी। आज भी कर रहे हैं। अच्छी धर्मक्रियायें करते रहो। छोड़ो नहीं। धर्मक्रियायें छोड़ दोगे तो पापक्रियायें जीवन में प्रविष्ट हो जायेंगी।

व्रतमय श्रावकधर्म ग्रहण करनेवाले मनुष्य में एक महत्वपूर्ण गुण होना आवश्यक होता है। वह गुण कौन सा है, वह आगे बताऊँगा। आज बस, इतना ही।

- सति सम्यग्दर्शने न्याय्यमणुव्रतादीनांग्रहणं नान्यथा ॥

- जिनवचनश्रवणादेः कर्मक्षयोपशमादितः सम्यग्दर्शनम् ॥

- प्रशमसंवेगनिर्वेदानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं तत् ॥

परमकृपानिधि महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरीश्वरजी स्वरचित **'धर्मबिन्दु'** ग्रंथ के तीसरे अध्याय में गृहस्थजीवन का विशेष धर्म बता रहे हैं। वह विशेष धर्म है, बारह व्रतमय श्रावकधर्म। यह श्रावकधर्म तभी फलदायी बनता है, जब ग्रहण करनेवाले में सम्यग्दर्शन का गुण प्रगट हुआ हो। इसलिए धर्म प्रदान करनेवाले सद्गुरु सम्यग्दृष्टि जीव को ही विशेषधर्म प्रदान करते हैं।

सम्यग्दर्शन यानी श्रद्धा और व्रत यानी विरति। श्रद्धा के बिना विरति नहीं हो सकती है। कितनी वास्तविक बात कही है ग्रंथकार ने। बीज के बिना वृक्ष नहीं वैसे श्रद्धा के बिना विरति नहीं। हाँ, बिना बीज के वृक्ष होते हैं... परंतु कागज के... प्लास्टिक के। वे वास्तविक वृक्ष नहीं होते हैं, वृक्ष का आभास ही होता है। उन वृक्षों पर फल भी लटकते हैं परंतु वह भी आभास ही होता है। फल खाने के नहीं होते, मात्र देखने के होते हैं। वैसे बिना श्रद्धा के कोई व्रतधारी बन भी जाय, तो उसके व्रत मात्र आभास होते हैं! उसके व्रत कागज के या प्लास्टिक के वृक्ष समान होते हैं। निष्फल होते हैं। बिना श्रद्धा के व्रतों का कोई मूल्य नहीं बताया है सर्वज्ञ वीतराग भगवंतों ने।

इस प्रतिपादन का यह अर्थ होता है कि पहले श्रद्धावान होना चाहिये। सम्यग्दर्शन गुण प्रगट होना चाहिये।

टीकाकार आचार्यश्री ने मिथ्यात्वी जीव को 'ऊसर भूमि' के समान बताया है। जिस भूमि में धान्य पैदा नहीं होता है उसको ऊसर भूमि कहते हैं। ऐसी भूमि में यदि किसान बीज बोता भी है, तो वे बीज अंकुरित नहीं होते हैं, नष्ट हो जाते हैं। वैसे, जिस जीवात्मा में सम्यग्दर्शन-गुण पैदा नहीं हुआ हो, जो मिथ्यात्वी है, उसको व्रत दिये भी जाएँ, तो वे व्रत नष्ट हो जाते हैं। व्रतों का भाव विकसित नहीं होता है।

इसलिए व्रतधारी होने से पूर्व श्रद्धावान् होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। 'व्रत लेने के लिये तत्पर बना हुआ मनुष्य श्रद्धावान्-समकितदृष्टि है या नहीं-' यह बात व्रत देनेवाले गुरुजनों को सोचने की है।

बिना सम्यग्दर्शन अणुव्रत भी नहीं :

सभा में से : जो जीव समकितदृष्टि नहीं हों, उनको अणुव्रत भी नहीं देने चाहिये क्या?

महाराजश्री : अणुव्रत हो, गुणव्रत हो या शिक्षाव्रत हो, ये व्रत विशेषधर्म हैं। जिस जीव में सम्यग्दर्शन न हो, उसको ये व्रत नहीं देने चाहिये। पहले उस मनुष्य को श्रद्धावान् यानी समकितदृष्टि बनाना चाहिए।

एक बात समझना कि मनुष्य की मान्यता को बदलना सरल काम नहीं है। कुछ समय के लिए व्रत देना सरल काम है! मनुष्य को समकितदृष्टि बनाने का काम मान्यता बदलने का काम है! मिथ्या मान्यता को मिटाकर सम्यग् मान्यता को आरोपित करने की होती है! यह काम बड़ा दुष्कर काम है। नास्तिक को आस्तिक बनाने का काम इतना दुष्कर होता है, जितना मूर्ख को बुद्धिमान् बनाना मुश्किल नहीं होता! रोगी को नीरोगी बनाना मुश्किल नहीं होता।

जो मनुष्य समकितदृष्टि हो, उसी को अणुव्रत देने चाहिये। मिथ्यादृष्टि मनुष्य को अणुव्रत नहीं देने चाहिये। जो देते हैं वे लेनेवालों का हित नहीं करते हैं, अहित करते हैं। लेनेवाला नहीं जानता है कि 'मैं मिथ्यादृष्टि हूँ इसलिए मुझे व्रत नहीं लेने चाहिए।' व्रत देनेवाले गुरुजनों को सोचने का यह विषय है।

आप लोग गंभीरता से सोचेंगे तो यह बात आपको तर्कपूर्ण लगेगी। कुछ उदाहरण से यह बात स्पष्ट करता हूँ।

पहला उदाहरण है किसान का। खेत में बीज बोने से पूर्व वह जमीन को सुयोग्य बनाता है। कांटे दूर करता है , जमीन को मृदु बनाता है, खाद डाल कर उपजाऊ बनाता है। बाद में बीज बोता है। अनुकूल हवा और पानी से बीज को अंकुरित करता है।

दूसरा उदाहरण है डॉक्टर का। ऑपरेशन करने से पूर्व वह दर्दी को देखता है। शरीरशक्ति, जीवनशक्ति देखता है। शरीर में सड़ा हुआ अंश निकालना है, नया अंश प्रत्यारोपित करना है... तो शरीर की योग्यता देखनी पड़ती है। योग्यता देखे बिना ऑपरेशन करने जाय तो मरीज 'टेबल' पर ही शायद मर जाय।

तीसरा उदाहरण है मकान का। नया मकान बनाना है तो जमीन की योग्यता देखी जाती है। उस जमीन में हड्डियाँ नहीं होनी चाहिये, उस मिट्टी की गंध अच्छी होनी चाहिये, वह जमीन मुर्दे जलाने की या गाड़ने की जगह नहीं होनी चाहिये... वगैरह देखा जाता है। सुयोग्य जगह पर मकान बनाने से, उस मकान में रहनेवाले

सुख-शान्ति पाते हैं।

ठीक इसी तरह आत्मा की योग्यता देखी जानी चाहिये व्रत देते समय। उसमें मिथ्यात्व नहीं होना चाहिये। यदि उसमें मिथ्यात्व हो तो उपदेश देकर उसका मिथ्यात्व दूर करना चाहिए। मिथ्यात्व दूर होने पर और सम्यग्दर्शन प्रगट होने पर ही उसको व्रत देने चाहिए।

सभा में से : मिथ्यादृष्टि को व्रत लेने की इच्छा होती है क्या?

महाराजश्री : हाँ, होती है! जिस प्रकार भूख नहीं होने पर भी भूख का अनुभव होता है न? उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि को व्रत-महाव्रत लेने की इच्छा होती है! व्रत के सही भाव नहीं होते हैं उनके। विरति-धर्म को वह समझ ही नहीं सकता है। इसलिए वह व्रत लेता भी है, व्रत के भावों से वंचित रहता है। भाववृद्धि से भी वह वंचित रहता है। इस दृष्टि से वह व्रत ग्रहण करने के लिए अयोग्य माना गया है। मिथ्यादृष्टि के प्रति द्वेष की भावना से यह नहीं कहा गया है। उसको समकितदृष्टि बनाकर व्रत देने की जिनाज्ञा बतायी गई है।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति दो प्रकार से :

सम्यग्दर्शन गुण की प्राप्ति कैसे होती है, यह बात समझाने से पूर्व 'मिथ्यात्व' को समझ लें। जैसे आत्मा अनादि है, वैसे मिथ्यात्व भी अनादि है। आत्मा के साथ अनादि से 'मिथ्यात्व मोहनीय' नाम का कर्म रहा हुआ है। परंतु ऐसा नियम नहीं है कि जो 'अनादि' होता है वह 'अनंत' होता है। जो अनादि होता है वह **'सांत'** और **'अनंत'** दो प्रकार का होता है। 'मिथ्यात्वमोहनीय कर्म' कुछ [थोड़े] जीवों के साथ अनंतकाल जुड़ा रहेगा और कुछ [ज्यादा] जीवों के साथ उसका संबंध कट जायेगा, यानी इस मिथ्यात्वमोहनीय कर्म से आत्मा मुक्त हो जायेगी। जो आत्मायें कभी न कभी शुद्ध-बुद्ध होनेवाली हैं वे **'भवी'** कहलाती हैं और ये आत्मायें मिथ्यात्वमोहनीय कर्म से मुक्त होती हैं। जो आत्मायें कभी भी शुद्ध-बुद्ध-मुक्त होनेवाली नहीं हैं वे **'अभवी'** कहलाती हैं और ये आत्मायें मिथ्यात्वमोहनीय कर्म से कभी मुक्त नहीं होती हैं। यानी ऐसी अभवी आत्माओं को कभी भी 'सम्यग्दर्शन' गुण प्राप्त नहीं होता है। वे अनादि-अनंतकाल मिथ्यादृष्टि ही बनी रहती हैं। जो जीव भवी होते हैं वे या तो जिनवचन सुनने से समकितदृष्टि बनते हैं अथवा 'निसर्ग' से बनते हैं। **'तथाभव्यत्व'** के परिपाक से जीव की वीर्यशक्ति उल्लसित होती है और उस वीर्यशक्ति से स्वतः मिथ्यात्वमोहनीय कर्म टूट जाता है। सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है।

सभा में से : 'तथाभव्यत्व' क्या होता है?

महाराजश्री : जैसे ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि आत्मा के गुण होते हैं वैसे तथाभव्यत्व भी आत्मा का गुण है, अक्षय गुण है। जब यह गुण परिपक्व होता है यानी आत्मा की मुक्ति निकट होती है, तब आत्मा का वीर्यगुण उल्लसित होता है और सम्यग्दर्शन-गुण प्रगट हो जाता है। इसको **'निसर्ग समकित' [सम्यग्दर्शन]** कहते हैं। उपदेश आदि निमित्तों से जो सम्यग्दर्शन पैदा होता है उसको **'अधिगम समकित'** कहते हैं।

सम्यग्दर्शन का स्वरूप बताते हुए टीकाकार आचार्यदेव ने सात बातें बतायी हैं :

१. तत्त्वश्रद्धानलक्षणं [जिसका लक्षण तत्त्वश्रद्धा है]
२. विपर्ययव्यावृत्तिकारि [जो विपर्यास को दूर करनेवाला है]
३. असदभिनिवेशशून्यं [जो असत् आग्रहों से रहित है]
४. शुद्धवस्तुप्रज्ञापनानुगतं [जो हर वस्तु का शुद्ध स्वरुप बताता है]
५. निवृत्ततीव्रसंक्लेशं [जो चित्त का तीव्र संताप दूर करता है]
६. उत्कृष्टबन्धाभावकृत् [कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति नहीं बांधने देता है]
७. शुभात्मपरिणामरूपं सम्यग्दर्शनम्। [जो शुभ आत्मपरिणाम-रूप है]

अब एक-एक बात को स्पष्टता से समझ लो। हालाँकि ज्यादा विस्तार तो नहीं करुँगा, संक्षेप में समझाऊँगा। चूँकि चातुर्मास में ही तीसरा अध्याय पूरा करना है। अन्यथा, इन सात बातों को विस्तार से विवेचित करने में महीने भी कम पड़ सकते हैं!

१. सम्यग्दर्शन का लक्षण तत्त्व श्रद्धा :

यदि मनुष्य तीन तत्त्वों के प्रति श्रद्धावान् है, तो मानना चाहिये कि उस आत्मा में सम्यग्दर्शन-गुण प्रगट हुआ है। ये तीन तत्त्व हैं-परमात्मा, सद्गुरु और सद्धर्म।

जिन्होंने राग-द्वेष का समूल उच्छेद कर दिया है, जो वीतराग बने हैं और जो सर्वज्ञ हैं, उनको ही परमात्मा मानता हो, ऐसे वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा के बताये हुए मोक्षमार्ग पर जो चलते हों और विशुद्ध मोक्षमार्ग का उपदेश देते हों-ऐसे साधुपरुषों को ही जो सद्गुरु मानता हो, और वीतराग-सर्वज्ञ द्वारा बताये हुए अहिंसामूलक धर्म को ही जो सद्धर्म मानता हो, तो समझना चाहिए कि उसमें सम्यग्दर्शन-गुण प्रगट हुआ है। वह जीवात्मा समकितदृष्टि है!

ऐसी श्रद्धावान् आत्मा को जब जिनोक्त नौ तत्त्वों की समझदारी और श्रद्धा होती है, तब उनका सम्यग्दर्शन-गुण सुदृढ़ होता है और समुज्ज्वल बनता है। ये

नौ तत्त्व हैं-जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, बंध, निर्जरा और मोक्ष। ज्यों-ज्यों आप लोग इन नौ तत्त्वों का विस्तार से और गहराई में जाकर अध्ययन करते जाओगे, आपको सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा के प्रति प्रीतिभाव बढ़ता जायेगा। जिनशासन के प्रति श्रद्धा अविचल बनती जायेगी। नौ तत्त्वों की श्रद्धा, आपके सम्यग्दर्शन का लक्षण है।

एक बात याद रखना, नौ तत्त्वों का मात्र ज्ञान होना, सम्यग्दर्शन के लिए पर्याप्त नहीं है, ज्ञान के साथ श्रद्धा चाहिये। श्रद्धा के साथ का ज्ञान, ज्ञान है, अन्यथा अज्ञान है।

२. सम्यग्दर्शन से विपर्यास दूर होता है :

जब नौ तत्त्वों पर ज्ञानमूलक श्रद्धा होती है, तब तत्त्वविषयक कोई विपर्यास नहीं रहता है। विपर्यास यानी विरूद्ध ज्ञान। भ्रमात्मक ज्ञान। अंधेरे में रज्जु को देखकर सर्प का ज्ञान होता है न? नौ तत्त्व का यथार्थ बोध सारे विपर्यासों को मिटा देता है। विपरीत ज्ञान दूर हो जाता है।

जैसे, परमात्मा को निग्रह-अनुग्रह करनेवाला मानता था। जब परमात्मा को सर्वज्ञ-वीतराग-स्वरूप समझ लिये, निग्रह-अनुग्रहरूप विपर्यास-ज्ञान दूर हो गया।

पहले हिंसा और आरंभ-समारंभ से प्रचुर धर्म को धर्म मानता था। सम्यग्दर्शन का प्रकाश प्राप्त होने पर धर्म की पूर्व भ्रमणा टूट जाती है। अहिंसा मूलक सर्वज्ञभाषित धर्म को ही धर्म मानता है।

पहले आत्मा को या तो नित्य मानता था अथवा अनित्य मानता था। सम्यग्दर्शन के प्रकाश में उसका विपर्यास दूर हो जाता है, वह आत्मा को 'नित्यानित्य' मानता है। द्रव्य से नित्य और पर्याय से अनित्य मानता है।

पहले पृथ्वी-जल-अग्नि-वायु और आकाशरूप पंचभूत में ही आत्मा की मान्यता थी, सम्यग्दर्शन का प्रकाश प्राप्त होने पर पंचभूत से भिन्न आत्मा को मानता है। विपर्यास दूर हो जाता है।

इस प्रकार सभी तत्त्वों के विषय में समकितदृष्टि जीव का ज्ञान स्पष्ट हो जाता है। भ्रमणायें दूर हो जाती हैं।

३. असत् आग्रहों से सम्यग्दर्शन मुक्त होता है :

समकितदृष्टि जीव जैसे भ्रमणाओं से मुक्त होता है वैसे गलत आग्रह से भी मुक्त होता है। जो मनुष्य एकान्तवादी होता है, वही गलत आग्रहवाला होता है। अनेकान्तवाद को समझनेवाला और माननेवाला मनुष्य असत् आग्रह कभी नहीं करेगा। समकितदृष्टि मनुष्य अनेकान्तवाद को मानता है, अपेक्षावाद को मानता

है, इसलिए गलत आग्रह कभी नहीं करेगा। हाँ, सही आग्रह वह अवश्य करेगा।

जैसे, 'यह चंपकलाल पिता ही है अथवा मामा ही है,' ऐसा गलत आग्रह नहीं करते हो न? परंतु कोई कहे कि 'यह चंपकलाल उसके बेटे का पिता नहीं है... उसके भतीजे का पिता है...' तो आप स्पष्ट मना कर दोगे! आप आग्रह से कहोगे कि 'यह चंपकलाल अपने पुत्र की अपेक्षा पिता है और भतीजे की अपेक्षा चाचा है।'

संसार व्यवहार में जिस प्रकार आप गलत बात का आग्रह रखना पसंद नहीं करते वेसे समकितदृष्टि मनुष्य तत्त्वविषयक गलत आग्रह से मुक्त हो जाता है। 'आत्मा नित्य ही है,' ऐसा आग्रह नहीं होता है. वैसे 'आत्मा अनित्य ही है,' ऐसा गलत आग्रह भी उसको नहीं होता है। परंतु 'आत्मा नित्यानित्य ही है,' ऐसा सही आग्रह उसको अवश्य होता है! वैसे, 'आत्मा द्रव्यदृष्टि से नित्य है और पर्यायदृष्टि से अनित्य है,' ऐसा सही आग्रह होता है, परंतु कोई कहे कि 'आत्मा पर्यायदृष्टि से नित्य है और द्रव्यदृष्टि से अनित्य है,' तो वह नहीं मानेगा। स्पष्टता से इन्कार कर देगा।

सम्यग्दर्शन समुचित अपेक्षाओं से समन्वय स्थापित करता है। परंतु कोई अनुचित अपेक्षाओं से असमन्वय स्थापित करने का प्रयत्न करता है तो स्पष्ट निषेध कर देता है। असत् आग्रह नहीं करेगा, परंतु सत् आग्रह अवश्य करेगा। वह यथार्थवादी होगा।

आत्मा... परमात्मा... परलोक आदि अगम-अगोचर तत्त्वों के विषय में, मिथ्यादर्शन के अंधकार में जो आग्रह होते हैं वे सारे आग्रह, सम्यग्दर्शन का प्रकाश प्राप्त होने पर छूट जाते हैं।

४. सम्यग्दर्शन वस्तु का शुद्ध स्वरूप बताता है :

हर वस्तु के दो स्वरूप होते हैं-शुद्ध और अशुद्ध। मिथ्यादृष्टि जीव अशुद्ध स्वरूप देखता है यानी मानता है। समकितदृष्टि शुद्ध स्वरूप देखता है यानी मानता है। अर्थात् जो वस्तु, जो पदार्थ जैसा होता है, वैसा ही समकितदृष्टि देख सकता है, और दूसरों को बताता है।

मिथ्यात्व के अंधकार में जो वस्तु जैसी होती है वैसी दिखती ही नहीं है, फिर बताने की तो बात ही कहाँ? गलत दिखेगा, अशुद्ध दिखेगा तो अशुद्ध बतायेगा। सही दिखेगा, शुद्ध दिखेगा तो शुद्ध बतायेगा।

'कुमारपाल चरित्र' में नागपुर के श्रेष्ठि धनद की एक घटना बतायी गई है। आचार्यदेवश्री देवचन्द्रसूरीश्वरजी खंभात से विहार करते-करते नागपुर पधारे। नागपुर के श्री जैन संघ में अपूर्व उल्लास छा गया। लोग आचार्यदेव के प्रवचन

सुनने उमड़ने लगे। श्री सोमचन्द्र मुनि अपनी अपूर्व विद्वत्ता से एवं वचनशक्ति से बहुत ही लोकप्रिय बन गये।

इधर नागपुर में धनद नाम का धनाढ्य श्रीमंत जो बड़ा दानवीर था, विशाल परिवारवाला था और जिसने जगह-जगह निधान छिपाकर रखे थे, उसका दुर्भाग्य उदय में आया और सारी संपत्ति चली गई। इतनी दरिद्रता आ गयी कि विशाल हवेली की मात्र दीवारें बच गई। सब कुछ बिक गया। दोनों समय पूरा भोजन भी नहीं मिलता था। धनद श्रेष्ठि को इस समय वे निधान याद आये, जो जमीन में जगह-जगह गाड़े थे। उसके मन में उल्लास जगा। उसने वे निधान बाहर निकाले। परंतु उसने देखा तो सोनामोहरों की जगह काले कोयले थे! उसकी छाती बैठने लगी। वह भ्रमित सा हो गया। फिर भी अपने पापकर्मों का विचार करते-करते कुछ स्वस्थ बना। हवेली के एक भाग में कोयले का ढेर लगा दिया... कि जो एक बार निधान था! सोनामोहरें थीं।

धनद रोजाना उन कोयलों को देखता है और अपने दुर्भाग्य को कोसता है। वह अपनी सुशील पत्नी को कहता है :

'तावन्मतिः स्फुरति, वल्गति शास्त्रमन्तः,
शौन्डीर्यमुल्लसति भाति महत्वमुच्चैः।

यावन्मनोरथ रथ प्रथिताद्रिमार्गे न प्रतिकूलिकतमत्वमुपैषि दैव!!'

'मनुष्य की बुद्धि तब तक ही उल्लसित रहती है और शास्त्रों की चर्चा करती है, मनुष्य का गर्व भी तब तक उछलता रहता है और मनुष्य का महत्व भी तब तक दिखायी देता है, जब तक दैव [दुर्भाग्य] उसके मनोरथरूप रथ के मार्ग में आकर खड़ा नहीं रह जाता है!'

धनद अपने परिवार के साथ समतापूर्वक दुःख का समय व्यतीत करता था। एक दिन सोमचन्द्र मुनि, वीरचन्द्र गणी के साथ गोचरी लेने धनद श्रेष्ठि के घर पहुँचे। उस समय धनद परिवार के साथ हवेली के बाह्य भाग में बैठा था। सबके चेहरे म्लान थे। जैसे सभी बीमार हों वैसे लगते थे। नमक की राब सब पी रहे थे। सोमचन्द्र मुनि ने यह दृश्य देखा। हवेली को भी बाहर से और भीतर झाँक कर देखा। फिर उन्होंने वीरचन्द्रगणी को पूछा : 'महात्मन्, यह गृहस्थ इतना समृद्ध होते हुए भी एक रंक-निर्धन की तरह क्यों जी रहा है? राजा की तरह यह खा-पी सकता है और सुंदर मूल्यवान वस्त्र पहन सकता है...!'

वीरचन्द्र गणी ने कहा : 'मुनिराज, तुम हमेशा श्रीमंतों के वहाँ से भिक्षा लाते हो

इसलिए निर्धनों की परिस्थिति का अंदाज तुम्हें कैसे हो सकता है? तुम कभी दुःखी निर्धनों के घर भिक्षा लेने जाया करो तो वास्तविक परिस्थिति का ज्ञान हो सके!'

सोमचन्द्र मुनि ने कहा : 'हे महात्मन्, आप इस श्रेष्ठि को निर्धन... दुःखी क्यों कहते हो? इसके घर में तो सोना-मुहरों का ढेर पड़ा है... मैं देख रहा हूं न?' सोमचन्द्र मुनि की बात सुनकर वीरचन्द्र मुनि की आँखें आश्चर्य से विस्फारित हो गई। उन्होंने धीरे से पूछा : 'कहाँ हैं वे सोना-मुहरें?' सोमचन्द्र मुनि ने इशारे से वह ढेर बता दिया।

पास में ही खड़ा धनद श्रेष्ठि, दो मुनिवरों की बातें सुनता है। उसने वीरचन्द्रजी को पूछा : 'गुरुदेव, ये बाल मुनिराज क्या कहते हैं?'

वीरचन्द्र मुनि ने सारी बात बता दी। धनद ने भी उस कोयले के ढेर की ओर देखा... उसके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। कोयले सोना-मुहरें बन गये थे!

पहले, धनद को जो कोयले दिखते थे, सोमचन्द्र मुनि को उसका शुद्ध रूप सोना-मुहरें दिखता था। कोयला अशुद्ध रूप था! धनद के दुर्भाग्य से सोना-मुहरें कोयले के रूप में दिखती थी। सोमचन्द्र मुनि के पुण्यप्रकर्ष से वे सोना-मुहरें दिखने लगी! वैसे ही, मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से वस्तु का अशुद्ध स्वरूप दिखता है और सम्यग्दर्शन के प्रभाव से वस्तु का शुद्ध स्वरूप दिखता है।

धनद श्रेष्ठि हर्षविभोर हो गया। वह सोमचन्द्र मुनि के चरणों में गिर गया और बोला : 'हे मुनिराज, आप सचमुच महान् पुण्यशाली आत्मा हैं। आप तरुण हैं फिर भी आपका अद्भुत प्रभाव प्रकाशित हो रहा है। आपके दृष्टिपात मात्र से, जो सोना-मुहरें कोयले बन गई थी वे पुनः सोना-मुहरें बन गई हैं। आपने यह सुवर्णदान देकर मुझे और मेरे परिवार को नया जीवन दिया है। हे महात्मन्, एक और कृपा करें, इस सोना-मुहरों के ढेर को आप स्पर्श करें, ताकि वह पुनः कोयले न बन जायें!'

सोमचन्द्र मुनि ने सोना-मुहरों के ढेर को स्पर्श किया। धनद ने वह निधान, मुनिवरों के देखते ही भंडार में रख दिया। धनद और धनद के परिवार को परम आनंद हुआ। सबके मुख खिल गये। सबके हृदय उल्लसित हो गये।

दोनों मुनिवरों के साथ-साथ धनद भी उपाश्रय गया। गुरुदेवश्री को वंदन कर गद्गद स्वर में वह बोला : 'हे पूज्यवर, आपके शिष्य के प्रभाव से ही अंगार सुवर्ण बन गया है। वह सारा का सारा सुवर्ण आपका है। मुझ पर कृपा कर मुझे फरमायें कि मैं उस सुवर्ण का कैसे व्यय करूँ?'

आचार्यभगवंत ने कहा : 'महानुभाव, यह तुम्हारा कृतज्ञता-गुण है। तुम एक भव्य जिनालय का निर्माण कर सकते हो!'

धनद श्रेष्ठि ने नागपुर में भव्य जिनमंदिर का निर्माण किया और आचार्यश्री देवचन्द्रसूरीश्वरजी के करकमलों से श्री महावीर भगवंत की प्रतिमा की प्रतिष्ठा करवायी।

मिथ्यात्व चला जाता है और सम्यग्दर्शन गुण आत्मा में प्रगट होता है, तब अपूर्व भावोल्लास पैदा होता है। जिस प्रकार कि कोयले को सोना बना देखकर धनद को आनंद हुआ!

५. सम्यग्दर्शन तीव्र कषाय दूर करता है :

मिथ्यात्व चला जाता है उसके साथ अनन्तानुबंधी कषाय भी चले जाते हैं। मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी कषाय साथ-साथ रहते हैं। जहाँ मिथ्यात्व वहाँ अनन्तानुबंधी कषाय और जहाँ अनन्तानुबंधी कषाय वहाँ मिथ्यात्व! अनन्तानुबंधी कषाय यानी क्रोध, मान, माया और लोभ तीव्र कोटि के होते हैं! आत्मा को अनंत दुःख देनेवाले होते हैं, अनंतकाल संसार की दुर्गतियों में भटकानेवाले होते हैं, इसलिये वे अनन्तानुबंधी कहलाते हैं।

वैसे ये चार कषाय चार प्रकार के होते हैं-अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी और संज्वलन। सबसे ज्यादा तीव्र होते हैं अनन्तानुबंधी कषाय।

- ❖ अनन्तानुबंधी क्रोध को पहाड़ की दरार के समान बताया है। यानी पहाड़ फट जाय और दरार पड़ जाय, वह दरार मिटनी कितनी मुश्किल होती है? क्रोध वैसा होता है अनन्तानुबंधी का।
- ❖ अनन्तानुबंधी मान को पाषाण के स्तंभ की उपमा दी गई है। पाषाण का स्तंभ टूट सकेगा परंतु झुक नहीं सकेगा। अनन्तानुबंधी मान वैसा होता है।
- ❖ अनन्तानुबंधी माया, बाँस के मूल जैसी होती है। बाँस काटना सरल होता है परंतु बांस के मूल को काटना अति दुष्कर होता है। अनन्तानुबंधी माया वैसी होती है। लाख जनम बीतने पर भी यह माया दूर नहीं होती है।
- ❖ अनन्तानुबंधी लोभ 'कृमिराग' जैसा होता है। कृमिराग ऐसा रंग होता है कि जो रंग धोने पर भी दूर नहीं होता है। कपड़ा फट जायेगा परंतु रंग नहीं जायेगा। अनन्तानुबंधी लोभ वैसा होता है।

सम्यग्दर्शन आत्मा में प्रगट होने पर नहीं रहता है मिथ्यात्व और नहीं रहता है तीव्र कषाय, तीव्र संक्लेश। तीव्र कषाय दूर होने पर आत्मा में उपशम भाव पैदा होता है। कषायों की समयमर्यादा बंध जाती है। 'कषाय नहीं करने चाहिये, कषाय बुरे हैं,' यह बात आत्मा में जँच जाती है।

६. सम्यग्दर्शन कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति नहीं बाँधने देता है :

ज्ञानावरण आदि जो आठ कर्म हैं, सभी कर्मों की जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट स्थिति होती है। जघन्य यानी कम से कम और उत्कृष्ट यानी ज्यादा से ज्यादा। जैसे मोहनीयकर्म की उत्कृष्ट स्थिति [काल] जीव ७० कोड़ाकोड़ी सागरोपम की बाँध सकता है। [एक करोड़ x एक करोड़ = एक कोड़ाकोड़ी] परंतु यह उत्कृष्ट स्थिति मिथ्यात्वी जीव ही बाँधता है। सम्यग्दर्शन गुण प्रगट होने पर जीव उत्कृष्ट स्थिति नहीं बाँध सकता है। उत्कृष्ट स्थिति बाँधने के लिये अनन्तानुबंधी कषाय चाहिये, जबकि सम्यगदर्शन होने पर वे कषाय नहीं होते हैं। इसलिये समकितदृष्टि जीव अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरोपम की ही स्थिति बाँध सकता है। यानी एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम भी पूरा नहीं... थोड़ा कम!

सभा में से : 'सागरोपम' का क्या अर्थ?

महाराजश्री : काल का एक विराट नाप है। जैसे सौ वर्ष, हजार वर्ष... लाख वर्ष, करोड़ वर्ष... बोलते हैं वैसे पल्योपम वर्ष, सागरोपम वर्ष बोला जाता है। पल्योपम और सागरोपम आप तभी समझ सकते हैं, जब आपका गणित का विषय अच्छा हो। जिसका गणित अच्छा हो उसको ये नाम समझने चाहिये।

सम्यग्दर्शन का यह एक विशिष्ट प्रभाव है। अशुभ भावों का संयमन करता है। शुभ भावों को जाग्रत करता है।

७. सम्यग्दर्शन शुभ आत्मपरिणाम रूप है :

सम्यग्दर्शन-गुण आत्मा का ही शुभ परिणाम है। परिणाम यानी अध्यवसाय, परिणाम यानी भाव। आत्मा का ही शुभ भाव है। सम्यग्दर्शन कर्मोदयजन्य नहीं है, आत्मा में से प्रगट होता है। सम्यग्दर्शन का यह शुभ भाव तीन प्रकार का होता है :

- ❖ औपशमिक सम्यग्दर्शन
- ❖ क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन
- ❖ क्षायिक सम्यग्दर्शन

औपशमिक सम्यग्दर्शन :

समग्र भवचक्र में जीव को सर्वप्रथम जो सम्यग्दर्शन प्रगट होता है वह 'औपशमिक' होता है। मिथ्यात्व नष्ट नहीं हो जाता है, अनन्तानुबंधी कषाय नष्ट नहीं हो जाते हैं, शान्त-उपशान्त हो जाते हैं। जितने समय [एक अन्तर्मुहूर्त] तक ये दोनों उपशान्त रहते हैं, उतने समय तक सम्यग्दर्शन रहता है। इसको औपशमिक सम्यग्दर्शन कहते हैं। एक अन्तर्मुहूर्त के बाद पुनः मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी

कषाय उदय में [सक्रिय] आ जाते हैं। सम्यग्दर्शन चला जाता है।

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन :

मिथ्यात्व के कुछ अंश का क्षय [नाश] होता है और कुछ अंश का उपशम होता है, तब जो सम्यग्दर्शन प्रगट होता है उसको क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन कहते हैं। यह सम्यग्दर्शन हजारो-लाखों वर्ष तक भी रह सकता है। चला जाय तो अल्प क्षणों में भी जा सकता है।

क्षायिक सम्यग्दर्शन :

मिथ्यात्व का संपूर्ण नाश और अनन्तानुबंधी कषायों का संपूर्ण नाश होने पर जो सम्यग्दर्शन गुण पैदा होता है, उसको क्षायिक सम्यग्दर्शन कहते हैं। यह क्षायिक सम्यग्दर्शन एक बार ही प्रगट होता है, प्रगट होने के बाद कभी जाता नहीं है। उस आत्मा में कभी भी मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी कषाय आते नहीं हैं।

सम्यग्दर्शन का शुभ भाव आत्मा में होता है और उस समय यदि जीव की मृत्यु हो जाती है तो वह सद्गति में ही जाता है। सम्यग्दर्शन का इतना अचिंत्य प्रभाव है।

सभा में से : क्या सम्यग्दर्शन मनुष्यों को ही होता है या दूसरे जीवों को भी होता है?

महाराजश्री : चारों गति के जीवों को सम्यग्दर्शन हो सकता है। नरकगति के नारक जीवों को, तिर्यंचगति के पशु-पक्षियों को, देवगति के देवों को और मनुष्यों को सम्यग्दर्शन हो सकता है। अपनी मूलभूत बात यह है कि सम्यग्दर्शन के बिना श्रावकधर्म के व्रत नहीं ग्रहण किये जा सकते हैं। व्रत धारण करनेवालों में सम्यग्दर्शन तो होना ही चाहिये। बिना सम्यग्दर्शन ग्रहण किये हुए व्रत निष्फल जाते हैं। मिथ्यात्व की आग व्रतों को जला देती है। यानी मिथ्यात्व के साथ व्रतों का भाव आत्माओं में टिक नहीं सकता है।

संयमा नियमाः सर्वे, नाश्यन्तेऽनेन पावनाः ।
क्षयकालानलेनेव पादपाः फलशालिनः ।।

'जिस प्रकार फलों से हरे भरे वृक्ष प्रलयकालीन अग्नि से जलकर नष्ट हो जाते हैं, वैसे पावनकारी संयम और व्रत वगैरह सब मिथ्यात्व से नष्ट हो जाते हैं।'

कहने का तात्पर्य यह है कि व्रतधारी श्रावक बनना है तो सम्यग्दर्शन होना अनिवार्य है। यह सम्यग्दर्शन आत्मा में है या नहीं, उसके लक्षण बताये गये हैं। यदि पाँच लक्षण हैं... दिखते हैं तो मानना चाहिये कि सम्यग्दर्शन आत्मा में है।

आज बस, इतना ही-

प्रवचन-६

परम कृपानिधि महान् श्रुतधर आचार्य श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी ने स्वरचित 'धर्मबिन्दु' ग्रन्थ के तीसरे अध्याय में गृहस्थजीवन का विशेष धर्म बताया है।

विशेष धर्म ग्रहण करने वालों की योग्यता बताते हुए ग्रंथकार ने कहा है कि सम्यग्दर्शन के बिना विशेष धर्म कि जो विरतिरूप है, नहीं ग्रहण करना चाहिये। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस व्यक्ति में सम्यग्दर्शन है वही विशेष धर्म ग्रहण कर सकता है।

'मेरे में सम्यग्दर्शन है या नहीं'-इसका निर्णय करने के लिए पाँच लक्षण बताये गये हैं। यदि ये पाँच लक्षण जीवात्मा में दिखायी देते हैं, यानी जीव स्वयं इन पाँच बातों को महसूस करता है तो समझना चाहिये कि सम्यग्दर्शन है। पाँच लक्षण ग्रन्थकार महर्षि ने इस प्रकार बताये हैं-

प्रशमसंवेग निर्वेदानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्ति लक्षणं तत् ।।

१. प्रशम, २. संवेग, ३. निर्वेद, ४. अनुकंपा, ५. आस्तिक्य-ये पाँच लक्षण हैं सम्यग्दर्शन के। अल्प या ज्यादा मात्रा में इन पाँच लक्षणों की अभिव्यक्ति होनी चाहिए। मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी कषाय जाने पर ये पाँच गुण स्वतः आत्मा में प्रादुर्भूत होते हैं। सम्यग्दर्शन के साथ ये पाँच गुण जुड़े हुए हैं। अभिव्यक्ति कम-ज्यादा हो सकती है। ये गुण क्रियात्मक नहीं हैं, भावात्मक हैं। इसलिए दूसरों को नहीं भी दिख सकते हैं। सूक्ष्म अवलोकन से ही मालूम हो सकता है।

आज इन पाँच लक्षणों के विषय में ही कुछ विस्तार से बातें करूँगा। बहुत ही महत्वपूर्ण है यह विषय। एकाग्र मन से सुनना और बुद्धि से समझने का प्रयत्न करना। धर्म के विषय में 'सम्यग्दर्शन' की बात मूलभूत बात है। धर्म का मूल है सम्यग्दर्शन। सम्यग्दर्शन और समकित-दोनों एक ही अर्थ के द्योतक शब्द हैं।

सम्यग्दर्शन का पहला लक्षण है प्रशमभाव :

जब सम्यग्दर्शन गुण आत्मा में प्रगट होता है, तब अनन्तानुबंधी कषाय नहीं रहते हैं उदय में। तीव्र कषाय की परिणति दूर होते ही आत्मा में कुछ शान्ति आती है। कषाय घटने पर प्रशमभाव बढ़ता है। कषाय बढ़ने पर अशान्ति-संक्लेश बढ़ता है।

अलबत्ता, सम्यग्दर्शन के साथ अप्रत्याख्यानी और संज्वलन कषाय तो रहते ही हैं। इन कषायों का उदय होता है। इन कषायों की वजह से अशान्ति, संक्लेश... वगैरह रहेगा, परंतु तीव्रता नहीं रहेगी। क्रोध, मान, माया और लोभ रहेंगे अवश्य, परंतु तीव्रतर... तीव्रतम नहीं होंगे।

समकितदृष्टि मनुष्य दिमाग का संतुलन बनाये रखता है। समयानुसार और भाग्यानुसार परिस्थितियाँ अनुकूल भी होती हैं और प्रतिकूल भी होती हैं। इस भिन्नता के बीच अपना दिमागी संतुलन बनाये रखता है समकितदृष्टि मनुष्य। सुख और दुःख के आवेगों को वह इतने नहीं बढने देता है कि जिससे हड़बड़ी पैदा हो जाय। दिमाग का संतुलन बिगड़ जाय।

मगधसम्राट श्रेणिक :

श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के अनन्य भक्त मगधसम्राट श्रेणिक समकितदृष्टि जीव थे। उनको क्षायिक सम्यग्दर्शन था। यानी उनकी आत्मसत्ता में से मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी कषाय सदा के लिये चले गये थे। सर्वत्र उनके सम्यग्दर्शन की प्रशंसा हो रही थी।

सम्राट श्रेणिक को उत्तर अवस्था में अकल्पित भयानक दुःख आया। उसके ही पुत्र कोणिक ने राज्यसत्ता हस्तगत कर ली और पिता को कारावास में बंद कर दिया। आपने शायद मगध साम्राज्य का इतिहास पढ़ा होगा। बहुत ही रोमांचक और दर्दनाक इतिहास है। श्रेणिक को कोणिक के प्रति अगाध प्यार था! कोणिक का जन्म हुआ था तभी से सम्राट को उसके प्रति अपार स्नेह था। हालाँकि कोणिक की माता रानी चेलणा को पुत्र के प्रति प्यार नहीं था। चूँकि जब कोणिक गर्भस्थ था, तभी चेलणा को संकेत मिल गया था कि 'यह पुत्र पिता का घातक बनेगा!' इसलिये जन्म होते ही चेलणा ने दासी के द्वारा पुत्र को नगर के बाहर कचरे में डलवा दिया था। राणी चेलणा का राजा श्रेणिक के प्रति अगाध प्यार था। वह ऐसा पुत्र नहीं चाहती थी कि जो पिता का घातक बननेवाला हो।

कर्मों की विचित्रता देखिये! जो पुत्र पिता का घातक होनेवाला है... पिता के प्रति घोर घृणा करनेवाला है, पिता को क्रूरता से दुःख देनेवाला है, उसके प्रति पिता को राग है! मोह है! ममता है! इससे यह फलित होता है कि जीवात्मा जिसके प्रति राग करता है, मोह करता है, वह जीव उस जीवात्मा के प्रति राग करे, मोह करे-ऐसा नियम नहीं है। राग कर सकता है अथवा द्वेष भी कर सकता है। मोह कर सकता है अथवा नफरत भी। श्रेणिक को पुत्र कोणिक के प्रति राग था, परंतु

कोणिक को श्रेणिक के प्रति द्वेष था, नफरत थी। हाँ, श्रेणिक जानते थे, समझते थे कि 'यह रागदशा अच्छी नहीं है ,.. यह पुत्रमोह अच्छा नहीं है,' फिर भी वे राग करते रहे।

कोणिक के मन में राज्य की लालसा, राजा बनने की लालसा प्रबल होती चली। उसने राज्य के कुछ मंत्रियों को व सेनापति को अपने पक्ष में लेकर, विद्रोह कर दिया। राजा श्रेणिक को कारावास में डाल दिया और कोणिक राजा बन गया। पिता को कारावास में डालने मात्र से पुत्र को संतोष नहीं हुआ, रोजाना वह पिता को चाबुक से मारता है। उस समय श्रेणिक प्रशमभाव में रहते हैं! उनकी आत्मा में सम्यग्दर्शन का रत्नदीपक जगमगा रहा था न? पुत्र के हाथों मार खाते समय वे कैसा चिंतन करते होंगे कि जिससे उनके मन में कोणिक के प्रति रोष नहीं आया, क्रोध नहीं आया। हालाँकि शास्त्र में ऐसा कोई चिंतन पढ़ने में नहीं आता है, परंतु ऐसा ही कोई चिंतन किया होगा-'हे जीव, संसार के सारे संबंध मिथ्या हैं। तू भूल जा कि 'यह मेरा पुत्र है'। तू यह अपेक्षा भी न रख कि 'मैंने इसको कितना सारा प्रेम दिया... और वह मेरे साथ इतना शत्रुतापूर्ण व्यवहार करता है? इसको थोड़ा तो सोचना चाहिए।' तू दूसरों से सहानुभूति की अपेक्षा मत रख। तू सभी जीवों के प्रति मैत्रीभाव को धारण कर। यह सोच कि 'इस विश्व में मेरा कोई शत्रु नहीं है... सभी जीव मेरे मित्र हैं। दुःख देनेवाले के प्रति भी द्वेष नहीं करना है। वास्तव में हे जीव! तू ही तेरा दोस्त है और तू ही तेरा दुश्मन है।

यह कोणिक मुझे नहीं मार रहा है, मेरे शरीर को मार रहा है। मारने दो शरीर को। मैं शरीर नहीं हूँ। शरीर नाशवंत है, मैं शाश्वत् हूँ। मुझे कोई मार नहीं सकता है।'

सभा में से : घोर दुःख में क्या ऐसा तत्त्वचिंतन हो सकता है?

महाराजश्री : हो सकता है। सम्यग्दर्शन हो तो हो सकता है। मात्र नाम का सम्यग्दर्शन नहीं, वास्तव में सम्यग्दर्शन-गुण आत्मा में पैदा हुआ हो तो ऐसा चिंतन हो सकता है। समकितदृष्टि जीव को 'भेदज्ञान' हो जाता है, जब आत्मा और शरीर की भिन्नता का ज्ञान हो जाता है, तब ऐसा चिंतन सहजता से हो जाता है।

सम्यग्दर्शन से भेदज्ञान :

आत्मा में सम्यग्दर्शन गुण प्रगट होने पर जड़ और चेतन का भेद समझा जाता है। 'शरीर जड़ है, आत्मा चेतन है,' यह बात स्पष्ट हो जाती है। इससे शरीर का ममत्व टूट जाता है। शरीर का ममत्व टूट जाने से शरीर के कष्ट सहने सरल बन

जाते हैं। और जब कष्ट सरलता से सहे जाते हैं तब तत्त्वचिंतन करना आसान बन जाता है। दुःख में भी प्रशमभाव... उपशमभाव बना रहता है समकितदृष्टि जीव को। कोणिक श्रेणिक को हंटर से मारता है... फिर भी श्रेणिक उपशमभाव में रहते हैं। यह प्रभाव था भेदज्ञान का।

फिर भी, मृत्यु के समय श्रेणिक को प्रशमभाव नहीं रहा। रौद्र ध्यान आ गया और मर कर वे नरक में चले गये!

सभा में से : ऐसा क्यों हुआ?

महाराजश्री : चूँकि उन्होंने नरकगति का आयुष्यकर्म बाँध लिया था। जीव ने जिस गति का आयुष्य कर्म बाँधा होता है, उस गति के अनुसार मृत्यु के समय जीव का 'ध्यान' बनता है। नरकगति का आयुष्यकर्म बाँधा है तो मरते समय रौद्रध्यान ही आयेगा। और रौद्रध्यान में जो आयुष्यकर्म बंधता है वो नरकगति का ही बंधता है। श्रेणिक ने सम्यग्दर्शन पाने से पूर्व नरकगति का आयुष्य बाँध लिया था। आत्मा में सम्यग्दर्शन प्रगट हो, उस समय यदि आयुष्यकर्म बंधता है तो देवगति का ही बंधता है। इस दृष्टि से भी सम्यग्दर्शन का महत्व समझना चाहिए।

सम्यग्दर्शन से संवेगभाव जगता है :

एक बात अच्छी तरह समझ लेना कि सम्यग्दर्शन आत्मा का अपना गुण है। वह गुण प्रगट होने पर कुछ गुण स्वतः प्रगट हो जाते हैं। 'संवेग' वैसा ही स्वतः प्रगट होने वाला विशिष्ट गुण है। निर्वेद भी वैसा गुण है और 'अनुकंपा' भी वैसा गुण है।

'संवेग' यानी मोक्ष की चाह। मोक्ष की चाह यानी आत्मा के विशुद्ध स्वरूप की चाह। यह चाह तभी पैदा होती है जब आत्मा और मोक्ष का स्वरूप ज्ञात हो। ज्यों-ज्यों आत्मा के विशुद्ध स्वरूप को समझते जायें त्यों-त्यों वह स्वरूप पाने की चाह बढ़ती जाय। शुद्ध आत्मा का स्वरूप बहुत प्रिय लगता है समकित दृष्टि जीव को। कर्मों का कोई प्रभावना नहीं, कर्मों की कोई विडंबणा नहीं... मात्र आत्मस्वरूप में ही रमणता! समकित दृष्टि जीव वैसी रमणता करने के लिये लालायित बनता है। हालांकि यह बात अंतःकरण की है, भीतर की है। उसका बाह्यजीवन विषय-कषाय और अनेक पापों से भरा हुआ हो सकता है। उसके अन्तःकरण की गहराई में 'संवेग' की तरंगें उठती रहती हैं। यानी समकितदृष्टि जीव का बाह्य रूप और भीतरी रूप अलग-अलग होता है। उसका मन मोक्ष में होता है, तन संसार में होता है। उसके विचार और व्यवहार में बहुत अंतर होता है। यही उसके जीवन का कड़ा

संघर्ष होता है। वह अपने विचारों को व्यवहार में कार्यान्वित नहीं कर पाता है। उसकी यह एक प्रकार की विवशता होती है। यह विवशता उसको ज्यादा विरक्त बनाती रहती है।

समकितदृष्टि वैरागी होता है :

हाँ, समकितदृष्टि जीव, भले बाहर से रंग-रागी दिखता हो, विषयभोगी दिखता हो परंतु वह भीतर से विषयविरागी होता है। विषय सुखों के प्रति वह हेय दृष्टि से देखता है और सोचता है। हालाँकि वैराग्य तो, सम्यग्दर्शन-गुण आत्मा में प्रकट होने से पूर्व भी होता ही है। जिस आत्मा में सहज वैराग्य होता है वही आत्मा आध्यात्मिक विकास कर सकती है और सम्यग्दर्शन की विशिष्ट भूमिका प्राप्त कर सकती है। वैराग्य के बिना सम्यग्दर्शन कैसे हो सकता है? संसार के वैषयिक सुख हेय न लगे और मोक्ष के सुख उपादेय न लगे... वहाँ तक सम्यग्दर्शन कैसे हो सकता है? सम्यग्दर्शन के उज्ज्वल प्रकाश में आत्मा समग्र संसार को दुःखरूप और मोक्ष को सुखरूप देखती है।

दुःखरूप संसार के प्रति नहीं रहता है राग। नहीं रहती है आसक्ति, यानी समकितदृष्टि जीव के विचारों में विरक्ति होती है। बाह्य जीवन-व्यवहार में रंग-राग और भोगोपभोग हो सकते हैं। विरागी जीव अपने राग-द्वेष और मोह को देखता रहता है। और 'मेरे ये राग-द्वेष और मोह अच्छे नहीं हैं, हेय हैं' ऐसा समझता रहता है। यही उसका वैराग्य है।

भगवान् ऋषभदेव के पुत्र भरत चक्रवर्ती राजा होते हुए भी वैरागी थे। विपुल पुण्यकर्म के उदय से भोगोपभोग की कोई सीमा नहीं थी, फिर भी वे भीतर से अलिप्त थे। वे आत्मा के विशुद्ध स्वरूप के चाहक थे। प्रतिदिन रात्रि के एकान्त समय में वे आत्मचिंतन में रमण करते थे। थोड़े समय के लिए वे इस बाह्य भौतिक दुनिया से दूर... सुदूर आध्यात्मिक दुनिया में चले जाते और वहाँ अनुपम आनन्द का अनुभव करते। उनका वैराग्य उनको सदैव आत्मभाव में जाग्रत रखता था। इसी वैराग्य ने उनको अरिसा-भवन में वीतराग बना दिये।

समकितदृष्टि में अत्यंत दया होती है :

जिस प्रकार समकितदृष्टि जीव में प्रशम, संवेग और निर्वेद होता है, वैसे अत्यंत दया भी होती है। दुःखी जीवों के प्रति उसका हृदय अनुकंपा से भरा रहता है।

हालाँकि यह गुण-अनुकंपा तो सम्यग्दर्शन-गुण प्रगट होने से पूर्व, जब जीव 'चरम पुद्गलपरावर्तकाल' में आता है, तभी प्रगट हो जाता है। यानी जिस जीव का संसार परिभ्रमण का काल मात्र एक पुद्गलपरावर्त शेष रहता है, एक पुद्गल-परावर्त काल के भीतर-भीतर जो जीव मुक्ति पानेवाला होता है, उस जीव में अत्यंत दया-अनुकंपा पैदा होती है।

सभा में से : पुद्गल-परावर्त काल किसको कहते हैं?

महाराज श्री : यह अध्ययन का विषय है। 'काल' एक विशाल-विस्तृत विषय है अध्ययन का। एक-दो घंटे में यह विषय समझाया नहीं जा सकता है। 'काल-लोकप्रकाश' नाम के ग्रंथ का अध्ययन करना होगा 'पुद्गल-परावर्त' को समझने के लिए।

परंतु 'अंतिम पुद्गल-परावर्त' यानी एक निश्चित समय-मर्यादा होती है मुक्ति में जाने की। जब इस समय-मर्यादा में जीव आ जाता है तब उसमें अत्यंत दया का गुण आविर्भूत होता है। ज्यों-ज्यों जीव मुक्ति के निकट आता जाता है त्यों-त्यों दया की भावना विकसित होती जाती है।

हालाँकि गृहस्थ मनुष्य की दया, निरपराधी जीवों तक सीमित होती है। व्रतधारी श्रावक का प्रथम व्रत भी-'मैं निरपराधी त्रस जीवों को जानबूझ कर नहीं मारूँगा ऐसा होता है, फिर भी समकितदृष्टि जीव अपराधी जीवों के प्रति भी दयालु होता है, ऐसा ज्ञानी पुरुषों ने कहा है। अपने प्रति अपराध करने वालों के प्रति भी वे अशुभ-अकुशल नहीं सोचते हैं! अपराधी के अपराधों को माफ कर देते हैं।

दुःखी के दुःखों को दूर करने की उनमें तीव्र इच्छा होती है। चूँकि वे दूसरों के दुःखों से दुःखी होते हैं। दूसरे जीवों के दुःख दूर होने से वे समझते हैं कि उनके ही दुःख दूर हो गये हैं। दूसरे जीवों के दुःख दूर कर वे सुख मानते हैं।

अपने आपको समकितदृष्टि माननेवालों को आत्मनिरीक्षण करना चाहिए-'मेरे में ये प्रशम, संवेग, निर्वेद... अनुकंपा है या नहीं। यदि नहीं हैं ये गुण, तो फिर मेरे में 'सम्यग्दर्शन'-गुण प्रगट नहीं हुआ है क्या?' आत्मसाक्षिक चिंतन करना चाहिए।

समकितदृष्टि जिनवचन को ही सत्य मानता है :

अपनी श्रद्धा को भी शास्त्रदृष्टि से परख लेना चाहिए। 'वही सच है और निःशंक है, जो जिनेश्वर भगवंतों ने कहा है।' यह शास्त्रदृष्टि की श्रद्धा है। वीतराग सर्वज्ञ भगवंतों के वचनों को ही सत्य मानते हो न? उन वचनों में शंका नहीं है न?

यदि आप वीतराग के वचनों को ही सत्य मानते हो तो दुनिया के दूसरे रागी-द्वेषी देवों के पास, उनके प्रभावों से प्रभावित होकर नहीं जाते हो न? यदि वीतराग परमात्मा के प्रति आपके हृदय में निःशंक श्रद्धा है तो फिर दूसरे देवों के पास जाने का प्रयोजन क्या? परंतु आप लोगों की श्रद्धा ही कहाँ है वीतराग परमात्मा के प्रति?

एक गाँव में हमारा चातुर्मास था। एक जैन युवक ने उसके जीवन की एक रोमांचक घटना सुनायी थी। उस युवक पर किसी दुष्ट देव का प्रभाव पड़ गया था। वह अन्यमनस्क बन गया था। उस गाँव में एक मुसलमान फकीर रहता था। बड़ा मांत्रिक था। वह युवक भी फकीर के पास चला गया। युवक के ललाट पर केसर का तिलक था। फकीर ने कहा : 'तू यहाँ क्यों आया है?' युवक ने अपनी तकलीफ बतायी। फकीर हँसने लगा। उसने कहा 'तेरी बात सुन ली, मैं तुझे कहता हूँ कि तू मेरे पास क्यों आया है?' युवक ने कहा : 'आप कुछ मंत्र-तंत्र दें... मुझे ठीक हो जाय...'

फकीर ने कहा : 'भाई, तू जैन है न? क्या तेरे पास 'नवकारमंत्र' नहीं है? इसी की आराधना कर। इससे बढ़कर दूसरा कोई मंत्र मेरे पास नहीं है।'

युवक ने कहा : 'मुझे शर्म आ गयी फकीर की बात सुनकर। मैं चुपचाप घर पर आ गया और बहुत भक्तिभाव से श्री नवकार मंत्र का जाप करने लगा। दैवी उपद्रव दूर हो गया।'

जिनवचन के प्रति यदि आपकी निःशंक श्रद्धा है, पूर्ण विश्वास है तो आप लोग सिवा जिनवचन और जिनशासन के, कहीं पर भी श्रद्धावनत नहीं होंगे।

सभा में से : जिनवचनों में, वीतराग-वाणी में शंका तो नहीं होती है परंतु जिज्ञासा तो हो सकती है न?

महाराजश्री : हर बात को, हर तत्त्व को सही अर्थ में समझने के लिए शंका भी कर सकते हो! शंका कहो, प्रश्न कहो, जिज्ञासा कहो, एक ही है। चाहिए तत्त्व को समझने की भावना। कभी ऐसा भी हो सकता है कि अपनी अल्पबुद्धि किसी तत्त्व को यथार्थ रूप में नहीं समझ पाती है। उस समय ऐसा मत बोलना कि 'मेरी समझ में यह बात नहीं आती है इसलिए मैं नहीं मानता हूँ। मैं जो समझूँगा वही मानूँगा।'

पूर्ण पुरुष की बतायी हुई सभी बातें अपूर्ण मनुष्य अपनी अल्पबुद्धि से कैसे समझ सकता है? दूसरी बात-एक बात हम दो दिन पहले, दो वर्ष पहले नहीं समझ पाये थे, आज समझ पाते हैं। बुद्धि कभी मंद तो कभी तीव्र होती रहती है। चूँकि बुद्धि का आधार 'मतिज्ञानावरण कर्म' का क्षयोपशम होता है। कर्मों का क्षयोपशम सर्वदा एक समान नहीं रहता है। कभी कम-कभी ज्यादा होता रहता है। इसलिए

जहाँ बुद्धि रुक जाय, वहाँ श्रद्धा स्थापित कर लिया करो। बुद्धि और श्रद्धा के सहारे मोक्षमार्ग पर चलते रहना है।

परमात्मा जिनेश्वर देव के धर्मशासन का तत्त्वज्ञान बहुत गहरा है। यदि उस तत्त्वज्ञान को पाने की तमन्ना है, बुद्धि है, समय है और ज्ञानी पुरुष का संयोग है, तो अवश्य तत्त्वज्ञान प्राप्त करना चाहिए। ज्यों-ज्यों आप तत्त्वज्ञान पाते जाओगे, जिनेश्वर भगवंतों के प्रति आप की श्रद्धा परिपुष्ट होती जायेगी। आप निःशंक बन जाओगे। जिनशासन के प्रति आपका अहोभाव बढ़ जायेगा।

सम्यग्दर्शन का मूल परमात्मप्रीति :

जिनशासन के श्रावक-श्राविका जो कि बुद्धिमान हैं वे यदि तत्वज्ञानी बन जायें तो? श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के समय के श्रावक-श्राविकाओं का वृत्तान्त आगमग्रंथों में पढ़ते हैं तो ऐसे तत्त्वज्ञानी श्रावक-श्राविकाओं के वृत्तान्त जानने को मिलते हैं। आनंद श्रावक, सद्दालपुत्र... वगैरह श्रावक और सुलसा, रेवती... जयंती वगैरह श्राविकायें कैसे तत्त्वज्ञ थे? कैसी उनकी अपूर्व श्रद्धा थी और अद्भुत परमात्मप्रीति थी? सुलसा श्राविका की एक घटना सुनाता हूँ।

श्रमण भगवान महावीरदेव के प्रति अनन्य श्रद्धा रखनेवाला एक परिव्राजक [संन्यासी] था। उसका नाम था अंबड़। अंबड़ महान इन्द्रजालिक था। विशिष्ट ज्ञान का धनी था। एक बार उसने भगवंत को कहा : 'भगवंत, मैं राजगृही जा रहा हूँ, मेरे योग्य कोई सेवा हो तो फरमाने की कृपा करें।'

भगवंत ने कहा : 'अंबड़, वहाँ सुलसा श्राविका को 'धर्मलाभ' कहना।'

अंबड़ ने नतमस्तक हो आज्ञा को स्वीकार किया और राजगृही की ओर चल दिया। परंतु उसके मन में सुलसा के विषय में अनेक विचार आने लगे। 'सुलसा एक सामान्य श्राविका है। अलबत्ता, वह श्रीमंत घराने की है, व्रतधारी है... परंतु ऐसी तो दूसरी भी श्राविकायें हैं... तो फिर सर्वज्ञ वीतराग ऐसे भगवंत ने सुलसा को 'धर्मलाभ' कहने को क्यों कहा? सुलसा में ऐसी कौनसी बात है... जिससे वह परमात्मा के हृदय में स्थान पा सकती है? मुझे खोजनी होगी वह बात। उसने सुलसा के परमात्मप्रेम की परीक्षा लेनी चाही। राजगृही के चार नगरद्वारों के बाहर चार रूप करने की योजना बनायी।

एक द्वार पर उसने ब्रह्मा का रूप बनाया। इन्द्रजालिक था न वह? नगर में आग की तरह बात फैल गयी ब्रह्माजी के आगमन की। हजारों स्त्री-पुरुष ब्रह्माजी के दर्शन करने आये। एक न आयी सुलसा।

दूसरे द्वार पर अंबड़ ने विष्णु भगवान् का रूप बनाया। नगर में वायुवेग से बात फैल गयी। हजारों स्त्री-पुरुष विष्णु भगवान के दर्शन करने पहुँच गये। न गयी मात्र सुलसा!

तीसरे दरवाजे पर अंबड़ ने महेश [शंकर] भगवान का रूप किया। नगर के हजारों स्त्री-पुरुष शंकर भगवान के दर्शन करने दरवाजे के बाहर पहुँच गये। न गयी मात्र सुलसा। अंबड़ के हृदय में सुलसा के प्रति निर्मल भक्तिभाव बढ़ता चला था।

चौथे दरवाजे पर अंबड़ ने पच्चीसवें तीर्थंकर का रूप किया। सारे नगर के लोग दर्शन करने गये परंतु सुलसा नहीं गई! तब अंबड़ को सुलसा के भव्य परमात्म-प्रेम की प्रतीति हुई। अंबड़ सोचता है- 'वास्तव में सुलसा, श्रमण भगवान महावीर देव से ही तृप्त है, उनके पावन चरणों में हो समर्पित है। उसके हृदय में और कोई भी देव-देवी को स्थान नहीं है। वीतराग स्वरूप की ही एक चाह उसके मन में है।'

और, जब अंबड़ परिव्राजिका सुलसा के घर पहुँचा, सुलसा को भगवान् का 'धर्मलाभ' कहा, तब सुलसा कैसी भावविभोर हो गई होगी... कैसे उसके रोम-रोम विकस्वर हो गये होंगे... और आँखों से कैसे हर्ष के आँसू बहने लगे होंगे... यह सब देखने को मात्र एक अंबड़ ही भाग्यशाली बना होगा। और वह देखकर उसके मन का पूर्ण समाधान हो गया होगा कि भगवान ने सुलसा को क्यों धर्मलाभ कहलाया।

सम्यग्दर्शन की जड़ है परमात्म प्रीति। अविहड़ परमात्मप्रीति होने पर कोई भी सम्यग्दर्शन को हिला नहीं सकता है। न कोई भय हिला सकता है, न कोई लालच। भय और लालच के सामने अडिग बनाये रखने वाला तत्व है प्रेम।

समकितदृष्टि जीव दुःखों से निर्भय :

समकितदृष्टि परमात्मप्रेमी होता है, अतः उसको परमात्मा के बताये हुए कर्म सिद्धान्त के ऊपर विश्वास होता है। पापकर्म के उदय से दुःख आता है और पुण्यकर्म के उदय से सुख मिलता है, इस जिनोक्त सिद्धान्त के ऊपर उसको श्रद्धा होती है। 'यदि मेरे पुण्य कर्म का उदय है, तो मुझे कोई दुःखी नहीं कर सकता और यदि मेरे पाप कर्म का उदय है, तो मुझे कोई सुखी नहीं कर सकता।' इस सिद्धान्त को आत्मसात् करनेवाला समकितदृष्टि जीव दुःख आने पर घबराता नहीं है और सुख आने पर अभिमान नहीं करता है।

एक बात मत भूलना। ग्रंथकार महर्षि ने पहले ही कहा है कि व्रत धारण करनेवालों को समकितदृष्टि होना अनिवार्य है। यानी जिस जीव ने सम्यग्दर्शन

पाया हो, वही जीव व्रतधारी बन सकता है। ऐसा नियम क्यों बताया गया? ऐसी शर्त क्यों रखी गयी? आप लोग कुछ सोचते हो क्या?

व्रतपालन में दृढ़ता चाहिये। मन का कमजोर व्यक्ति व्रतपालन नहीं कर सकता है। मन का ढीला मनुष्य दुःख आने पर व्रत को भंग कर सकता है। कोई सुख की लालच मिलने पर व्रत को भंग कर सकता है। सम्यग्दर्शन-गुण प्राप्त होने पर मनुष्य दृढ़ बनता है। श्रद्धा ही उसकी अपूर्व शक्ति होती है। उस शक्ति से वह व्रतपालन में समर्थ बन पाता है।

गुजरात का राजा सिद्धराज बड़ी उम्र होने पर भी निःसंतान था। राजा-रानी को इस बात का दुःख था। पुत्रप्राप्ति की तीव्र झंखना थी दोनों को। कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरीश्वरजी जैसे महान् गुरुदेव का परिचय था, फिर भी सिद्धराज सोमनाथ महादेव के पास गया था! कोडीनार की अम्बादेवी के पास भी गया था! पुत्रप्राप्ति की इच्छा को परिपूर्ण करने के लिये! चूँकि सिद्धराज समकितदृष्टि नहीं था। जिन वचनों के प्रति उसके हृदय में पूर्ण श्रद्धा नहीं थी। जबकि राजा कुमारपाल समकितदृष्टि थे, तो कंटकेश्वरी देवी के भय बताने पर, त्रिशूल का प्रहार करने पर भी देवी को पशुबलिदान नहीं दिया! वे अपने व्रतों के पालन में सुदृढ़ रहे।

हर व्रत के पालन में भय और लालच आते रहते हैं। दृढ़ता के बिना व्रतपालन नहीं हो सकता है। सुनिये, कुछ संभावनायें बताता हूँ।

- ❖ पहला व्रत है, जानबूझ कर किसी निरपराध त्रस जीव को नहीं मारने का। मान लो आपको कोई संतान नहीं है। आपको संतान की तीव्र इच्छा है। आप कोई पीर... फकीर या देवी-देवता के पास गये। आप को कहा गया-'एक पशु की बलि चढ़ानी पड़ेगी। हम चढ़ा देंगे, आप पैसे दे देना...।' यदि आपकी दृढ़ता नहीं होगी तो आप पशुबलि चढ़ाकर व्रतभंग कर दोगे।
- ❖ दूसरा व्रत है असत्य नहीं बोलने का। परंतु किसी स्नेही या मित्र ने झूठी गवाही देने का दबाव डाला अथवा किसी ने बड़ी रिश्वत देकर आपको झूठ बोलने को कहा... तो? अथवा आपको भय लगा कि 'यदि मैं झूठ नहीं बोलूँगा तो आफत में फँस जाऊँगा... तो?' आपमें दृढ़ता नहीं होगी तो आप व्रतभंग कर दोगे।
- ❖ तीसरा व्रत है, चोरी नहीं करने का। परंतु आपके सामने ऐसा संयोग उपस्थित हुआ कि यदि आप तस्करी [स्मगलिंग] करते हो तो आपको तीन-चार लाख रूपये मिलते हैं... कहिए, आप व्रत में दृढ़ रह सकोगे?

- ❖ चौथा व्रत है, स्वदारासंतोष और परस्त्री त्याग का। मान लो कि आपके सामने ऐसा ही प्रसंग आया... एकांत में किसी सुन्दर परस्त्री ने आपसे संभोग की प्रार्थना की...। क्या आप अपने व्रत में दृढ़ रह पाओगे? रूप और सौन्दर्य की लालच छोटी नहीं होती है।
- ❖ पाँचवाँ व्रत है, परिग्रहपरिमाण का। आपने व्रत लिया हो दस लाख के परिमाण का। पुण्यकर्म के उदय से आपके पास दस लाख रुपये आ गये। अब भी दूसरे १०/२० लाख आ सकते हैं। क्या आप कमाना बंद कर सकोगे?

यह तो मात्र अणुव्रतों को लेकर भयस्थान बताये। गुणव्रत और शिक्षाव्रतों को लेकर भी अनेक भयस्थान हैं। अदि आपका सम्यग्दर्शन पक्का होगा तो ही आप अच्छी तरह व्रत पालन कर सकोगे। इसलिए सम्यग्दर्शन को दृढ़ बनाये रखने की जागृति रहनी चाहिए। सम्यग्दर्शन जाना नहीं चाहिये।

इस प्रकार श्रावकधर्म के बारह व्रत देने से पूर्व, सद्गुरु व्रत लेने के लिए तत्पर बने महानुभाव में सम्यग्दर्शन है या नहीं यह देखते हैं। यदि सम्यग्दर्शन नहीं होता है, तो पहले सम्यग्दर्शन-गुण प्रगट करने का उपदेश देते हैं, यानी श्रद्धावान् बनाते हैं।

श्रद्धावान्-समकितदृष्टि बने हुए मनुष्य को सर्वप्रथम कैसा उपदेश गुरु को देना चाहिये, यह बात अब ग्रंथकार आचार्य श्री बतायेंगे।

आज बस इतना ही-

परम कृपानिधि महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरीश्वरजी ने स्वरचित 'धर्मबिन्दु' ग्रन्थ के तीसरे अध्याय में गृहस्थजीवन का विशेष धर्म बताया है। यह विशेष गृहस्थधर्म कैसे व्यक्ति को देना चाहिये कि जिससे उस जीवात्मा का आत्मकल्याण हो, इस विषय में ग्रन्थकार आचार्यश्री ने कहा कि जो जीवात्मा सम्यग्दृष्टि हो उसको ही विशिष्ट गृहस्थधर्म देना चाहिए।

सम्यग्दृष्टि जीवात्मा का परिचय, टीकाकार आचार्यश्री ने दो-शब्दों में दिया है-भव्य और भवभीरु!

सम्यग्दृष्टि आत्मा-भव्य और भवभीरु :

'भव्य' का अर्थ है मोक्ष में जाने की योग्यतावाला! संसार में सभी जीव मोक्ष में जाने की योग्यतावाले नहीं होते है। जो योग्यतावाले होते हैं, वे 'भव्य' कहलाते हैं, जो योग्यतावाले नहीं होते हैं, वे 'अभव्य' कहलाते हैं। संसार में दोनों प्रकार के जीव होते हैं-भव्य और अभव्य।

भव्य जीव कभी भी मोक्ष में जायेगा। अभव्य जीव कभी भी मोक्ष में नहीं जायेगा। आपके मन में जिज्ञासा पैदा होगी कि 'मैं भव्य हूँ या अभव्य?' इस जिज्ञासा का समाधान तो विशिष्ट ज्ञानी पुरुष ही कर सकते हैं। फिर भी ऐसा कहा जाता है कि जिस जीवात्मा के मन में चिन्ता होती है कि 'मैं भव्य हूँ या अभव्य?' वह जीवात्मा भव्य होता है! अभव्य जीव को ऐसी चिन्ता ही नहीं होती है।

हालाँकि भव्य जीव ही सम्यग्दृष्टि होता है, अभव्य जीव सदैव मिथ्यादृष्टि होता है। सम्यग्दृष्टि जीव भव्य ही होता है।

विशिष्ट गृहस्थधर्म स्वीकार करनेवाला मनुष्य 'भवभीरु' होना चाहिए। 'भवभीरु' यानी भवभ्रमण से डरनेवाला। 'अब मुझे संसार की चार गतियों में जन्म-मृत्यु नहीं पाना है,' ऐसा विचार हमेशा बना रहना चाहिये। ऐसा मनुष्य, संसार में भटकानेवाले पापों से बचने का प्रयत्न करता रहेगा। व्रतमय गृहस्थधर्म स्वीकारने वाला मनुष्य ऐसा 'भवभीरु' होना चाहिये। भवभीरु मनुष्य ही सही रूप में व्रतमय विशिष्ट गृहस्थधर्म का पालन कर सकता है।

ऐसा भव्य और भवभीरु मनुष्य जब धर्म पाने की इच्छा से सद्गुरु के पास आये,

तब सर्वप्रथम उसको सद्गुरु साधुधर्म का उपदेश देते हैं! ग्रन्थकार आचार्यश्री कहते हैं-

'उत्तमधर्मप्रतिपत्त्यसहिष्णोस्वत्कथनपूर्वमुपस्थितस्य
विधिनाऽणुव्रतादिदानम्।'

पहला उपदेश साधुधर्म का :

आपकी दुकान में कोई अच्छा श्रीमंत ग्राहक आता है, तो आप उसको पहले बढ़िया माल बताओगे न? वैसे हमारे पास भव्य और भवभीरु जैसा सुयोग्य धर्मग्राहक आये तो हमें उसको उत्तम धर्म ही पहले बताना चाहिये! उत्तम धर्म है, साधुधर्म-श्रमणधर्म। चूँकि साधुधर्म से ही सभी कर्मों का नाश होता है। साधुधर्म की उत्तमता इस दृष्टि से है, कर्मक्षय की अपेक्षा से है। साधुधर्म के लिए टीकाकार आचार्यश्री ने कहा है : 'सर्वकर्म विरेचकः' साधुधर्म सभी कर्मों का विरेचक है, यानी नाशक है।

भव्य और भवभीरु जीवात्मा को सर्वप्रथम साधुधर्म का उपदेश देने की जिनाज्ञा है। साधुधर्म का विवेचन विस्तार से करना है। साधुधर्म का स्वरूप समझाना है, साधुधर्मपालन का फल बताने का है। साधुजीवन का आनंद बताना है। ऐसी मिष्ट भाषा में, करूणापूर्ण हृदय से ये बातें करने की है कि सुननेवाली आत्मा साधुधर्म के प्रति आकर्षित हो जाय। और साधुधर्म का पालन करने की यदि उसकी क्षमता हो, शक्ति हो, तो वह साधुधर्म को स्वीकार भी कर सके।

कुछ लोगों की ऐसी मानसिक स्थित होती है कि उनको घटिया किस्म का माल पसन्द आ जाने पर वे बढ़िया किस्म का माल पसन्द नहीं करते। उनके लिए 'जो मन को पसन्द आया वह बढ़िया,' यह सिद्धान्त होता है।

जटाशंकर को पैन्ट पहनने की इच्छा हुई। पह पैन्टपीस लेने एक बड़े स्टोर में गया। सेल्समेन ने जटाशंकर को पच्चीस रूपये मीटर वाला पैन्टपीस बताया। डीजाइन अच्छी थी, कलर अच्छा था। जटाशंकर ने पैन्टपीस ले लिया। रुपये देने के लिए उसने अपनी जेब में से सौ-सौ की नोटों का एक बंडल निकाला और उसमें से सौ रुपये की एक नोट देने लगा। सेल्समेन ने जटाशंकर के पास इतने सारे रुपये देखे, उसने सोचा : 'यह ग्राहक श्रीमंत है, मैं उसको सौ रुपये मीटर का पैन्टपीस बताऊँ।' उसने वह मूल्यवान् पैन्टपीस बताकर जटाशंकर को कहा : 'आपको तो यह पैन्टपीस लेना चाहिये! यह १०० रुपये मीटर का पैन्टपीस है।' जटाशंकर ने कहा : 'जो पैन्टपीस मैंने लिया है, वह अब आप लेना चाहो तो मैं १५० रुपये मीटर के भाव से दूँगा, समझे?'

सेल्समेन को अफसोस हुआ। 'यदि मैं इसको पहले ही १०० रुपये मीटर के भाव का पैन्टपीस बताता तो यह ले लेता...।' मनुष्य की एक प्रकार की यह मनोवृत्ति होती है। ज्ञानी पुरुषों ने मनुष्य की मनोवृत्ति को जानकर, यह विधान किया है कि धर्म के अच्छे ग्राहक को सर्वप्रथम श्रेष्ठ धर्म बताया करें। विस्तार से साधुधर्म की विवेचना करें। ग्राहक के मन को अपील करे-वैसी विवेचना करें। सुनते-सुनते साधुधर्म स्वीकार करने की इच्छा जगनी चाहिये। हाँ, साधुधर्म स्वीकार करने की शक्ति न हो, और स्वीकार नहीं करे, यह बात दूसरी है। साधुधर्म से उसका लगाव हो जाना चाहिए।

साधुधर्म स्वीकारने में अशक्ति क्यों?

साधुधर्म अच्छा लगे, उपादेय लगे, फिर भी यदि जीवात्मा वैषयिक सुखों की पिपासावाला है और केशलुंचन, पादविहार आदि कष्टों से डरता है, तो वह साधुधर्म को स्वीकर नहीं करेगा। क्षमा, नम्रता, सरलता आदि धर्मों का पालन करने की अशक्ति से भी साधुधर्म स्वीकार नहीं करता है।

सभा में से : जो बात अच्छी लगे, उसको स्वीकार तो करना ही चाहिए न?

महाराजश्री : ऐसा नियम नहीं है। अच्छा लगना या बुरा लगना, वह मन के क्षेत्र की बात है, जबकि पालन करना मात्र मन की बात नहीं है, मन, वचन और शरीर-तीनों की बात है। साधुधर्म के पालन में जिस प्रकार मन की दृढ़ता चाहिए वैसे तन की-शरीर की दृढ़ता भी अपेक्षित होती है। ऐसा नियम नहीं होता है कि जिसका मन दृढ़ हो उसका शरीर भी दृढ़ ही हो। दृढ़ मनोबल वालों के शरीर कमजोर देखने में आते हैं।

दूसरी बात है मन की। जिस मन को संसार के भौतिक-वैषयिक सुख अच्छे लगते हैं, वह मन मोक्ष की इच्छा भी करता है, कभी-कभी! वह मन साधुधर्म को भी चाहता है।

सभा में से : दो विरुद्ध इच्छायें एक मन में रह सकती है?

महाराजश्री : हाँ, आपको पैसे कमाने की इच्छा होती है न? और दान देने की यानी पैसे त्याग करने की भी इच्छा होती है न? आपको खाने की इच्छा होती है वैसे कभी-कभी तप करने की इच्छा भी होती है न? वैसे, संसार के सुखों की इच्छा और साधुधर्म की इच्छा-दोनों इच्छायें हो सकती हैं मन में। एक इच्छा कभी प्रबल होती है, दूसरी इच्छा मंद होती है। संसार के सुखों की प्रबल इच्छा, साधुधर्म की उपादेयता समझाने पर भी, जीव को साधुधर्म का स्वीकार करने से रोकती है।

एक भी वैषयिक सुख भोगने की प्रबल इच्छा होती है, दूसरी इच्छा मंद होती है। वैषयिक सुख भोगने की प्रबल इच्छा होती है, तो साधुधर्म स्वीकारने की इच्छा मंद होती है। संसार के सुखों की प्रबल इच्छा, साधुधर्म की उपादेयता समझाने पर भी, जीव को साधुधर्म को स्वीकार करने से रोकती है। एक भी वैषयिक सुख की इच्छा, यदि तीव्र बनती है, तब साधुधर्म ही नहीं, किसी भी धर्म की आराधना में उसका मन जुड़ता नहीं है। श्रेष्ठ देव-गुरु-धर्म का संयोग मिलने पर भी वह आत्मकल्याण की प्रवृत्ति में जुड़ नहीं पाते हैं।

सिद्धराज की पुत्रप्राप्ति की तीव्र इच्छा :

गुजरात का राजा सिद्धराज [विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी] निःसंतान रहा। वृद्धावस्था में इस बात से वह बहुत ही व्यथित रहता था। उसकी पट्टरानी भी बहुत दुःखी थी। विशाल राज्य, विपुल वैभव और नीरोगी शरीर होने पर भी वह दुःखी था। श्री हेमचन्द्रसूरीश्वरजी जैसे कलिकालसर्वज्ञ आचार्यदेव का उस को सान्निध्य मिला था, फिर भी वह व्यग्र रहता था।

एक दिन रानी ने सिद्धराज को कहा : 'हे नाथ, जो बात कर्मों के अधीन होती है, उसमें शोक करना व्यर्थ है। अपने पर देवों का अनुग्रह नहीं है, अपने भाग्य में पुत्र का सुख नहीं है। पूर्वजन्म में वैसा पुण्यकर्म नहीं किया होगा... तो फिर उसका फल कहाँ से मिलेगा? फिर भी पुत्रप्राप्ति हेतु आप इतना अवश्य करें :

१. गुरुजनों के प्रति ज्यादा भक्तिभाव रखें,
२. देवों की द्विगुणित पूजा करें,
३. इच्छित फल देनेवाली तीर्थयात्रा करें।

इस प्रकार की विविध धर्म आराधना से, कभी भी पुत्रप्राप्ति का सुख मिल सकता है।'

रानी की बात जँच गई सिद्धराज को। उसने तीर्थयात्रा करने का निर्णय किया। वह गुरुदेवश्री हेमचन्द्रसूरीश्वरजी के पास गया और विनयपूर्वक तीर्थयात्रा के लिये साथ चलने का निमंत्रण दिया। आचार्यदेव ने उस आमंत्रण को स्वीकार कर लिया!

पुत्रप्राप्ति के लिए तीर्थयात्रा :

रानी ने राजा को कितना अच्छा मार्गदर्शन दिया! 'पुत्र का सुख पाना है तो धर्म की आराधना करो! गुरुभक्ति, देवपूजा और तीर्थयात्रा करो!' और जब आचार्यदेव हेमचन्द्रसूरीश्वरजी से राजा ने तीर्थयात्रा में साथ चलने की प्रार्थना की तो गुरुदेव ने भी स्वीकृति दे दी! तीर्थयात्रा का उद्देश्य क्या आचार्यदेव नहीं जानते

होंगे? अवश्य जानते होंगे। परंतु संसार के सुखों के लिये भी धर्म ही करने की जिनाज्ञा है। पाप करने का निषेध है, धर्म करने का ही उपदेश है। अर्थ और काम भी धर्म से ही प्राप्त होते हैं। संविग्न गीतार्थ आचार्यदेव ने शास्त्रों में जगह-जगह इस प्रकार धर्म का ही उपदेश दिया है। संसार के सुख पाने के लिये भी धर्म ही करने का उपदेश दिया है।

सभा में से : धर्म तो मोक्ष पाने के आशय से ही करना चाहिये न?

महाराजश्री : तो फिर अर्थ और काम (भोगसुख) पाने के लिये पाप करने चाहिये? अर्थ [पैसा] और भोगसुख, पाप करने से मिलते हैं या धर्म करने से? एक बात स्पष्ट समझ लो कि यदि 'मोक्ष पाने के लिये ही धर्म करना चाहिये,' ऐसा उपदेश देंगे तो जिनको मोक्ष का ज्ञान नहीं है, जिनको मोक्ष पाने की कोई इच्छा नहीं है, ऐसे अज्ञानी जीव ऐसा समझेंगे कि 'धर्म तो उनके लिये है कि जिनको मोक्ष पाना है! अपने को मोक्ष से कोई मतलब नहीं है... इसलिये धर्म से क्या लेना-देना?' वे लोग धर्म की राह छोड़ कर पाप के मार्ग पर चलते रहेंगे।

यदि हेमचन्द्रसूरिजी, सिद्धराज को कहते 'राजन्, पुत्रसुख के लिये तीर्थयात्रा नहीं करनी चाहिये। पुत्रसुख के उद्देश्य से गुरुभक्ति नहीं करनी चाहिये... पुत्रसुख के लक्ष्य से देवपूजा नहीं करनी चाहिये।' तो सिद्धराज क्या करता? और ऐसा क्यों नहीं कहा गुरुदेव ने? पुत्रसुख के उद्देश्य से राजा तीर्थयात्रा करने जा रहा था, उस तीर्थयात्रा में हेमचन्द्रसूरीश्वरजी महाराज शामिल क्यों हुए? यदि इस प्रकार की तीर्थयात्रा जिनाज्ञा से विपरीत होती तो उनके जैसे सर्वज्ञसदृश आचार्य उस तीर्थयात्रा में शामिल ही नहीं होते।

यदि रानी राजा को पुत्रप्राप्ति के लिये धर्म का मार्ग नहीं बताती और आचार्यदेव अपनी अनुमति नहीं देते तो सिद्धराज, संभव था कि कोई मांत्रिक, तांत्रिक या कापालिक के पास चला जाता और कोई पापप्रचुर प्रयोग कर लेता! अथवा दूसरी शादी कर लेता... अथवा वर्तमान में जैसे पुत्रप्राप्ति के लिये स्त्री की योनि में दूसरे पुरुष का वीर्य प्रक्षिप्त कर गर्भाधान कराया जाता है... वैसा कोई अनैतिक... कुत्सित प्रयोग करवा लेता राजा।

इसलिये ज्ञानी पुरुषों ने कहा है कि जिस मनुष्य के मन में मोक्ष की रुचि है, अथवा मोक्ष के प्रति द्वेष नहीं है, ऐसे मनुष्य... अर्थ और काम के लिये भी धर्मक्रिया कर सकते हैं। उनकी धर्मक्रिया विषक्रिया नहीं है, गरल क्रिया नहीं है।

तीर्थयात्रा से सिद्धराज शासनरागी बना :

आचार्यदेव के साथ सिद्धराज सपरिवार, शत्रुंजय गिरिराज पहुँचा। गिरिराज के दर्शन से राजा रोमांचित हो गया। गिरिराज पर चढ़कर उसने भगवान् ऋषभदेव के दर्शन किये। उसके हृदय में अपूर्व भक्तिभाव पैदा हुआ। आचार्यदेव ने वहाँ नूतन काव्य रचना कर देवाधिदेव की अद्भुत स्तवना की।

वहाँ पर भगवान् ऋषभदेव की अद्भुत महिमा देख, सिद्धराज जिनशासन का परम भक्त बना। उसने सोचा : 'ऐसे उत्तम तीर्थ में यदि मनुष्य अपनी संपत्ति का व्यय नहीं करता है, तो फिर वह देवगति कैसे पा सकता है?' उसने भगवान् ऋषभदेव के पूजन-निमित्त बारह गाँव भेंट कर दिये! सभी यात्रियों के लिये अन्न के सदाव्रत शुरू करवा दिये। लोगों को विपुल दान देकर, दरिद्रता मिटा दी!

बहुत उल्लास से यात्रा पूर्ण कर, वहाँ से गिरनार तीर्थ की ओर प्रयाण किया। गिरनार के पहाड़ पर जाकर सभी ने भगवान् नेमनाथ के दर्शन किये। दर्शन-पूजन कर राजा हर्षविभोर हो गया। श्री हेमचन्द्रसूरीश्वरजी ने नूतन काव्यों की रचना कर प्रभु की स्तवना की।

इन दो तीर्थों की यात्रा से सिद्धराज जिनधर्म के प्रति ज्यादा श्रद्धावाला बना।

सिद्धराज की इच्छापूर्ति हेतु आचार्यदेव अट्ठम का तप करते हैं!

दो तीर्थों की यात्रा कर राजा वगैरह देवपत्तन पहुँचे। वहाँ राजा ने सोमेश्वर के दर्शन किये। वहाँ से सपरिवार वह 'कोडीनार' पहुँचा। कोडीनार में विश्वमातासमान देवी अम्बिका का मंदिर था। देवी अम्बिका की महिमा चारों ओर फैली हुई थी। भक्तजनों की इच्छा को पूर्ण करनेवाली वह देवी थी।

सिद्धराज के मन में पुत्रप्राप्ति की प्रबल इच्छा तो पड़ी ही थी। वह देवी अम्बिका से जानना चाहता था कि उसे पुत्र की प्राप्ति होगी या नहीं? यदि पुत्र मेरे भाग्य में नहीं है, तो मेरी मृत्यु के बाद गुजरात का राजा कौन होगा?

देवी से प्रत्युत्तर पाने के लिये साधना करनी पड़ती है। उच्च कोटि की आत्मा यदि साधना करे तो सिद्धि शीघ्र प्राप्त होती है। अतः सिद्धराज ने आचार्यदेव से विनती की : 'गुरुदेव, मेरे पास राज्य, रत्न, स्वर्ण, हाथी-घोड़े... सब कुछ हैं, परंतु एक बहुत बड़ी कमी है... पुत्र नहीं है...। आप मेरे ऊपर कृपा कर, इस देवी को प्रत्यक्ष कर पूछ लें कि मेरे भाग्य में पुत्रसुख है या नहीं? और, मेरी मृत्यु के बाद गुजरात का राजा कौन होगा?'

राजा की विनम्र विनती को मान्य कर, आचार्यदेव ने तीन उपवास कर, देवी

अम्बिका की साधना की। देवी ने प्रत्यक्ष होकर कहा : 'राजा के भाग्य में पुत्र नहीं है। उसकी मृत्यु के बाद, त्रिभुवनपाल का पुत्र कुमारपाल राजा बनेगा और वह संप्रति राजा की तरह जैनधर्म का व्यापक प्रचार करेगा।'

आचार्यदेव ने प्रभात में राजा को देवी का प्रत्युत्तर सुनाया। वह बहुत दुःखी... निराश और विषादपूर्ण हो गया। और वहाँ से उसने गुरुदेव के साथ पाटन की ओर प्रयाण कर दिया।

पूज्य आचार्यदेव का जिनाज्ञानुसारी अभिगम :

सिद्धराज की विनती से आचार्यदेव ने अट्ठमतप की आराधना कर देवी अंबिका को प्रसन्न की। देवी से प्रश्न का उत्तर लेकर राजा की जिज्ञासा को पूर्ण की। इस घटना के संदर्भ में अपन कुछ गहराई में जाकर सोचें।

सर्वप्रथम, अपन को कलिकालसर्वज्ञ आचार्यदेव के प्रति श्रद्धा और उनकी जिनाज्ञाप्रतिबद्धता पर विश्वास होना चाहिये।

दूसरी बात, 'वे आचार्यदेव निःस्पृह और स्पष्टभाषी थे,' इस बात पर हमारा यकीन होना चाहिये। वे राजाओं की 'चापलूसी करने वाले नहीं थे-यह निर्विवाद बात है। वे राजाओं के माध्यम से सर्वज्ञभाषित धर्म का देश-विदेश में प्रचार करना चाहते थे, यह उनका मौलिक दृष्टिकोण था।

राजा की इच्छा को पूर्ण करने के लिये उन्होंने अट्ठमतप किया। इसमें उनका आशय स्पष्ट है। 'यदि मैं राजा की इच्छा पूर्ण करता हूँ तो उसका मेरे प्रति विश्वास दृढ़ होगा। मेरे प्रति विश्वास दृढ़ होगा तो मेरे वचनों पर विश्वास होगा। इससे उसका आत्महित होगा। वह धर्ममार्ग पर चलता रहेगा।

आचार्यदेव ने यह भी नहीं कहा कि : 'सिद्धराज, क्यों पुत्र की इतनी इच्छा रखता है? यह इच्छा तो भवसंसार में भटकानेवाली है... छोड़ इस इच्छा को और मोक्ष की इच्छा कर।' संभव है कि ऐसा उपदेश झाड़ने पर सिद्धराज को आचार्यदेव पर शंका होती-'इस आचार्य ने तो मेरे ऊपर ऐसा मंत्र प्रयोग नहीं किया होगा कि मैं निःसंतान रहूँ? अन्यथा वे मुझे ऐसा उपदेश क्यों देते हैं? क्या ये कुमारपाल के पक्ष में तो नहीं होंगे?' वगैरह विकल्प हो सकते थे। महान् आचार्य दीर्घ दृष्टिवाले होते हैं। सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी होते हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से सोचनेवाले होते हैं। उनका अभिगम जिनाज्ञानुसारी होता है।

पहला उपदेश साधुधर्म का, अन्यथा 'अन्तरायदोष' :

ग्रंथकार आचार्यदेव कहते हैं कि समकितदृष्टि जीव को पहला उपदेश

साधुधर्म का देना चाहिये। भव्य और भवभीरु जीव को साधुधर्म पसंद आ सकता है। शक्ति-सामर्थ्य होने पर वह साधुधर्म को स्वीकार कर सकता है। ऐसे जीव को यदि साधुधर्म का उपदेश नहीं देते हुए सीधा गृहस्थधर्म का यानी अणुव्रतादि का उपदेश देने से, उस भव्य जीव की चारित्रधर्म की आराधना में अन्तराय करने का, विघ्न डालने का पाप गुरु को लगता है! और इस प्रकार अन्तराय करने से भवान्तर में चारित्रधर्म प्राप्त होना दुर्लभ हो जाता है! ग्रन्थकार ने कहा है-

सहिष्णोः प्रयोगेऽन्तरायः ।

'सहिष्णु' का अर्थ है समर्थ। जो साधुधर्म यानी चारित्रधर्म की आराधना करने के लिये समर्थ है, उसको अणुव्रतादि देने से **[प्रयोगे]** चारित्रधर्म की आराधना में अन्तराय होता है।

धर्म के उपदेशकों के लिये यह महत्वपूर्ण निर्देश है। व्यक्ति की योग्यता देखकर ही उपदेश देने का है। परंतु यह बात व्यक्तिगत उपदेश की है। मान लो कि मेरे पास कोई मुमुक्षु जीव आया। मुझे लगा कि यह जीव भव्य है, भवभीरु है। तो मुझे सर्वप्रथम उसको साधुधर्म का उपदेश देना चाहिये। विस्तार से साधुधर्म समझाना चाहिये। समझाने पर भी यदि वह साधुधर्म को स्वीकार करने से इन्कार कर दे तो फिर अणुव्रतादि का उपदेश देना चाहिए।

कोई ऐसा धर्मजिज्ञासु व्यक्ति आये कि जिसमें मुझे कोई पापभीरुता जैसी मौलिक योग्यता नहीं दिखायी दे, तो मुझे उसको साधुधर्म का उपदेश नहीं देना चाहिये, परंतु अणुव्रतादि का उपदेश देना चाहिये।

भव्य और भवभीरु जीव को चारित्रधर्म का उपदेश नहीं देते हुए, यदि अणुव्रतादि गृहस्थधर्म का उपदेश दिया जाय और वह मनुष्य अणुव्रतादि स्वीकार कर लेता है, तो उपदेशक गुरु को एक दूसरा दोष लगता है-सावद्य-अनुमति का! ग्रंथकार आचार्यदेव ने कहा है- **'अनुमतिश्चेतरत्र ।'**

बहुत समझने की बात है यह।

दूसरा दोष लगता है 'पाप में अनुमति का' :

साधुधर्म को स्वीकार करने की शक्ति होने पर भी, गुरु के उपदेश से जिसने गृहस्थधर्म को स्वीकार किया, वह गृहस्थ जीवन में जो-जो पाप करेगा, उन पापों में, उस गुरु की अनुमति हो जाती है! चूँकि सर्व पापों के त्यागरूप साधुधर्म का उपदेश जो देना था और उसको साधु बनाना था, वह नहीं बनाया। जितने पापों का त्याग किया उसने, [बारह व्रतों का स्वीकार कर] उतने अंश में बच गये! जिन पापों

का त्याग नहीं किया, उन पापों में गुरु की अनुमति हो गई! चूँकि वे पाप छोड़ने का गुरु ने उपदेश नहीं दिया!

कहिये, अब आप जैसे भव्य और भवभीरु जीवों को मैं साधुधर्म का ही उपदेश दूँ न? निष्पाप साधुजीवन की बातें सुनने में आपको आनन्द आयेगा न?

सभा में से : हम में से कोई व्यक्तिगत आपसे धर्म पाने के लिये आये तो आप साधुधर्म का उपदेश देना! यहाँ तो हमें सच्चे मनुष्य बनने का ही उपदेश दें!

महाराजश्री : मुझे भी तुम्हारी इच्छा-जिज्ञासा जानकर ही उपदेश देना है। मैं भी यह चाहता हूँ कि आप सच्चे मनुष्य बनें, सच्चे श्रावक बनें और बाद में सच्चे साधु बनें। फिर भी मुझे विश्वास है कि आप लोगों को प्रायः साधुधर्म की बातें प्रिय लगेगी। अपन करेंगे कभी-कभी वे बातें।

साधुधर्म की ऐसी बातें सुनकर कभी डाकू भी साधु बन गये हैं। हाँ, कभी मानवता और साधुता-दोनों साथ-साथ आ जाती है, मनुष्य के जीवन में। इसलिये उपदेशक साधुपुरुष को उपदेश देने में सावधानी बरतने की है।

तीसरी एक बात ग्रंथकार महात्मा बता रहे हैं।

गृहस्थधर्म का उपदेश नहीं दे तो भी दोष!

साधुधर्म का उपदेश दिया किसी भव्य आत्मा को। परंतु वह मनुष्य साधुधर्म स्वीकार करने को तत्पर नहीं हुआ। उपदेशक सोचे कि 'यह तो कायर पुरुष है। इतना-इतना मैंने साधुधर्म समझाया... फिर भी कायरता की बातें करता है... छट्... जाने दो, इसको अणुव्रतादि का उपदेश क्या देना? नहीं देना है इसको अणुव्रत आदि का उपदेश...!' इस प्रकार यदि धर्मगुरु उपदेश नहीं देता है तो वह जिनाज्ञा का भंग करता है। परमात्मा के धर्मशासन का नाश करनेवाला बनता है।

कहने का तत्पर्य यह है कि या तो साधुधर्म का उपदेश दिया जाय अथवा गृहस्थधर्म का उपदेश दिया जाय, योग्यता देखते हुए, उपदेश देना चाहिये। उपदेशक गुरु में, अपने पास आनेवाले धर्मजिज्ञासु की योग्यता को परखने की दृष्टि होना अनिवार्य है।

सभा में से : आपके पास आनेवाला मनुष्य साधुधर्म को जैसे स्वीकार करने में तत्पर नहीं बनता, वैसे यदि गृहस्थधर्मरूप अणुव्रतादि ग्रहण करने भी तत्पर नहीं बनता है, तो आपको दोष लगता है क्या?

महाराजश्री : नहीं, हमारा कर्तव्य विधिवत् उपदेश देने का है। उपदेश देने पर भी मनुष्य, कोई भी धर्म [साधुधर्म या गृहस्थधर्म] ग्रहण नहीं कर पाता है, तो

हमें कोई दोष नहीं लगता है। हम विधिवत् उपदेश नहीं देते हैं और हमारे पास आनेवाला व्यक्ति धर्म से वंचित रह जाता है, तो हमें दोष लगता है।

- ❖ साधुधर्म का हम उपदेश नहीं देते हैं और साधुधर्म का पालन करने की शक्ति होने पर भी साधुधर्म से जीव वंचित रह जाता है।
- ❖ गृहस्थधर्म का पालन करने की शक्ति होने पर भी, उस जीव को हम गृहस्थधर्म का उपदेश नहीं देते हैं और वह गृहस्थधर्म से भी वंचित रह जाता है... तो धर्मोपदेशक गुरु को जिनाज्ञा का भंग करने का दोष लगता है।

इस विषय में 'जिनाज्ञा' क्या है-आगे बताऊँगा।

आज बस इतना ही...

परम कृपानिधि महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरीश्वरजी स्वरचित 'धर्मबिन्दु' ग्रन्थ के तीसरे अध्याय में गृहस्थ का विशेष धर्म बता रहे हैं।

धर्म का उपदेश देनेवालों को मार्गदर्शन देते हुए ग्रंथकार महात्मा कहते हैं कि : पहले साधुधर्म का उपदेश दिया करो, यदि भव्य जीव साधुधर्म को स्वीकार करने में अशक्ति प्रदर्शित करे तो उनको अणुव्रतादि बारह व्रतमय विशेष गृहस्थधर्म का उपदेश दो। धर्म का उपदेश देते ही रहो! थको नहीं धर्मोपदेश देने में। हितबुद्धि से उपदेश दिया करो।

टीकाकार आचार्यश्री कहते हैं-

श्रममविचिन्त्यात्मगतं तस्माच्छ्रेयः सदोपदेष्टव्यम्।
आत्मानं च परं च हि हितोपदेष्टाऽनुगृहणाति ।।

'हितदृष्टि से उपदेश देनेवाला स्वयं पर और दूसरों पर अनुग्रह करता है। इसलिये उपदेशक को अपने श्रम की परवाह किये बिना सदैव उपदेश देते रहना कल्याणकारी है।' कहते हैं-सदैव धर्मोपदेश देते रहो!

धर्मदेशना : जगत में महान उपकार :

चूँकि धर्मदेशना-धर्मोपदेश जैसा उपकार, इस दुनिया में दूसरा नहीं है। इसलिये परानुग्रहप्रवृत्ति के अध्यवसायवाले मुनिवरों को धर्मोपदेश देने की श्रेष्ठ परानुग्रह की प्रवृत्ति करनी चाहिये। इसी ग्रन्थ के दूसरे अध्याय में ग्रंथकार महर्षि ने कहा है :

'नोपकारो जगत्यस्मिंत्सादृशो विद्यते क्वचित्।
यादृशी दुःखविच्छेदाद्देहिनां धर्मदेशना ।।'

धर्मोपदेश सुनने से श्रोताओं के तन-मन के दुःख दूर होते हैं। टीकाकार आचार्यदेव ने **'दुःखविच्छेद'** का अर्थ **'शारीरमानसदुःखापनयन'** किया है! धर्म का उपदेश सुनने से श्रोताओं के शारीरिक दुःख दूर हो जाते हैं! और मानसिक दुःख नष्ट हो जाते हैं! इसलिये धर्मोपदेश देना यह अद्वितीय उपकार करने का काम है।

धर्मोपदेश सुनने से शारीरिक दुःख का नाश :

ऐसा ही उपकार किया था आचार्यदेव मुनिचन्द्रसूरीश्वरजी ने। जब राजकुमारी मयणासुंदरी की शादी, राजा ने कुष्ठरोगी उंबरराणा के साथ कर दी थी तब मयणासुंदरी उंबरराणा के साथ गुरुदेव मुनिचन्द्रसूरीजी के पास गयी थी। उसने गुरुदेव को कहा था :

'गुरुदेव, नगर में जैनधर्म की घोर निंदा हो रही है। मैं जैनधर्म की आराधना करनेवाली और मुझे ऐसा कोढ़ी पति मिला... इससे मेरे जैनधर्म की लोग निंदा करते हैं। आप कृपाकर ऐसा उपाय बतायें कि जिससे मेरे पति का कोढ़ रोग दूर हो जाय और लोग धर्मनिन्दा करते हैं, वह बंद हो जाये।'

आचार्यदेव ने उपाय बताया श्री सिद्धचक्र महामंत्र की आराधना का। उपाय बताया नौ दिन आयंबिल का तप करने का और नवपद का एकाग्र मन से ध्यान करने का। मयणासुंदरी ने और उंबरराणा ने वैसे ही तप किया, ध्यान किया और सिद्धचक्र-यंत्र की पूजा की। परिणाम आप लोग जानते ही हो। उंबरराणा का कोढ़ रोग दूर हो गया। वह देवकुमार जैसा रूपवान् हो गया। निंदा करनेवालों के मुँह बंद हो गये।

मात्र उंबरराणा के ही रोग दूर हुए ऐसा नहीं है, उसके प्राणरक्षक सात सौ साथी के भी शरीर नीरोगी हो गये! यह सारा प्रभाव किसका था! धर्मोपदेश का। इसलिये शास्त्रकार आचार्यदेव कहते हैं कि सदैव धर्म का उपदेश किया करो। थके बिना धर्म का उपदेश किया करो। यह श्रेष्ठ उपकार का काम है।

धर्मोपदेश से मन के दुःख दूर होते हैं :

धर्म के उपदेश से जैसे तन के दुःख दूर होते हैं, वैसे मन के दुःख भी दूर होते हैं। मेघकुमार मुनि जिस समय श्रमण भगवान् महावीर के सामने जाकर खड़े थे, मन में घोर अशान्ति थी उनके। रात भर उन्हें नींद नहीं आयी थी। वे सारी रात आर्तध्यान करते रहे थे। 'सुबह भगवंत को कह, मैं पुनः गृहवास में चला जाऊँगा। साधुजीवन के कष्ट मेरे से सहे नहीं जाते हैं।'

वे भगवंत के सामने आये। भगवंत ने करुणाभीनी दृष्टि से मेघकुमार मुनि के सामने देखा। अमृतमधुर वाणी बरसायी। हृदयस्पर्शी उपदेश दिया। मेघकुमार के पूर्वजन्म की कहानी सुनायी। हाथी के जन्म में एक खरगोश को बचाने के लिये स्वेच्छा से कैसा और कितना दुःख सहन किया था, यह सब याद कराया। मेघकुमार मुनि को पूर्व-जन्म की स्मृति हो आई! 'अरे, मैंने हाथी के भव में समताभाव से दुःख सहा था तो यह मनुष्य का जन्म पाया है मैंने। और यहाँ इस साधुजीवन में

थोड़ा सा कष्ट आने पर मैं कितना अशान्त हो गया? यह पवित्र जीवन छोड़कर गृहस्थावास में जाने को तैयार हो गया...! नहीं, मैं घरवास में नहीं जाऊँगा।'

भगवंत के उपदेश से मेघकुमार मुनि का मन स्वस्थ, प्रसन्न और शान्त हो गया और वे धीर-वीर बन, मोक्षमार्ग पर अग्रसर हो गये।

युवराज युगबाहु पर उसके ही बड़े भाई मणिरथ ने गले पर तलवार का प्रहार कर दिया... उस समय युगबाहु की पत्नी मदनरेखा ने अशान्त और वैराग्नि से प्रचंड बने हुए युवराज को धर्म का उपदेश दिया... युगबाहु का मन प्रशान्त बना, वैराग्नि बुझ गयी और वह मरकर देवगति में चला गया। धर्मोपदेश की ही यह महिमा थी।

हम लोगों को ऐसे अनेक अनुभव हैं कि धर्मोपदेश सुनकर, आत्महत्या करके मर जाने के विचारवालों ने वह विचार छोड़ दिया, उनके मन शान्त, प्रसन्न और स्वस्थ बने। वे धर्ममार्ग पर चलनेवाले बने। हिंसा के विचार छोड़ देते हैं उपदेश सुनकर। ग्लानि और खेद दूर हो जाता है उपदेश सुनकर।

धर्मोपदेशक कैसे चाहिये?

परंतु ये सारी बातें धर्मोपदेशक मुनि पर निर्भर करती है। धर्म का उपदेश देनेवाले साधुपुरुष

१. श्रोताओं की कक्षा समझनेवाले चाहिये।
२. उपदेश देने में थकनेवाले नहीं चाहिये।
३. परोपकार की प्रवृत्ति में रसिक चाहिये।
४. स्व-पर शास्त्रों के ज्ञाता चाहिये।

अब, एक-एक बात को संक्षेप में समझाता हूँ। बड़ी महत्त्व की ये बातें हैं। पहली बात है श्रोताओं की कक्षा समझने की। आचार्यदेव श्री हरीभद्रसूरीश्वरजी ने 'षोडशक' नामक ग्रंथ में श्रोताओं की तीन कक्षाएँ बतायी हैं-१. बाल, २. मध्यम, ३. बुध.

धर्मतत्त्व से जो अनभिज्ञ होते हैं, धर्मक्षेत्र में जो नये-नये आते हैं वे जीव बाल जीव कहलाते हैं! संसार के क्षेत्रों में भले ही बुद्धिमान् हों, बड़े उद्योग चलानेवाले हों, लाखों-करोड़ों रुपयों की लेन-देन करनेवाले हों, परंतु यदि वे धर्मतत्त्व से सर्वथा अनभिज्ञ हैं, धर्मक्षेत्र में नये-नये आये हैं, वे बाल जीव कहे जाते हैं। ऐसे जीवों को ऐसी धर्मदेशना देनी चाहिए कि जिससे उनके तन-मन के दुःख... संताप... क्लेश दूर हों। उनके हृदय में दान, शील और तप धर्म के प्रति लगाव हो जाय। वे परमात्मा वीतरागदेव के प्रति, सद्गुरुओं के प्रति और जिनप्रणीत धर्म के प्रति श्रद्धावान बन जाय। ऐसे जीवों को क्रियात्मक धर्म ज्यादा पसंद आता है।

मध्यम कक्षा के लोगों को व्रत और नियम ज्यादा पसंद होते हैं। व्रत-नियमों का स्वरूप, व्रत-नियमों के फल... प्रभाव वगैरह सुनने में उनकी ज्यादा रुचि होती है। इन लोगों को व्रत-नियमों के धारक... और पालक स्त्री-पुरुषों के प्रति ज्यादा आकर्षण होता है। बाल कक्षा के लोग ऐसे व्रत-नियम नहीं देखते! वे तो मात्र धर्म का वेश देखते हैं!

तीसरी कक्षा के बुध-विद्वान लोगों की अभिरुचि तत्त्वज्ञान में होती है। और ये लोग ही तत्त्वज्ञान की गहराई में जा सकते हैं। आत्मस्वरूप की गहन बातें, मोक्ष स्वरूप की अगम-अगोचर बातें ये बुध मनुष्य ही समझ पाते हैं। सप्त नयों की और चार निक्षेप की बातें ये लोग ही ग्रहण कर सकते हैं। आत्मा के स्वभाव की और विभाव की चर्चा ये विद्वान् पुरुष ही कर सकते हैं।

कर्मबंध की, गुणस्थानकों की, गणित की, चौदह राजलोक की सूक्ष्म बातें बाल जीव और मध्यम जीव प्रायः नहीं समझ पाते। बुद्धिमान-बुध मनुष्य ही समझ पाते हैं।

समाज में सर्वत्र बुध मनुष्य थोड़े होते हैं। इनसे मध्यम जीव ज्यादा होते हैं और उनसे बाल जीव ज्यादा होते हैं। धर्मोपदेश सुनने के लिये इकट्ठे हुए एक हजार लोगों में नौ सौ लोग बाल, नब्बे लोग मध्यम और दस लोग बुध हो सकते हैं प्रायः। ऐसी सभाओं में विशेषरूप से बाल जीवों को लक्ष्य बनाकर धर्मोपदेश देना चाहिये।

बालजीव प्रचुर जीवों के सामने मोक्ष को और गहरे तत्त्वज्ञान की बातें कहने से कोई फायदा नहीं होता। वे लोग मोक्ष की बात समझ नहीं सकते। मोक्षतत्त्व को समझने की प्रायः उनमें बुद्धि नहीं होती है।

एक युवक जो कि बुद्धिमान् था, ग्रेज्युएट था, परंतु धर्ममार्ग में नया-नया जुड़ा था। बंबई में रहता था, उसका एक मित्र उसको जैनाचार्य के प्रवचन में ले गया। प्रवचन में उसने सुना कि 'जब तक मोक्ष अच्छा नहीं लगता हैं और संसार के सुख बुरे नहीं लगते हैं, तब तक तुम्हारी सारी धर्मक्रियायें व्यर्थ हैं! तुम्हारा कोई आत्महित नहीं कर सकता है!' प्रवचन सुनने के बाद वह युवक गहरे विचार में डूब गया। 'मैंने 'मोक्ष' को समझा नहीं है, तो फिर 'मोक्ष' अच्छा लगने की तो बात ही कहाँ है! और संसार के सुख मुझे अच्छे लगते हैं, प्रिय लगते हैं... तो फिर मैं जो परमात्मपूजा की धर्मक्रिया करता हूँ, वह क्रिया व्यर्थ ही है! मैं जो नवकार मंत्र का जाप करता हूँ वह भी व्यर्थ है!'

उसने धर्मक्रिया छोड़ दी। कुछ महीनों के बाद जब वह मुझे मिला, उसने यह बात बतायी! मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ! मैंने उसको समझाया कि-'भैया, भले तू

मोक्ष का स्वरूप नहीं समझता है, परन्तु तूझे मोक्ष के प्रति द्वेष तो नहीं है न?' कोई मोक्ष की बात करे तो तू नाराज तो नहीं होता है न?' उसने कहा : 'मैं क्यों नाराज होऊँ? राजी होना या नाराज होना, यह तो 'मोक्ष' के स्वरूप को जानने के बाद की बातें हैं। मुझे मोक्ष के प्रति द्वेष नहीं है।' मैंने कहा : 'तो फिर तेरी धर्मक्रिया निष्फल नहीं है, सार्थक है।'

दूसरी बात मैंने समझायी-'तुझे संसार के वैषयिक सुख अच्छे लगते हैं... मीठे लगते हैं... प्रिय लगते हैं, परन्तु तेरी मान्यता क्या है? तू क्या संसार के सुखों को उपादेय मानता है?' उसने कहा : 'नहीं, मैं उपादेय तो नहीं मानता। मुझे वैषयिक सुख प्रिय लगते हैं-यह बात भी मैं अच्छी नहीं मानता हूँ। मेरी कमजोरी मानता हूँ।' मैंने कहा 'तो फिर तुझे धर्मक्रियाएँ छोड़नी नहीं चाहिये, करनी चाहिये। तेरी धर्मक्रिया व्यर्थ नहीं है, सार्थक है।'

उसको समझाया। उसके मन का समाधान किया। दूसरा एक व्यक्ति आया। वह भी वैसा ही उपदेश सुनकर आया था। था बुद्धिमान्, परन्तु नया-नया धर्मक्षेत्र में आया था। ग्रेज्युएट होने के बाद उसने सर्विस-नौकरी पाने के लिये छः महीने तक प्रयत्न किया, परन्तु सर्विस नहीं मिली। वह बहुत अशान्त हो गया था। गरीब माता-पिता का वह पुत्र था। वह अपने माता-पिता का आर्थिक दृष्टि से सहायक बनना चाहता था। नौकरी नहीं मिलने से बड़ा परेशान था। एक दिन वह पास में ही जो उपाश्रय था, वहाँ प्रवचन सुनने चला गया। चातुर्मास के दिन थे। एक विद्वान मुनिराज का वहाँ चातुर्मास था। श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथ भगवंत की आराधना चल रही थी। करीबन ५०० भाई-बहनों को अट्ठम का तप था और जाप-ध्यान करते थे।

जब वह युवक उपाश्रय में गया, तो वहाँ मुनिराज का प्रवचन चल रहा था। श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथ भगवंत की महिमा बताते हुए उन्होंने कहा : 'जो कोई श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथ भगवंत की शरण में जाता है, उसके दुःख दूर हो जाते हैं, अशान्ति दूर हो जाती है। मनोवांछित सुख प्राप्त होता है।'

उस युवक के मन में यह बात जँच गई। उसने अपने मन में श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथ की शरण स्वीकार कर ली और मनोमन प्रार्थना की... 'हे भगवंत, मुझे नौकरी मिल जायेगी कि शीघ्र ही तेरे दर्शन करने आऊँगा और अट्ठम का तप करूँगा। प्रभो, तू ही मेरा शरण्य हो।'

दूसरे ही दिन उसको नौकरी मिल गई। अच्छी नौकरी मिली। वह शंखेश्वरजी गया, अट्ठम किया और बाद में वह शंखेश्वर पार्श्वनाथ भगवंत का अनन्य आराधक बन गया।

एक दिन वह युवक बम्बई में एक आचार्यश्री के प्रवचन में गया। वहाँ उसने सुना-'संसार के आशय से किया हुआ धर्म, अधर्म से-पाप से भी ज्यादा खराब है। वह धर्म जनम-जनम जीव को संसार में भटकाता है!' वह तो स्तब्ध रह गया! उसके मन में द्विधा पैदा हो गई। उसने अपने एक मित्र से यह बात की। उसका वह मित्र मेरा परिचित श्रावक है, वह उसको मेरे पास ले आया। मैंने सारी बात सुनी। मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ! हर बात में शास्त्र और शास्त्रकारों की बात करनेवाले... प्रौढ़ और प्रभावशाली आचार्यश्री ने क्या **'ललितविस्तरा,' 'पंचाशक,' 'श्राद्धदिनकृत्य,' 'धर्मसंग्रह,' 'प्रश्नचिंतामणि,' 'षोडशक', 'पुष्पमाला,' 'उत्तराध्ययन-सूत्र,' 'श्राद्धविधि,' 'उपदेशतरंगिणी,' 'योगबिन्दु'** वगैरह ग्रन्थों का अवगाहन नहीं किया होगा? जैन शास्त्रकार बाल-मुग्ध जीवों को इहलौकिक सुखों के लिये भी जिनोक्त धर्म करने का निषेध करते ही नहीं हैं। चूँकि धर्मप्रवृत्ति से ही पापप्रवृत्ति दूर होती है। और मनुष्य के जीवन में अरिहंत परमात्मा आराध्य बनते हैं। सांसारिक प्रयोजनवाला-लौकिक आशयवाला भी धर्मानुष्ठान, मोक्ष के प्रति द्वेष नहीं होने से, सद्अनुष्ठान का कारण बनता है। आगे चलकर, वह मोक्षमार्ग का आराधक बन जाता है। धर्म आराधना का प्रयोजन भले ही जीवननिर्वाह हो या संसारसुख की लालसा हो, उसके लिये धर्म ही उपादेय है।

ऐहिक प्रयोजन सिद्ध होने से जीवात्मा आर्तध्यान से व असमाधि से बचता है। उसका चित्त स्वस्थ बनता है, इससे वह धर्मप्रवृत्ति कर सकता है। आगे बढ़ते हुए शुद्ध-मोक्ष का आशयवाला धर्म कर, वह मुक्ति का सुख पा सकता है।

मैंने उस युवक को समझाया। उसके मन का समाधान हुआ।

बालजीवों के सामने, उनके योग्य धर्मोपदेश नहीं देने से कैसे अनर्थ होते हैं-इसके यहाँ मात्र दो उदाहरण ही आपको दिये हैं। परंतु इस प्रकार कितने ही अनर्थ होते होंगे? इसलिये धर्मोपदेशक को बहुत सावधानी से उपदेश देना चाहिये। शास्त्रवचनों का संदर्भ समझकर, सापेक्षदृष्टि से उपदेश देना चाहिये।

कभी-कभी, बुध-विद्वान पुरुषों के सामने बालयोग्य उपदेश देने से उपदेशक का उपहास होता है। मेरे साथ भी वैसी घटना घटी थी। करीबन ३० वर्ष पहले की बात है। हमारे स्व. परम गुरुदेवश्री के साथ विहार करते-करते हम सौराष्ट्र के एक गाँव में गये थे। लंबा विहार कर उस गाँव में पहुँचे थे। स्वागत-जुलूस भी एक घंटा फिरा होगा। उपाश्रय में आते ही प्रवचन का कार्यक्रम था। पूज्य गुरुदेवश्री ने पहले ही दिन मुझे कहा : 'यहाँ आज से तुझे प्रवचन देने हैं।'

पहला ही दिन था। सर्वप्रथम उस गाँव में आये थे। लोगों से परिचय नहीं था। सोचा कि 'छोटे गाँव में लोग सामान्य बुद्धि के होंगे।' मैंने तो प्रवचन में एक अच्छी कहानी सुना दी और प्रवचन पूरा कर दिया!

प्रवचन में सात-आठ प्रबुद्ध श्रावक थे। उन्होंने जाकर पूज्य गुरुदेवश्री से कहा : 'आज जिन मुनिराज ने प्रवचन दिया, क्या उनको शास्त्रों का अध्ययन नहीं है? विशेष तत्त्वज्ञान नहीं पाया है? उन्होंने तो एक रसपूर्ण कहानी सुना कर प्रवचन पूरा कर दिया।'

प्रवचन से उन सात-आठ श्रावकों को संतोष नहीं हुआ, चूँकि वे प्रबुद्ध थे!

सभा में से : दूसरे दिन तो फिर तत्त्वज्ञान ही तत्त्वज्ञान दिया होगा प्रवचन में?

महाराजश्री : नहीं, वैसा करता तो, उन सात-आठ श्रावकों के अलावा जो सौ-सवा सौ जितने भाई-बहन आते थे प्रवचन में, उनको संतोष नहीं होता और वे पूज्य गुरुदेव के पास जाकर शिकायत करते! इसलिये मध्यममार्ग अपनाया! कुछ तत्त्वज्ञान, कुछ तर्क और कुछ कहानी! बस, फिर तो सब खुश हो गये थे!

धर्मोपदेश देने में थकना नहीं है :

उपदेश देने में परिश्रम तो होता है। जब बड़ी प्रवचन-सभा होती है, तीन-चार हजार अथवा पाँच-सात हजार... दस हजार लोगों की सभा को धर्म उपदेश सुनाना होता है [माईक के बिना] तब कड़ा परिश्रम करना पड़ता है। सतत डेढ़-दो घंटे तक प्रवचन देते हुए शरीर श्रमित हो जाता है। परंतु ऐसे श्रम की परवाह नहीं करनी चाहिये। परोपकार परायण मन, ऐसे परिश्रम को परिश्रम मानता ही नहीं है।

कभी ऐसे गाँव में जाना होता है कि वहाँ सुबह, दोपहर और रात्रि में प्रवचन देने पड़ते हैं। परंतु लोगों की उत्कट धर्मभावना, अपार भक्ति और सख्त परंतु स्नेहपूर्ण आग्रह देखकर थकान लगती ही नहीं है!

परंतु जहाँ पर लोग प्रवचन के समय मौन नहीं रहते, शान्ति नहीं रखते, अनुशासन का पालन नहीं करते, वहां थकान लग जाती है! वहाँ दूसरी बार प्रवचन देने की इच्छा नहीं होती है। इसलिये, जिस प्रकार उपदेशक को उपदेश देने में थकना नहीं है, उसी तरह श्रोताओं को अनुशासन का पालन करना होता है।

दूसरी महत्व की बात है, श्रोताओं के उल्लास की। प्रवचन सुनते हुए श्रोताओं के मुँह पर आनंद के, उल्लास के भाव उभरते हैं, तो वक्ता को श्रम महसूस ही नहीं होता है। लेकिन कुछ गाँवों में मैंने 'स्थितप्रज्ञ' श्रोता देखे हैं! एक ही गंभीर मुखमुद्रा बनाये प्रवचन सुनते रहते हैं! उनके मुँह पर कोई भाव-परिवर्तन नहीं होता!

वक्ता परोपकाररसिक चाहिये :

जिस वक्ता के हृदय में परोपकाररसिकता होती है, वह उपदेश देने में थकते नहीं हैं। **'पर-उपकार समो नहीं सुकृत।'** यह सूत्र उनके हृदय की दीवार पर लिखा हुआ होता है। वे सहजता से परोपकार की प्रवृत्ति में प्रवर्तमान होते हैं। और साधु के जीवन में धर्मोपदेश के अलावा दूसरा कौन सा परोपकार का कार्य होता है? तीर्थंकर भगवंतों ने यही श्रेष्ठ परोपकार का कार्य बताया है।

परोपकाररसिक वक्ता सोचकर उपदेश देगा। 'मेरे इस उपदेश से श्रोताओं का हित होगा न? अहित तो नहीं होगा न? मेरा उपदेश जिनाज्ञानुसारी है न?' यह सोचना बहुत आवश्यक होता है। मनचाहा उपदेश देने मात्र से दूसरों पर उपकार नहीं होता है। जिनाज्ञानुसार उपदेश से ही परोपकार होता है। चूँकि इस जगत में अनाथों का आधार जिनवचन ही है। अशान्ति का औषध एक मात्र जिनवचन ही है। इसलिये धर्मोपदेश जिनवचनरूप होना चाहिये।

वक्ता स्व-पर शास्त्रों का ज्ञाता चाहिए :

धर्मोपदेशक को जैन शास्त्रों का और जैनेतर शास्त्रों का ज्ञान होना चाहिए। जैनधर्म के सिद्धांतों का सुचारु बोध होना चाहिये। सिद्धांतों को समझाने की सुंदर शैली होनी चाहिये।

जैनेतर वैदिक, बौद्ध आदि धर्मों का और इसाई, इस्लाम आदि धर्मों का भी अच्छा ज्ञान होना चाहिये। इसके अलावा कुछ प्रसिद्ध विचारकों की विचारधाराओं का भी ज्ञान होना आवश्यक होता है। इससे जो कोई भी धर्मजिज्ञासावाला अथवा धर्म के विषय में वाद-विवाद करनेवाला, उसके पास आये तो उसका समाधान कर सकता है। अपने धर्मशासन का गौरव बढ़ा सकता है।

दूसरे धर्म-दर्शनों के सिद्धान्तों का खंडन करने के लिये भी उनके सिद्धान्तों का सही ज्ञान होना चाहिये। यदि यह ज्ञान नहीं होता है, तो दूसरों के सिद्धान्तों के प्रति अन्याय हो जाता है। गलत ढंग से उनके सिद्धान्तों को प्रस्तुत करना घोर अन्याय ही है।

ऐसा अन्याय 'शंकरमाण्य' में श्री शंकराचार्य ने किया है। उन्होंने जैनधर्म के सिद्धान्त 'अनेकान्तवाद' को गलत ढंग से प्रस्तुत किया है। यदि उन्होंने 'अनेकान्तवाद' का यथार्थ अध्ययन किया होता, तो ऐसा नहीं करते। उन्होंने 'अनेकान्तवाद' का अर्थ 'अनिश्चितवाद' कर दिया है!

जबकि जैनाचार्यों ने जहाँ-जहाँ भी अन्य धर्म-दर्शनों के सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं, न्यायपुरस्सर प्रस्तुत किये हैं।

एक बार एक वेदान्ताचार्य विद्वान् पंडित से मेरी बात हुई थी। मैंने कहा : 'आपके आचार्यों को भी अनेकान्तवाद का सहारा तो लेना ही पड़ा है!'

पंडितजी ने कहा : 'कैसे?'

मैंने कहा : 'देखिये, आपके वेदान्तदर्शन में 'सत्' तीन प्रकार के बताये गये हैं : पारमार्थिक सत्, व्यवहारिक सत् और प्रातिभासिक सत्। क्या ये तीन सत्, तीन अपेक्षाओं से नहीं कहे गये हैं?'

❖ पारमार्थिक दृष्टि से 'आत्मा' ही सत् बतायी,

❖ व्यवहारिक दृष्टि से संसार के व्यवहारों को सत् बताये, और

❖ प्रतिभास की दृष्टि से 'रस्सी में साँप' की कल्पना जैसी मिथ्या कल्पनायें बतायी।

यह 'दृष्टि' क्या है? यही सापेक्षवाद है! यही अनेकान्तवाद है!

पंडितजी अनाग्रही थे। उन्होंने यह बात सुनकर प्रसन्नता व्यक्त की। और जब उनको 'षड्दर्शन समुच्चय', 'स्याद्वाद मंजरी', 'रत्नाकर अवतारिका' वगैरह ग्रंथों में प्रस्तुत बौद्ध, वैदिक वगैरह के मंतव्य बताये तब वे सचमुच आश्चर्य में डूब गये। जैनाचार्यों ने अन्य दर्शनों के सिद्धान्तों का खंडन अवश्य किया है, परन्तु प्रामाणिकता से किया है।

जैनधर्म के ही साधु-साध्वी अन्य दर्शनों का अध्ययन करते हैं। प्रायः और कोई भी धर्म के साधु जैनधर्म के सिद्धान्तों का अध्ययन नहीं करते हैं।

उपसंहार :

कहने का तात्पर्य यह है कि सदैव उपदेश देना श्रेयस्कर है। इससे न मात्र परोपकार होता है, स्वोपकार भी होता है। टीकाकार महर्षि कहते हैं-

'आत्मानं परं च हि हितोपदेष्टाऽनुगृहणाति'

हितदृष्टि से उपदेश देनेवाला उपदेशक स्वयं पर और दूसरों पर अनुग्रह करता है।

उपदेशक को 'कर्मनिर्जरा' तो होती ही है, विशेष में उसका धर्मविषयक चिंतन-मनन भी बढ़ता है। इसलिये इस जगत को पापों से मुक्त करने हेतु धर्म का उपदेश सदैव देते रहना है। धर्म से ही अर्थ, काम और मोक्ष प्राप्त होता है। चार पुरुषार्थ में धर्म ही प्रधान पुरुषार्थ है, इसका ही उपदेश देते रहना, जगत् पर श्रेष्ठ उपकार है।

आज बस, इतना ही।

प्रवचन-९

परम कृपानिधि महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरीश्वरजी, स्वरचित 'धर्मबिन्दु' ग्रंथ के तीसरे अध्याय में गृहस्थजीवन का विशेष धर्म बता रहे हैं। बारह व्रतमय विशेष धर्म बताने से पूर्व वे कहते हैं कि धर्मजिज्ञासा से जो कोई महानुभाव गुरु के पास आये, गुरु उसको सर्वप्रथम साधुधर्म का रसपूर्ण उपदेश दे! विस्तार से साधुधर्म की विवेचना कर 'मनुष्यजीवन में साधुधर्म की ही आराधना करनी चाहिए,' ऐसा भाव श्रोता के हृदय में पैदा करना चाहिये।

यदि गुरु, पहले साधुधर्म का उपदेश नहीं देते हैं, सीधा गृहस्थधर्म का ही उपदेश देते हैं, तो उनको जिनाज्ञा-भंग का पाप लगता है। हाँ, जो व्यक्ति साधुधर्म को स्वीकार और पालन करने में समर्थ नहीं होता है, उसको गुरु गृहस्थधर्म का उपदेश देते हैं।

प्रश्न : गुरुदेव गृहस्थ को अणुव्रत-गुणव्रत-शिक्षाव्रत-स्वरूप गृहस्थधर्म प्रदान करते हैं, तो जितने अंश में गृहस्थ पापों का त्याग नहीं करता हैं, उन पापों में गुरुदेव को अनुमति का दोष नहीं लगता है क्या? चूँकि अणुव्रतादि आंशिक पापत्यागरूप होते हैं।

उत्तर : नहीं लगता है दोष गुरु महाराज को। ग्रंथकार स्वयं प्रश्न का समाधान करते हुए कहते हैं :

'भगवद्वचनप्रामाण्यादुपस्थितदाने दोषाभावः।'

'उपासकदशा' वगैरह आगमग्रन्थों में हम पढ़ते हैं कि श्रमण भगवान् महावीरदेव ने स्वयं, आनन्द वगैरह श्रावकों को अणुव्रतादि दिये थे! तो क्या भगवान को भी जिन अशों में उन श्रावकों ने पापत्याग नहीं किया था, उनमें अनुमति का दोष लगा? नहीं, भगवान जो भी करते हैं, वह सर्वांगसुंदर होता है, दोषरहित होता है। इसलिये, हमें भी अणुव्रतादि गृहस्थधर्म देने में पाप-अनुमति का दोष नहीं लगता है। जितने अंश में गृहस्थ पापों का त्याग नहीं करता है, उन अंशों में हमारी अनुमति नहीं होती है कि 'भले वह पाप करता रहे... पाप करके भी सुखी रहता हो तो रहे...।' ऐसा विचार हम नहीं करते हैं। हम तो यह सोचते हैं अणुव्रत वगैरह व्रत-नियम देते समय कि : 'बिचारा सभी पापों का त्याग कर

साधुधर्म को स्वीकार नहीं कर सकता है, भले, अभी अणुव्रतादि ग्रहण करे... जब उसका वीर्योल्लास बढ़ेगा, वह महाव्रत भी स्वीकार करेगा।'

टीकाकार आचार्यश्री तो कहते हैं कि जीवों को अणुव्रतादि देने में गुरुओं को मध्यस्थ भाव यानी साक्षीमात्र-भाव धारण करने का होता है।

अणुव्रतादि देने में मात्र साक्षीभाव चाहिए :

साक्षीभाव धारण करना है यानी कर्तृत्वभाव धारण नहीं करना है। 'मैंने इसको अणुव्रतादि दिये!' ऐसा कर्तृत्वभाव नहीं चाहिये व्रतदाता के मन में। 'यह महानुभाव अणुव्रतादि लेने उपस्थित हुआ है और मुझे उसको विधिवत् देने हैं।' बस! इससे ज्यादा नहीं सोचना है। इससे, जो और जितने पाप वह नहीं छोड़ता है, उन और उतने पापों में व्रतदाता गुरु की अनुमति नहीं होती है। व्रतदाता की अनुमति का प्रश्न ही नहीं उठता है! जब उसको साक्षीमात्र भाव का अवलंबन लेने का है, फिर अनुमति किस बात की?

पहला अणुव्रत लेनेवाला व्यक्ति 'मैं जानबूझकर त्रस जीवों की हिंसा नहीं करूँगा कि जो निरपराधी हैं।' इस प्रकार अणुव्रत लेता है। इसने अपराधी जीवों को नहीं मारने की प्रतिज्ञा नहीं ली, स्थावर जीवों को नहीं मारने की प्रतिज्ञा नहीं ली, तो क्या इन जीवों को वह मारेगा इसमें व्रतदाता गुरु की अनुमति हो गई? नहीं, व्रतदाता गुरु तो व्रत लेनेवाला जिस प्रकार व्रत माँगता है, उस प्रकार देते हैं। उसको महाव्रत लेने को समझाते हैं, वह लेना नहीं चाहता है, तो फिर वह जितने अंश में पापों का त्याग करना चाहता है, उतना त्याग करवाते हैं। वह जो पाप नहीं छोड़ता है, उन पापों के साथ व्रतदाता गुरु को कुछ भी लेना-देना नहीं होता है।

श्रेष्ठिपुत्रों की एक उपनय कथा :

सुनिये, इस बात को एक उपनय कथा के माध्यम से समझाता हूँ। बहुत प्राचीन समय की यह कथा है। घोर व्यथा की यह कथा है।

प्राचीन मगध देश में [वर्तमान में बिहार] वसन्तपुर नाम का नगर था। उस नगर का राजा था जितशत्रु और रानी का नाम था धारिणी। उसी नगर में समुद्रदत्त नाम का श्रेष्ठि रहता था। उसकी पत्नी का नाम था सुमंगला। सुमंगला ने क्रमशः छः पुत्रों को जन्म दिया। उनके नाम थे प्रियंकर, क्षेमंकर, धनदेव, सोमदेव, पूर्णभद्र और माणिभद्र।

एक दिन अन्तःपुर में रानी धारिणी ने राजा के सामने अद्भुत नृत्य किया। इससे संतुष्ट हो राजा ने रानी से वरदान माँगने को कहा। रानी ने कहा : 'नाथ, अभी

वरदान आपके पास ही रखिये। अवसर आने पर माँगूँगी।'

कुछ दिनों के बाद कौमुदीमहोत्सव का समय आया। रानी ने राजा को कहा : 'नाथ, मेरी ऐसी इच्छा है कि मैं मेरे परिवार के साथ व शेष अन्तःपुर के साथ, रात्रि के समय नगर के राजमार्गों पर परिभ्रमण करूँ!' राजा ने स्वीकृति दी और नगर में डंका बजवाया कि 'आज सूर्यास्त के पहले सभी पुरुष नगर के बाहर चले जायें। रात्रि के समय कोई भी पुरुष नगर में नहीं रहेगा।' राजा भी मंत्रिमंडल व नगर के प्रमुख व्यक्तियों के साथ नगर के बाहर 'मनोरम' उद्यान में चला गया।

परंतु श्रेष्ठि समुद्रदत्त के छः पुत्र नगर के बाहर नहीं जा सके। वे अपनी दुकान के काम में अति व्यस्त रहे। 'अभी चलते हैं, अभी चलते हैं...' करते करते जब वे नगर के द्वार पर पहुँचे, द्वार बंद हो गये थे। वे वापस अपने घर लौट गये और भूमिगृह में छिपकर रहे।

रात्रि के समय धारिणी सुंदर शृंगार सज कर अन्तःपुर की अन्य रानियों के साथ नगर में परिभ्रमण करने निकली। राजमार्गों पर जगह-जगह दीप जल रहे थे। सभी राजमार्ग परिमार्जित थे। जगह-जगह तोरण बांधे गये थे। सुगंधित जल का छिड़काव किया गया था। रानी ने प्रातःकाल तक नगर में परिभ्रमण किया। राजा और प्रजा ने नगर में प्रवेश किया। राजा ने नगररक्षकों को आदेश दिया : 'नगर में तलाश करो, मेरी आज्ञा का किसी ने भंग तो नहीं किया है?'

नगररक्षकों ने तलाश की। नगरश्रेष्ठि के छः पुत्रों ने राजा की आज्ञा का पालन नहीं किया था, नगररक्षकों को मालूम हो गया। उन्होंने राजा को निवेदन किया। राजा अत्यंत रोषायमान हुआ। उसने आज्ञा की : 'उन आज्ञाभंजक छः लड़कों का वध किया जाय।'

आज्ञा सुनकर श्रेष्ठि समुद्रदत्त स्तब्ध रह गया। उसका चित्त भ्रमित सा हो गया। अत्यंत व्यथा से व्यथित हो गया।

परंतु अविलंब स्वस्थ बन, नगर के प्रधान लोगों को साथ ले, श्रेष्ठ रत्नों का थाल लेकर वह राजा के पास गया। उसने राजा को प्रणाम कर कहा : 'महाराज, मेरे पुत्रों का कोई भी दुष्ट आशय नहीं था। वे दुकान के कार्यों में अति व्यस्त होने से बाहर नहीं निकल सके। नगर के द्वार बंद हो गये थे। इसलिये उनका अपराध क्षमा करें। मेरे प्रिय पुत्रों को जीवन प्रदान करने की कृपा करें।' रोते-विलपते ऐसी प्रार्थना करने पर भी राजा का रोष शान्त नहीं होता है। पुनः-पुनः प्रार्थना करने पर भी राजा क्षमा प्रदान नहीं करता है।

तब श्रेष्ठि ने कहा : 'महाराजा, आप मेरे छः पुत्रों को मुक्त करना नहीं चाहते तो पाँच पुत्रों को क्षमा कर मुक्त करने की कृपा करें।'

राजा ने नहीं माना, तो श्रेष्ठि ने कहा : 'कृपानाथ, आप पाँच नहीं तो चार पुत्रों को मुक्त करने की कृपा करें।' राजा ने नहीं माना।

'मेरे नाथ, चार नहीं तो तीन पुत्रों को अभयदान देने की कृपा करें...' राजा का पत्थर दिल फिर भी नहीं पसीजता। श्रेष्ठि ने कहा :

'राजेश्वर, तीन नहीं तो दो पुत्रों को मुक्त करें...' राजा नहीं मानता है, तो श्रेष्ठि ने गिड़गिड़ाते हुए कहा : 'आपको मैं भगवान मानता हूँ... मेरे ऊपर कृपा करें, मेरे एक पुत्र को तो मुक्त करना ही होगा... अन्यथा मैं निःसंतान हो जाऊँगा, मेरा जीना व्यर्थ हो जायेगा...। व्यर्थ तो हो ही गया है जीवन...।'

मंत्रिमंडल ने भी राजा को अनुनय किया। राजा ने एक पुत्र को मुक्ति दी। श्रेष्ठि उदासीन भाव से... एक पुत्र को अपने साथ लेकर घर आया। 'पाँच पुत्रों का वध होगा...' यह विचार 'मेरा एक पुत्र बच गया...' इस बात का आनन्द नहीं होने देता है। एक गहरा दुःख दूसरे सामान्य सुख का अनुभव नहीं होने देता है। पाँच पुत्रों की मुक्ति नहीं होने से गहरा दुःख था श्रेष्ठि के हृदय में। भरसक प्रयत्न करने पर भी वह सभी पुत्रों को बचा नहीं पाया था! उसको अपने सभी पुत्रों के ऊपर प्रेम था। इसलिये उसका हृदय व्यथित था। एक पुत्र बचने पर भी वह उस बात की खुशी नहीं अनुभव कर सकता था। एक पुत्र को बचाया श्रेष्ठि ने, इसका अर्थ यह नहीं होता कि पाँच पुत्रों की हत्या में उसने सहमति-अनुमति दी थी! वह उनको बचाना चाहता था, बचाने का भरसक प्रयत्न भी किया था, परंतु वह निरुपाय था... पाँच पुत्रों को नहीं बचा पाया...! उसमें पाँच पुत्रों के वध में अनुमति होने का प्रश्न ही नहीं उठता!

अब, इस कहानी का उपनय बताता हूँ।

❖ वसन्तपुर नगर यानी संसार,
❖ राजा यानी श्रावक (गृहस्थ)
❖ श्रेष्ठि यानी गुरु
❖ छः पुत्र यानी षड्जीवनिकाय [पृथ्वीकायादि]

गुरु अपने पुत्र समान षड्जीवनिकाय के जीवों को हिंसा करते हुए गृहस्थ को, श्रावक को समझाते हैं, यानी साधुधर्म स्वीकार करके षड्जीवनिकाय [पृथ्वीकाय, अपकाय, तेऊकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय] के जीवों को पूर्ण अभयदान देने स्वरूप साधुधर्म को स्वीकार करने हेतु समझाते

हैं, फिर भी गृहस्थ नहीं समझता है और अणुव्रतादि ही ग्रहण करता है, तब गुरु मध्यस्थभाव, साक्षीभाव ही धारण करते हैं। श्रावक जितने हिंसादि पाप करता है, उसमें अनुमति नहीं होती और जितने पाप नहीं करता है, उसमें खुशी नहीं होती! वे मात्र साक्षीभाव धारण करते हैं।

दो रहस्यभूत बातें :

टीकाकार आचार्यश्री ने दो बातें महत्वपूर्ण बतायी हैं। पहली बात : **'भगवदनुष्ठानस्य सर्वांगसुन्दरत्वेनैकान्ततो दोषविकलत्वात्।'** परमात्मा तीर्थंकरदेव का कोई भी अनुष्ठान, कोई भी क्रिया हो, सर्वांगसुंदर होता है। एकान्ततः दोषरहित होता है। कितनी यथार्थ बात कही है टीकाकार आचार्यश्री ने! इस बात का निष्कर्ष यह होता है कि हमें परमात्मा तीर्थंकरदेव की प्रत्येक क्रिया में सर्वांगसुंदरता देखनी है, नहीं दिखे तो खोजनी है। अवश्य मिलेगी सुंदरता।

परंतु सौन्दर्य जितना वस्तु में या क्रिया में नहीं होता, उतना देखनेवाले की दृष्टि में होना चाहिये! दृष्टि में सौन्दर्य नहीं होगा तो वस्तु या व्यक्ति में सौन्दर्य नहीं दिखायी देगा। दोषदृष्टि दोष देखेगी।

सभा में से : जैनधर्म के ही एक पंथ के आचार्य ने लिखा है कि भगवान महावीर स्वामी ने अपना आधा देवदूष्य ब्राह्मण को दिया था, वह उनकी भूल थी। भगवान भी चूके!

महाराजश्री : और वे आचार्य तो सब कुछ चूक गये न! उनको दानधर्म का निषेध करना था, दया धर्म का निषेध करना था, इसलिये भगवंत की भी भूल बताने की कुत्सित चेष्टा की है उन्होंने! वास्तव में देखा जाय तो वे ऐसे उजड़े हुए... मरुभूमि के प्रदेश के थे... कि उनमें सौन्दर्यदृष्टि हो नहीं सकती थी। वे चाहते तो भी भगवान महावीर स्वामी की उस दानक्रिया में सौन्दर्य देख सकते थे। वह क्रिया दोषरहित देख सकते थे। परंतु देखते कैसे? दृष्टि में विपर्यास था, दृष्टि बिगड़ गयी थी! दया और दान-इन दो धर्मों का छेद उड़ाना था उनको! खंडन का भी एक जोश होता है। और जोश में होश नहीं रहता। तीर्थंकर जैसे विशिष्ट ज्ञानी लोकोत्तर पुरुष की भूल एक अज्ञानी व्यक्ति बताता है! जिस समय भगवान ने ब्राह्मण को देवदूष्य दिया था उस समय भगवान को मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यव ज्ञान-ये चार ज्ञान थे। और गलती बतानेवाले उन स्वामी को कितने ज्ञान थे? क्या पूरा श्रुतज्ञान भी था? संस्कृत और प्राकृत भाषा का भी परिपूर्ण ज्ञान था क्या? ठीक है, अज्ञान प्रजा में, निरक्षर प्रजा में उस समय एक 'पंथ' निकाल दिया!

पंथ निकालना बड़ी सरल बात होती है। जिस प्रकार भारत में कितने राजकीय पंथ निकलते हैं! कितनी पार्टियाँ? वैसे!

परमात्मा तीर्थंकरदेव चाहे बचपन में हों, युवावस्था में हों या बड़ी उम्र में हों- किसी भी अवस्था में, उनकी प्रत्येक प्रवृत्ति दोषरहित होती है, सर्वांगसुंदर होती है।

दूसरी महत्वपूर्ण बात है-**साक्षीभाव की।** साधुपुरुषों के लिये वैश्विक बातों में साक्षीभाव ही अपेक्षित है। मात्र ज्ञाताभाव, मात्र द्रष्टाभाव रहना चाहिये। गृहस्थ को अणुव्रतादिमय गृहस्थधर्म प्रदान करने में भी जब साक्षीभाव रखने को कहा गया है, तो फिर दूसरी सामाजिक बातों में तो एकदम साक्षीभाव रहना चाहिये। पापमय प्रवृत्ति में खास कर साक्षीभाव रहना चाहिये। कोई भी सावद्य प्रवृत्ति में साधु पुरुषों की अनुमोदना नहीं होनी चाहिये। इतनी सावधानी बरतते हुए गुरुजनों को चाहिये कि वे विधिपूर्वक व्रत प्रदान करें।

व्रतप्रदान में विधि की व्यापकता :

व्रत देना और लेना-महत्वपूर्ण क्रिया है। विधिपूर्वक दिया जाता है, तो व्रत लेनेवाले को व्रतपालन में शक्ति प्राप्त होती है। विधिपूर्वक व्रत ग्रहण करने से व्रतपालन में दृढ़ता आती है। और, यही तो उद्देश्य होता है व्रत लेने का। व्रतों को ग्रहण कर, उन व्रतों का दृढ़ता से पालन करने से आत्मा पापमुक्त, विशुद्ध बनती है। क्रमशः महाव्रतमय जीवन बनाने की भावना जगती है, शक्ति प्राप्त होती है।

ग्रंथकार महर्षि ने 'विधि' के अन्तर्गत पाँच बातें बतायी हैं-

योगवंदननिमित्तदिगाकारशुद्धिरिति ।।

❖ पहली होनी चाहिये योगशुद्धि,
❖ दूसरी होनी चाहिये वन्दनशुद्धि,
❖ तीसरी होनी चाहिये निमित्तशुद्धि,
❖ चौथी होनी चाहिये दिशाशुद्धि,
❖ और, पाँचवीं होनी चाहिये आकारशुद्धि।

'विधि' में कोई एक बात नहीं है, पाँच-पाँच बातें हैं। पापों से मुक्त करनेवाला, भवसागर से पार लगानेवाला धर्म ग्रहण करना है न! उस धर्म का पालन करना है। इसलिये इन सारी बातों पर ध्यान देना आवश्यक होता है। अपन यहाँ इन पाँचों बातों पर विवेचन करेंगे। सर्वप्रथम 'योगशुद्धि' बताता हूँ।

योगशुद्धि :

यहाँ पंचांग के सिद्धियोग या कुमारयोग की बात नहीं है। यहाँ बात है मन, वचन और काया के योगों की। मनोयोग, वचनयोग और काययोग की शुद्धि होनी आवश्यक है।

गृहस्थधर्म अंगीकार करना है, पवित्र कार्य करना है, इसलिये शरीर शुद्ध होना चाहिये। शरीर के साथ-साथ वस्त्र भी शुद्ध होने चाहिये। घर से निकलकर उपाश्रय कि जहाँ गुरुदेव बिराजमान हों, वहाँ जाते समय उपयोग रखना चाहिये कि कहीं पर भी अशुचि में पैर न पड़ जाय।

दूसरी चाहिये वचनयोग की शुद्धि। व्रत ग्रहण करने से पूर्व, ग्रहण करते समय और ग्रहण करने के बाद, वाणी-वचन निष्पाप रहने चाहिये। क्रोधयुक्त, मानयुक्त, मायायुक्त वचन नहीं बोलने चाहिये। वैसे असत्य और अहितकारी वचन नहीं बोलने चाहिये। किसी को पीड़ा हो वैसे वचन नहीं बोलने चाहिये। सत्य, प्रिय और हितकारी वचन ही बोलने चाहिये। यह है वचनशुद्धि।

जब आप शुभ, पवित्र और सुंदर विचार करते हैं, तब मनोयोग शुद्ध कहलाता है। व्रत ग्रहण करते समय मन प्रशान्त चाहिये, और उल्लसित चाहिये। व्रतदाता गुरुदेव के प्रति बहुमान के शुभ भाव हों, व्रतमय धर्म के प्रति श्रद्धा के निर्मल भाव हों, 'इन व्रतों से मेरी आत्मा निर्मल बनेगी,' इस प्रकार के प्रशस्त भाव हों। इस तरह मन-वचन-काया के योगों की शुद्धि होनी चाहिये।

वंदनशुद्धि :

दूसरी शुद्धि चाहिये वन्दन की। व्रत ग्रहण करते समय परमात्मा को व गुरु को वन्दन करने का होता है। विधिपूर्वक वंदन करने का होता है। वंदन की क्रिया के सूत्र हैं। सूत्रोच्चारण स्खलनारहित करना चाहिये। सूत्रोच्चारण करते समय अल्पविराम, पूर्णविराम आदि का लक्ष्य रखते हुए कहाँ रुकना, कहाँ नहीं रुकना, इसका खयाल रखना चाहिये। सभी सूत्र परिपूर्ण बोलने चाहिये। प्रणिपात भी विधिवत् पंचांग करना चाहिये।

व्रतग्रहण करते समय 'कायोत्सर्ग' भी करने का होता है, वह शान्तचित्त से करना चाहिये। जितने 'नवकारमंत्र' का या जितने 'लोगस्ससूत्र' का कायोत्सर्ग करना हो, भ्रान्ति रहित करना चाहिये। यानी वन्दन की क्रिया में जल्दबाजी नहीं करनी चाहिये, अशुद्ध सूत्रोच्चार नहीं करना चाहिये और मुद्रा... आसन वगैरह का खयाल करना चाहिये। यह है वंदनशुद्धि।

निमित्तशुद्धि :

तीसरी शुद्धि है निमित्तशुद्धि। व्रतमय विशिष्ट गृहस्थधर्म को स्वीकार करते समय अच्छे निमित्त वातावरण में मिलने चाहिये। जैसे कि उस समय शंखनाद सुनायी दे, शहनाई... मृदंग इत्यादि वाद्यों का ध्वनि सुनायी दे। जब व्रत लेने घर से निकलें तब शुभ शकुन हो, छत्र, ध्वज, चामर वगैरह प्रशस्त द्रव्यों का दर्शन हो... और कहीं से भी हवा में सुगंध महसूस हो। यह सब स्वाभाविक होना चाहिये। कृत्रिम नहीं। हर्ष और उल्लास का वातावरण होना चाहिये। उससे व्रतपालन के भावों में दृढ़ता आती है। वातावरण का मनुष्य के भावों के साथ संबंध है। उल्लासमय वातावरण मनोभावों को उल्लसित बनाता है, निराशामय वातावरण मनोभावों को मंद... निर्बल बनाता है, इसलिये निमित्तशुद्धि को शुभ कार्यो में विशेष महत्त्व माना गया है।

दिशाशुद्धि :

दिशाओं की शुद्धि देखनी चाहिये। ऐसे मंगलकारी-कल्याणकारी कार्य पूर्वदिशा-सम्मुख अथवा उत्तरदिशा-सम्मुख करने चाहिये।

दिशाओं का महत्व, प्रभाव मात्र अपने जैनधर्म में ही माना गया है, ऐसा मत समझना। भारतीय तमाम धर्मों ने दिशाओं के महत्व को माना है। अपन मात्र चार दिशायें ही नहीं मानते, दश दिशाओं को मानते हैं। दश दिशाओं के अधिष्ठायक देवों को मानते हैं। उनको 'दिक्पाल' कहते हैं और इन दिक्पालों का भी पूजन किया जाता है। ऋषिमुनियों ने अपने दिव्य ज्ञान से निर्णय किये हैं कि कौन से कार्य कौन सी दिशा में करने से सफलता प्राप्त होती है।

व्रत-महाव्रत ग्रहण करने की दो प्रशस्त दिशाएँ बतायी गयी-हैं-पूर्व और उत्तर! अथवा जहाँ पर दिशाओं की अनुकूलता मकान के कारण नहीं जमती हो तो जिस दिशा में परमात्मा जिनेश्वरदेव का मंदिर हो, उस दिशा में व्रत ग्रहण करने चाहिये। चाहे वह जिनमंदिर किसी भी दिशा में हो।

आगारशुद्धि :

पाँचवी शुद्धि है आगारों की। आगार यानी अपवाद । व्रत लेने हैं यानी प्रतिज्ञायें लेनी हैं। इस काल में हर प्रतिज्ञा, हर व्रत-महाव्रत सापवाद होता है। कोई भी व्रत-महाव्रत निरपवाद नहीं लिया जाता है। ज्ञानी पुरुषों ने संयोग-परिस्थितियाँ और जीवात्मा के मनोबल को देखते हुए कुछ अपवाद बताये हैं। जैसे कि ऐसे-ऐसे प्रसंग में, परिस्थिति में इस व्रत का पालन नहीं कर सको, तो भी तुम्हारा व्रत खंडित

नहीं होगा। व्रतभंग नहीं होगा। बस, वहाँ पर व्रतधारी का मनोभाव व्रतपालन का होना चाहिये। कभी संयोगवश बाहर से व्रतपालन नहीं भी हो सके-तो व्रतभंग नहीं होता है। जैसे-

१. किसी सत्ताधीश की आज्ञा के परवश होकर प्रतिज्ञा का पालन न हो सके,
२. किसी जनसमुदाय के परवश होकर प्रतिज्ञा का पालन नहीं कर सके,
३. कोई ताड़न आदि बल प्रयोग के कारण प्रतिज्ञा तोड़नी पड़े,
४. कभी विशेष कारण से गुरु आज्ञा करे और प्रतिज्ञा छोड़नी पड़े,
५. कभी देवों के दबाव से, आग्रह से या भय से प्रतिज्ञा छोड़नी पड़े,
६. कभी जंगलों में... निर्जन प्रदेश में कि जहाँ प्रासुक [निर्दोष] आहार-पानी की प्राप्ति दुर्लभ हो... वहाँ प्रतिज्ञा का पालन न हो सके...

तो भी व्रतभंग का, प्रतिज्ञा भंग का पाप नहीं लगता है। व्रत देते समय गुरु इन अपवादों के साथ व्रत देते हैं। फिर भी यदि आपका मनोबल दृढ़ है, 'प्राण जाए तो जाए, पर मेरी प्रतिज्ञा का भंग नहीं करूँगा,' ऐसा आपका निश्चय है, तो आपको अपवादों का आलंबन लेना आवश्यक नहीं है। हाँ, होते हैं ऐसे नरवीर कि जो देवों के बलप्रयोग के सामने भी नहीं झुकते हैं। वे मरना पसंद करते हैं परंतु व्रत तोड़ना पसंद नहीं करते।

वास्तव में सम्यग्दर्शन-गुण आत्मा में प्रगट होने पर, आत्मा प्राणों से भी व्रतों को ज्यादा महत्व देती है। व्रत बचाने के लिये प्राणों का त्याग करना पड़े तो करती है, परंतु प्राण बचाने के लिये व्रतों का त्याग नहीं करती है।

यह नियम सार्वत्रिक नहीं है। विरल आत्मा में ही ऐसा मनोबल होता है। इसलिये ज्ञानी पुरुषों ने अपवाद बताये! अपवादमार्ग का अवलंबन लेने से व्रतभंग नहीं होता है।

उत्सर्ग और अपवाद दोनों मिलकर मोक्षमार्ग :

उत्सर्गमार्ग-मूलमार्ग पर चलने के विशुद्ध भाव हृदय में रखते हुए, शास्त्रनिर्दिष्ट पद्धति से अपवादमार्ग का सेवन किया जाय, तो कोई दोष नहीं है। दिखने में भले व्रतभंग दिखता हो, फिर भी वह भंग नहीं कहलाता है। जिस प्रकार पदयात्री चलते-चलते थक जाता है तो किसी वृक्ष की छाया में बैठता है, कोई पाषाण शिला पर विश्राम करता है, कहीं रात्रि व्यतीत करता है... फिर भी उसकी पदयात्रा भंग नहीं होती है। चूंकि वह बैठता है चलने के लिये! वह विश्राम करता है चलने के लिये, वह सोता है तो भी चलने के लिये! चलने का भाव अखंड है तो बैठना-सोना

वगैरह दोष नहीं कहे जा सकते।

वैसे ही मोक्षयात्रा करने का भाव अखंड है, व्रतपालन का भाव अखंड है और कभी संयोगवश (जो छः कारण बताये वे) व्रत का पालन नहीं हो सके तो भी व्रतभंग नहीं कहा जायेगा। सावधानी रखनी पड़ती है अपवादों के सेवन में। इसलिए उत्सर्ग-अपवाद के ज्ञाता ज्ञानीपुरुषों का मार्गदर्शन लेकर अपवाद का सेवन करना चाहिये।

अब एक विशेष विधि बताकर ग्रंथकार प्रस्तावना पूर्ण करते हैं और अणुव्रत बताने का प्रारंभ करते हैं।

तथा उचितोपचारश्च।

व्रतमय धर्मग्रहण करने का प्रसंग, शादी के प्रसंग से भी ज्यादा महत्वपूर्ण समझना चाहिये आप लोगों को। शादी तो भवसागर में डुबानेवाली है न? व्रतमय धर्म भवसागर से तारनेवाला है! तारनेवाले प्रसंग को आनंद से-उत्सव से मनाना चाहिये। इसलिये ग्रंथकार आचार्यदेव 'उचित उपचार' करने को कहते हैं।

❖ परमात्मा की पुष्प, धूप, दीपक आदि से पूजा करनी चाहिये,
❖ गुरु महाराज को वस्त्र-पात्र-पुस्तकादि प्रदान करने चाहिये,
❖ साधर्मिकों का भोजन-वस्त्रादि से सत्कार करना चाहिये,
❖ दीन-अनाथ-अपंग लोगों की भोजनादि से सेवा करनी चाहिये।

इन सबका प्रेम से, आदर से, उमंग से सत्कार करना चाहिये। इस विषय में विशेष बातें आगे बताऊँगा,

आज बस, इतना ही-

प्रवचन-१०

परम कृपानिधि महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी स्वरचित 'धर्मबिन्दु' ग्रंथ के तीसरे अध्याय में गृहस्थ का विशेष धर्म बता रहे हैं।

बारह व्रतमय विशेष धर्म स्वीकार करने का भावोल्लास प्रगट होने पर, अच्छे मुहुर्त में आप व्रत ग्रहण करेंगे। व्रत-ग्रहण के दिन या अगले दिन आप को परमात्मा की पुष्प, धूप, विलेपनादि उत्तम द्रव्यों से पूजा करनी चाहिये। वस्त्र, पात्र औषधादि से गुरुदेव की भक्ति करनी चाहिये। भोजन-वस्त्र आदि से साधर्मिकों की सेवा करनी चाहिये। स्वजनों को भी परितृप्त करने चाहिये। स्वजनों को जो प्रिय-प्रशस्त वस्तु हो, उनको देनी चाहिये। दीन-अनाथ-दरिद्र लोगों को उचित दान देना चाहिये।

यह सब आपको स्वशक्ति के अनुसार करना है। सबको गौरव देते हुए करना है। यानी किसी के भी मन को दुःख हो, वैसे नहीं करना है। सबके मन को प्रसन्न करने के हैं। अपने आसपास रहनेवाले लोगों की चित्त-प्रसन्नता यथासंभव बनाये रखने से अपनी भी चित्त-प्रसन्नता बनी रहती है। इससे धर्म आराधना में मन जुड़ता है। शुभ भावों की धारा बहती है। दूसरे लोगों के मन में धर्म के प्रति उपादेय भाव पैदा होता है। उनके मन में भी व्रतमय विशेष धर्मग्रहण की शुभ भावना पैदा होती है।

धर्मक्षेत्र में एकांगिता :

सभा में से : ऐसे प्रसंग में परमात्मपूजा और गुरुसेवा तो करते हैं, परंतु स्वजनों के प्रति प्रायः दुर्लक्ष्य होता है, दीन-अनाथ-रोगी... तो याद ही नहीं आते!

महाराजश्री : शायद आप लोगों को मालूम ही नहीं होगा कि ऐसे विशिष्ट धार्मिक प्रसंगों में यह सब करने की जिनाज्ञा है। जिनाज्ञा सर्वांगी होती है। जो लोग सर्वांगी जिनाज्ञा को नहीं समझ पाते हैं, वे एकांगी बन जाते हैं। यहाँ, इस ग्रंथ में स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि स्वजन, दीन, अनाथ वगैरह की उचित सेवा करनी चाहिये।

सभा में से : स्वामिवात्सल्य करते हैं न?

महाराजश्री : क्या स्वामिवात्सल्य में दीन, अनाथ, रोगी वगैरह को भोजन देते हो? भोजन देना तो दूर रहा, आ जायें तो धक्का मार कर बाहर निकाल देते हो न? स्वामिवात्सल्य में भी क्या साधर्मिकों का गौरव करते हो? जिन साधर्मिकों के साथ

अनबन हो, उनके साथ प्रेमभाव स्थापित करते हो? साधर्मिकों का आपस का प्रेमभाव बढ़ता रहे, आपस के झगड़े शान्त हो जायें, इसलिये तो स्वामिवात्सल्य की धर्मक्रिया बतायी गई है। परंतु आप लोग क्रिया का हार्द समझते नहीं हैं। एकांगी बन गये हो न?

दूसरी बात, जब बारह व्रत लेने हैं, श्रावकधर्म अंगीकार करना है, तब किसी भी मनुष्य के साथ वैरभाव तो रहना ही नहीं चाहिए। किसी के साथ हो वैरभाव, तो उसको मिटाना चाहिए। इससे हृदय निर्मल बनता है और निर्मल हृदय में धर्म का प्रवेश होता है। निर्मल हृदय में धर्म टिकता है। निर्मल हृदय में धर्म वृद्धि पाता है।

अब मुझे बारह व्रतों का स्वरूप बताना है। एकाग्र मन से सुनना और समझने का प्रयत्न करना। फिर सोचना कि आप ये व्रत ग्रहण कर सकते हैं या नहीं!

बारह व्रत :

बारह व्रत के तीन विभाग बताये गये हैं। पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत।

❖ अणुव्रत यानी महाव्रतों की अपेक्षा छोटे व्रत।
❖ गुणव्रत यानी अणुव्रतों पर उपकार करनेवाले व्रत।
❖ शिक्षाव्रत यानी साधुधर्म के अभ्यासरूप व्रत।

अणुव्रत :

अणुव्रत पाँच बताये गये हैं। **१. स्थूल प्राणातिपातविरति, २. स्थूल मृषावादविरति, ३. स्थूल अदत्तादानविरति, ४. स्थूल अब्रह्मविरति, ५. स्थूल परिग्रह विरति.**

प्राणातिपात [हिंसा], मृषावाद [असत्य], अदत्तादान [चोरी], अब्रह्म [मैथुन] और परिग्रह, ये पाँच महापाप है। इन पापों से आंशिक रूप में विराम पाना यानी 'विरति'।

गुणव्रत :

गुणव्रतों का पालन किये बिना अणुव्रतों की जैसी चाहिये वैसी शुद्धि नहीं हो सकती है। यानी अणुव्रतों का पालन दिन-प्रतिदिन जो शुद्ध-विशुद्ध होते जाना चाहिये वह नहीं होता है। इसलिये गुणव्रतों को स्वीकार करना और पालन करना अति आवश्यक बन जाता है। ये गुणव्रत तीन हैं।

पहला गुणव्रत है, दिग्व्रत। दिशाओं का व्रत। दस दिशाओं की अपेक्षा से यह व्रत बताया गया है। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण ये दिशायें हैं। नैऋत्य, वायव्य, इशान

और अग्नि-ये विदिशायें हैं। एक उर्ध्वदिशा और एक अधोदिशा। इस प्रकार दश दिशायें हैं। इन दिशाओं में कितना दूर जाना... यानी गमनपरिमाण करने का होता है।

दूसरा गुणव्रत है, भोग-उपभोग परिमाण का। इसमें दो शब्द हैं : भोग और परिभोग। जो वस्तु एक बार ही भोगी जा सकती है, उसको भोग कहते हैं जैसे भोजन। जिस वस्तु को एक बार खा ली, उसी वस्तु को पुनः नहीं खायी जा सकती। जबकि उपभोग उसको कहते हैं कि जिस वस्तु को बार-बार भोगा जा सके। जैसे वस्त्र, मकान, स्त्री वगैरह। एक ही वस्त्र को पुनः-पुनः पहना जा सकता है। एक ही मकान का बार-बार उपयोग किया जा सकता है और एक ही स्त्री का पुनः-पुनः भोग किया जा सकता है। इस भोग और उपभोग का परिमाण करना दूसरा गुणव्रत है।

तीसरा गुणव्रत है, अनर्थदंड विरति का। 'अर्थ' का अर्थ यहाँ प्रयोजन है! जो पाप प्रयोजन से किये जाते हैं, वे पाप 'अर्थदंड' कहे जाते हैं। जो पाप बिना प्रयोजन किये जाते हैं, वे पाप 'अनर्थदंड' कहे जाते हैं। प्रयोजन अनेक होते हैं। धर्म का प्रयोजन, स्वजनों का प्रयोजन, अपनी इन्द्रियों के प्रयोजन... वगैरह। प्रयोजन से भी पापक्रिया की जाती है, इसलिये 'दंड' कहा गया है। अर्थदंड! बिना प्रयोजन जो पाप किये जाते हैं वे 'अनर्थदंड' कहे जाते हैं। यह अनर्थदंड चार प्रकार का बताया गया है। १. अपध्यान-आचरित, २. प्रमाद-आचरित, ३. हिंस्रप्रदान और ४. पापकर्मोपदेश। इन चारों प्रकारों के अनर्थ दंड से विरति पाना तीसरा गुणव्रत है।

शिक्षापद :

'शिक्षा' यानी साधुधर्म का अभ्यास। इस अभ्यास के चार पद हैं, यानी चार स्थान हैं।

पहला स्थान है **सामायिक।** टीकाकार आचार्यदेव ने यहाँ 'सामायिक' के तीन अर्थ किये हैं। मोक्षमार्ग की आराधना में समान सार्मथ्यवाले तीन तत्त्व-सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति यानी सामायिक। यह पहला अर्थ है।

राग और द्वेष के बीच-मध्यस्थ रहता हुआ जीव सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की प्राप्ति करे, यह सामायिक का दूसरा अर्थ है।

तीसरा अर्थ है-सभी जीवों के प्रति मैत्रीभाव की प्राप्ति। ये तीनों अर्थ 'समायः' शब्द से निकाले गये हैं। कितने अच्छे अर्थ बताये हैं टीकाकार आचार्यश्री ने!

पापप्रवृत्ति का त्याग कर, निरवद्य-निष्पाप योगानुष्ठान रूप-जीव परिणाम, सामायिक है।

दूसरा शिक्षापद है पौषध-उपवास। जो आत्मभाव को पुष्ट करे वह पौषध।

अष्टमी, चतुर्दशी वगैरह पर्व के दिनों में दोषों से मुक्त बन, गुणों के साथ रहना-उसको 'उपवास' कहते हैं। कहा गया है-

उपावृत्तस्य दोषेभ्यः सम्यग्वासो गुणैः सह।
उपवासः स विज्ञेयो न शरीरविशोषणम्॥

'दोषों से मुक्त बन, गुणों के साथ अच्छी तरह रहना, उसको 'उपवास' समझना, शरीर के शोषण को उपवास नहीं मानना।' पौषध में चार गुणों के साथ रहना होता है-१. शरीरशुद्धि, शरीरशोभा नहीं करना, २. ब्रह्मचर्य का पालन करना, ३. धंधा-व्यापार नहीं करना, ४. आहार-भोजन का सर्वथा या आंशिक त्याग करना। पौषधोपवास का अभ्यास साधुधर्म का अभ्यास है।

तीसरा शिक्षापद है-'देशावकाशिक'।

पहले ग्रहण किये हुए दिशापरिमाण व्रत का प्रतिदिन स्मरण कर प्रत्याख्यान करना, पच्चक्खाण करना, देशावकाशिक नाम का शिक्षापद है।

वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा के शासन में रहे हुए साधु-साध्वी-श्रावक और श्राविका अतिथि हैं। इन अतिथि के घर आने पर भक्ति से खड़ा होना चाहिये, अतिथि को बैठने के लिये आसन देना चाहिये, पैर धोने चाहिये, चंदन से विलेपन करना चाहिये और अपने-अपने वैभव के अनुसार उनको भोजन प्रदान करना चाहिये। वस्त्र और औषध प्रदान करना चाहिए। आवास और दूसरी भी आवश्यक वस्तुएँ देनी चाहिए। इसको 'संविभाग' कहते हैं। यह दया-दान नहीं है। यह संविभाग है। यह संविभाग न्याय-नीति से उपार्जित द्रव्य से किया जाता है। और साधु-साध्वी वगैरह को कल्पनीय द्रव्यों से किया जाता है।

योग्यतानुसार व्रत-प्रदान :

जो मनुष्य इन सभी बारह व्रतों का पालन करने में सक्षम हो, उसको सभी व्रत देने चाहिये। जो मनुष्य मात्र पाँच अणुव्रत ही चाहता है, उसको पाँच अणुव्रत ही देने चाहिये। जो मात्र शिक्षापद अथवा गुणव्रत ही लेना चाहता हो, उसको उतने ही व्रत देने चाहिये। यानी आप लोग जितने चाहो, उतने व्रत ग्रहण कर सकते हैं। कितनी करुणा की है ज्ञानी पुरुषों ने! आपकी व्रतपालन की जितनी भावना हो और जितनी शक्ति हो, तदनुसार आप व्रत ग्रहण कर सकते हैं। परंतु एक बात निश्चित होती है-सम्यक्त्व की। चाहे एक व्रत लें, या बारह लें, मूल में सम्यक्त्व तो होना ही चाहिये। बिना सम्यक्त्व, कोई भी व्रत विशिष्ट फल नहीं देता है। इसलिये सर्वज्ञ शासन के प्रति श्रद्धावान होना तो अनिवार्य ही है।

अतिचारों से बचते रहो :

सम्यग्दर्शन-सहित ग्रहण किये हुए व्रतों का पालन बहुत ही सावधानी के साथ करने का होता है। अतिचार न लग जाय-विराधना न हो जाय, व्रतभंग न हो जाय, इस बात की जागृति रखनी चाहिये। जागृति नहीं होगी तो सम्यग्दर्शन-गुण भी क्षतिग्रस्त हो जायेगा। पुनः-पुनः दोष लगने से गुण जीर्ण-शीर्ण हो जायेगा और एक दिन गुण नष्ट भी हो सकता है।

'सम्यग्दर्शन' गुण को कौन-कौन से दोषों से बचाये रखना है-यह समझना आवश्यक बन जाता है। दोषों का ज्ञान, दोषों से बचने के लिये होना आवश्यक होता है। इसलिये सर्वप्रथम आपको सम्यग्दर्शन को दूषित करनेवाले पाँच दोष-पाँच अतिचार बताता हूँ। सावधान बनकर, एकाग्र बनकर सुनना।

शङ्का-काङ्क्षा-विचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः
सम्यग्दृष्टेरतिचारा इति।

शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्य दृष्टि की प्रशंसा और उनकी संस्तवना ये पाँच अतिचार हैं।

१. जिनवचन में शंका मत करें :

जिनेश्वरों के वचनों में शंका नहीं करनी चाहिये। शंका के दो प्रकार बताये गये हैं-१. देशशंका और २. सर्वशंका। जिनवचनों में कुछ दो-चार बातों को ले कर शंका करता है, तो वह 'देशशंका' कही जाती है। एक उदाहरण से समझाता हूँ-

आगमों में 'भव्य' जीव और 'अभव्य' जीव का वर्णन आता है। यह पढ़ कर शंका करें कि 'दोनों में जीवत्व होने पर भी एक जीव भव्य क्यों और दूसरा जीव अभव्य क्यों?' अब हेतु नहीं मिलता है... तो शंका हो जाती है।

'सर्वशंका' यानी समग्र आगमों के विषय में शंका हो जाय! जैसे कि : 'जैनधर्म के सभी सिद्धान्त प्राकृतभाषा में निबद्ध हुए हैं, तो क्या ये सारे सिद्धान्त कल्पनामात्र होंगे? सही नहीं होगे?'

एक बात निश्चित रूप से समझ लेना कि विश्व की सभी बातें तर्क से नहीं समझी जा सकती हैं। कुछ तत्त्व के हेतु होते हैं, कुछ तत्त्व के हेतु नहीं होते हैं। यानी विश्व में दो प्रकार के तत्त्व होते हैं-हेतुग्राह्य और अहेतुग्राह्य। हेतुग्राह्य तत्त्वों को हेतुओं से समझ कर स्वीकार करें और अहेतुग्राह्य तत्त्वों का वैसे ही स्वीकार कर लेना चाहिये। जिसके हेतु हैं ही नहीं, वे हेतु कहाँ से लायेंगे? जीवतत्त्व का, अजीव तत्त्व का, पुण्य-पाप आदि तत्त्वों का ज्ञान हेतुओं से प्राप्त कर सकते हैं,

परंतु भव्यत्व, संसार और मोक्ष में जीवों की संख्या वगैरह बातें अहेतुगम्य हैं। कोई तर्क नहीं है, कोई हेतु नहीं है इन बातों को समझने के लिये। हाँ, कोई अवधिज्ञानी या केवलज्ञानी महापुरुष हेतु दे सकते हैं, तर्क दे सकते हैं, वे समझा सकते हैं। हमारे जैसे मात्र मतिज्ञानी और श्रुतज्ञानी के लिये असंभव है तर्क/ हेतु से समझना और समझाना। इसलिये, जब भी कोई आगम की बात समझ में नहीं आये तो शंका नहीं करना। शंका से श्रद्धा निर्बल बनती है।

अन्य दर्शनों की कांक्षा नहीं करें :

श्रद्धा को निर्बल बनानेवाला अतिचार है कांक्षा का। इस कांक्षा के भी दो प्रकार हैं : देशकांक्षा और सर्वकांक्षा।

सर्वज्ञभाषित दर्शन के अलावा दूसरे कोई भी एक-दो दर्शन पसंद आ जायँ और उस दर्शन को स्वीकार करने की इच्छा हो जाय, इसको कहते हैं देशकांक्षा। जैसेकि-'मुझे जैनदर्शन से ज्यादा अच्छा बौद्धदर्शन लगता है। मैं बौद्धदर्शन का स्वीकार करूँ?' अथवा 'मुझे वेदान्त दर्शन अच्छा लगता है। मैं वेदान्त दर्शन को स्वीकार करूँ?'

सर्वकांक्षा करनेवाला सभी दर्शनों की आकांक्षा करता है। उसको सभी दर्शनों की मान्यतायें अच्छी लगती है! इससे सम्यग्दर्शन मलिन होता है।

हमें जैनदर्शन के प्रति ही श्रद्धावान बने रहना है। चूँकि जैन दर्शन सर्वज्ञ दर्शन है, यथार्थ दर्शन है। हम जैन हैं-इसलिये जैन दर्शन के पक्षपात की बात नहीं करता हूँ, परंतु सभी दर्शनों का अध्ययन करने पर लगा है कि जैनदर्शन ही श्रेष्ठ और सच्चा दर्शन है। ऐसा दर्शन पाने के बाद अन्य अपूर्ण दर्शनों की स्पृहा-कांक्षा क्यों करनी चाहिये?

जैनदर्शन का अच्छा अध्ययन करना चाहिये। जैनदर्शन का तत्त्वमार्ग, आचारमार्ग वगैरह इतने सुंदर और बुद्धिगम्य हैं, आप पढ़ोगे तब मालूम होगा। एक-दो पुस्तक पढ़ने से काम नहीं बनेगा। हर विषय के ग्रन्थों का तलस्पर्शी अध्ययन करना होगा। तब आपको जैन दर्शन से लगाव हो जायेगा। आपकी श्रद्धा वज्रलेप जैसी बन जायेगी। आपको दुनिया का कोई भी व्यक्ति विचलित नहीं कर सकेगा।

बुद्धि को स्थिर रखें :

तीसरा अतिचार है 'विचिकित्सा' का। टीकाकार आचार्यश्री ने विचिकित्सा का अर्थ किया है, मतिविभ्रम। बुद्धि की चंचलता! मतिविभ्रम होने पर मनुष्य सोचता है-'जैनदर्शन है तो अच्छा, परंतु मेरे जैनधर्म के पालन करने पर, मुझे उसका फल

मिलेगा या नहीं? जैसे किसान कृषिकर्म करता है, उसको कभी फल मिलता है, कभी नहीं भी मिलता है। वैसे, मैं जिनेश्वर के बताये हुए व्रत-नियमों का पालन तो करता हूँ, मुझे फल मिलेगा या नहीं?' ऐसे संकल्प-विकल्प [विचिकित्सा] करने से सम्यग्दर्शन मैला होता है।

सम्यग्दर्शन के गुण को तो आघात लगता ही है, विचिकित्सा से पापकर्म का बंधन भी होता है। ऐसे पापकर्म बंधते हैं कि जब वे पापकर्म उदय में आते हैं तब जीवात्मा को भयानक कष्ट सहने पड़ते हैं। अतः मति को, बुद्धि को स्थिर रखो। 'मैं जैनधर्म की आराधना करता हूँ इसलिये मुझे उसका फल अवश्य प्राप्त होगा,' इस विश्वास को अविचल रखो।

बुद्धि में विभ्रम पैदा करनेवाली बातें मत सुनो। ऐसी किताबें भी मत पढ़ो। जिनवचनों के ऊपर अविचल विश्वास, अनमोल संपत्ति को सुरक्षित रखना है।

अपूर्ण-असर्वज्ञों की प्रशंसा नहीं करें :

श्रद्धा की संपत्ति को सुरक्षित बनाये रखने के लिये ऐसे लोगों की प्रशंसा नहीं करनी कि जो सर्वज्ञ नहीं हैं। जो पूर्ण नहीं हैं। अलबत्ता, ऐसे बौद्ध, कपिल, कणाद वगैरह दर्शनों में कुछ-कुछ अच्छी बातें हैं कि जो जैनदर्शन से मिलती-जुलती हैं, फिर भी उनकी प्रशंसा नहीं करनी चाहिये। जैसे कि 'ये लोग पुण्यशाली हैं... इनका जन्म सार्थक है... ये लोग दयालु हैं...' इस प्रकार प्रशंसा नहीं करनी चाहिये। ऐसी प्रशंसा करने से ध्वन्यर्थ यह निकलता है-'हम पुण्यशाली नहीं हैं, हमारा जन्म निरर्थक है... हम दयावान नहीं हैं...। चूँकि हमने जैनदर्शन को स्वीकार किया है!'

प्रशंसा करने में विवेक होना चाहिये। अन्य धर्मों में रहे हुए अच्छे तत्त्वों की विवेक से प्रशंसा की जा सकती है। जैसे कि-'बौद्धदर्शन का क्षणिकवाद संसार के प्रति मनुष्य को वैरागी बनाता है... अनासक्त बनाता है...। पतंजलि महर्षि का योगदर्शन योग की अच्छी प्रक्रिया बताता है। वेदान्तदर्शन भी मुक्ति पाने का उपदेश देता है...।' वगैरह।

प्रशंसा का अर्थ ऐसा नहीं निकलना चाहिये कि 'वे लोग कृतार्थ हो गये और हम भटक गये, उन्होंने परम तत्त्व पा लिया और हम खाली रह गये!' अविवेक से अन्य दर्शनों की प्रशंसा करने से सम्यग्दर्शन-गुण को धक्का लगता है।

अन्य दर्शनवालों की संस्तवना नहीं करें :

जैसे अन्य दर्शनवालों की प्रशंसा नहीं करनी है वैसे उनके साथ रहना नहीं है और परिचय नहीं करना है। 'संस्तवना' का यह अर्थ समझना है। संवासजनित

परिचय नहीं करना है।

साथ रहने से भोजन, वस्त्र वगैरह का आदान-प्रदान होता है, आपस में वार्तालाप होता है। यदि अन्य दर्शनी आपसे ज्यादा बुद्धिमान है, धनवान है, थोड़ा शास्त्रज्ञानी है... तो वह आपकी श्रद्धा को हिला देगा। आपको उसके धर्म की ओर खींच लेगा। इसलिये, अन्य धर्मवालों के साथ परिचय-संबंध बाँधने से पूर्व सोच लेना कि बुद्धि, ज्ञान और धन किसके पास ज्यादा है। यदि आपके पास ज्यादा है, तब तो परिचय करने में चिन्ता की बात नहीं है। यदि उसके पास ज्यादा है, तो आप परिचय से दूर रहना।

सभा में से : वर्तमान परिस्थिति में हमें दूसरे धर्मवालों के साथ रोजाना संपर्क रखना पड़ता है।

महाराजश्री : मैं जानता हूँ। इसलिये मार्गदर्शन देता हूँ। आप लोग इतने निर्बल हो गये हो, पैसे के लिये इतने पागल हो गये हो कि किसी भी व्यक्ति का संपर्क-परिचय कर लेते हो। आपको अपने 'सम्यग्दर्शन' गुण को सुरक्षित रखने की इच्छा भी है? कभी आपको विचार आता है कि 'मेरी आत्मा में सम्यग्दर्शन गुण प्रगट हुआ है या नहीं? मुझे मेरे इस गुण को सुरक्षित रखना चाहिये। इस गुण को दाग लगे... वैसा मुझे नहीं करना चाहिये। मुझे कोई सुख छोड़ना पड़ेगा तो छोड़ दूँगा, परंतु मेरी श्रद्धा को हिलने नहीं दूँगा।' आते हैं ऐसे विचार?

है न आपका संकल्प कि 'कैसा भी दुःख आये, मैं मेरे वीतरागसर्वज्ञ परमात्मा को छोड़कर अन्य किसी रागी-द्वेषी और मिथ्यात्वी देव-देवी के पास नहीं जाऊँगा! वैसे, किसी भी सुख की इच्छा से मैं अन्य देव-देवी के पास नहीं जाऊँगा!'

सभा में से : हमारे कुछ भाई वीतराग परमात्मा के मंदिर में नहीं आते हैं... परंतु रोकडिया हनुमान के मंदिर में जाते हैं।

महाराजश्री : हनुमानजी जैसे वैरागी बने थे, वीतरागी बने थे, वैसा बनने के लिये जाते होंगे?

सभा में से : नहीं जी, हनुमानजी से धन लेने! हनुमानजी से संसार के सुख पाने जाते हैं!

महाराजश्री : ऐसे लोगों को सम्यग्दर्शन-गुण का पता ही नहीं होता है। आत्मगुणों से वे अनभिज्ञ होते हैं। ऐसे लोग, किसी भी धर्मवाले के साथ व्यापारिक संबंध रखते हैं। उन लोगों के साथ खाते-पीते हैं, घंटे भर वार्तालाप करते हैं और अब तो शादी-विवाह भी कर लेते हैं। कोई-कोई जैन मुसलमानों के साथ भी शादी करने लगे हैं न?

अपनी बात तो उन लोगों के लिये है कि जिनको 'सम्यग्दर्शन' गुण सुरक्षित रखना है। जो सम्यग्दर्शन गुण का महत्व समझते हैं, ऐसे महानुभाव इन पाँच दोषों से बचते रहते हैं।

सम्यक्त्व की महिमा :

सम्यक्त्व-सम्यग्दर्शन की महिमा समझनेवाला मनुष्य ही इन शंका वगैरह पाँच दोषों से बचने का प्रयत्न करता है। सम्यक्त्व की महिमा बताते हुए आचार्यदेव श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी ने 'समराइच्च कहा' में कहा है-

तओ तम्मि पत्ते समाणे से जीवे बहुयकम्ममल मुक्के, आसन्ननियसरुवभावे पसन्ने, संविग्गे, निव्विण्णे, अणुकंपापरे, जीणवयण रुई आवि हवइ।

जब जीव सम्यग्दर्शन गुण पाता है तब वह

१. बहुत कर्मों से मुक्त बनता है,
२. आत्मस्वरूप की प्राप्ति अल्पकाल में करनेवाला बनता है,
३. प्रसन्नचित्त बनता है,
४. संविग्न बनता है, यानी विशुद्ध परमात्म स्वरूप-गुरुस्वरूप और धर्मस्वरूप को जाननेवाला और उसमें श्रद्धावान बनता है।
५. निर्वेदवाला बनता है, यानी संसार के सुखों में विरक्त बनता है।
६. अनुकम्पावाला बनता है, यानी दयालु बनता है।
७. जिनवचनों में उसकी अभिरुचि बनती है।

ऐसी आत्मा, कर्मों के शुभ-अशुभ विपाकों को जानती हुई सर्वकाल, अपराधी के प्रति भी स्वाभाविकता से क्रोध नहीं करती है। उपशम भाव में रहती है।

ऐसी आत्मा [सम्यक्त्वधारी] आयुष्य कर्म का बन्धन करती है तो अवश्य वैमानिक देवलोक का आयुष्य बाँधती है। उसकी दुर्गति नहीं होती है।

इसलिये सम्यक्त्व को, सम्यग्दर्शन को शंका वगैरह दोषों से बचाते रहें, यही कामना-

आज बस, इतना ही।

तथा व्रतशीलेषु पंच पंच यथाक्रमम्।

परम कृपानिधि महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरीश्वरजी स्वरचित 'धर्मबिन्दु' ग्रंथ में गृहस्थ का विशेष धर्म बताते हुए सावधान करते हैं-'जो व्रत ग्रहण करें, उसका निरतिचार पालन करने हेतु अतिचारों को समझें!'

यहाँ प्रस्तुत में ग्रंथकार ने अणुव्रतों के लिये तो 'व्रत' शब्द का ही प्रयोग किया है परंतु गुणव्रत और शिक्षाव्रत के लिये 'शील' शब्द का प्रयोग किया है। यह विशिष्ट शब्दप्रयोग है। और कहीं पर भी गुणव्रत और शिक्षाव्रत के लिये 'शील' शब्द का प्रयोग प्रायः पढ़ने में नहीं आया है। 'शील' शब्द का अर्थ व्यापक रूप में किया गया है।

दिशाओं का परिमाण, भोग-उपभोग परिमाण, अनर्थदंड, विरति जैसे शील-स्वरूप हैं वैसे सामायिक, देशावगासिक, पौषध और अतिथि-संविभाग भी शील स्वरूप हैं।

प्रत्येक व्रत और प्रत्येक शील के पाँच-पाँच अतिचार हैं। पहले अणुव्रत के पाँच अतिचार इस प्रकार बताये गये हैं-

'बन्ध-वध-च्छविच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः।'

अतिचार किसको लगते हैं?

अतिचारों का विवेचन करने से पूर्व, ये अतिचार कैसे मनुष्य को लगते हैं, यह बात समझाता हूँ।

जो मनुष्य क्रोधी होता है, लोभी होता है, यानी कषायों से जिसका अन्तःकरण मलिन होता है और 'जीव मर जाय तो भी क्या?' इस प्रकार सोचता हुआ जीवहिंसा के प्रति निरपेक्ष वृत्तिवाला होता है, उसको जीवों का बंध... वध... वगैरह करने पर अतिचार लगते हैं। परंतु जो मनुष्य जीवों का बंध... वध... वगैरह करने में सापेक्ष वृत्तिवाला होता है, कषायों के परवश नहीं होता है, उसको अतिचार नहीं लगते हैं।

सापेक्ष जीव बंध वगैरह करता है फिर भी निर्दोष होता है, जबकि निरपेक्ष जीव को बंध वगैरह करने पर अतिचार लगते हैं। इस प्रकार अतिचार का संबंध क्रिया के साथ नहीं बताया, भाव के साथ बताया गया है।

१. जीवों का बंध :

जीवों के साथ आपका व्यवहार किस भाव से होता है, यह महत्त्वपूर्ण बात है। याद रखें कि आप व्रतधारी बने हो, आपको 'प्राणातिपात विरमण' नाम का पहला अणुव्रत है। पशु हो या मनुष्य हो, निष्प्रयोजन आप उनको बाँध नहीं सकते! बंधन पशु को भी अच्छा नहीं लगता है, मनुष्य की तो बात ही क्या? केवल अपने मनोरंजन के लिये अथवा परपीड़न के लिये आप पशु या मनुष्य को बाँधें नहीं। कुछ लोगों को परपीड़न में मजा आता है! ऐसा मजा व्रतधारी नहीं ले सकता है।

प्रयोजन से भी पशु या मनुष्य को बाँधना पड़े तो सापेक्षभाव से बाँधना चाहिये, निरपेक्ष भाव से नहीं।

कभी कोई चोर पकड़ा गया और उसको बाँधना है, कभी कोई नौकर या नौकरानी ने बड़ा अपराध किया हो और उसको बाँधना है, कभी लड़का पढ़ाई नहीं करता है और उसको बाँध कर बिठाना है... तो ऐसे बाँधना चाहिये कि कभी उस जगह आग लग जाय तो वे लोग स्वयं अपने बंधन खोल सकें। कभी साँप वगैरह आ जाय तो वे स्वयं अपनी रक्षा कर सकें। निरपेक्षभाव से, कस कर नहीं बाँधने चाहिये कि वे बेचारे हिल भी न सकें! यानी निर्दय बनकर नहीं बाँधने चाहिये।

वास्तव में तो श्रावक को अपने घर में ऐसे ही पशु रखने चाहिये कि जिन को बाँधना नहीं पड़े! बिना बाँधे ही प्रेम से रहे! वैसे नौकर वगैरह भी वैसे ही रखने चाहिये कि जिनको बाँधने की कभी नौबत ही नहीं आये! फिर भी कभी बाँधना पड़ जाय तो सापेक्षभाव से बाँधना चाहिये, बिना क्रोध-लोभ किये बाँधने चाहिये, ताकि अतिचार नहीं लगे।

अब आप लोग पशुपालन तो करते ही नहीं! छोटे-बड़े शहरों में रहनेवाले नहीं रखते पशुओं को, और गाँवों में रहनेवाले जैन भी प्रायः पशुपालन नहीं करते। अपने जैन समाज में पशुपालन प्रायः रहा ही नहीं है। दूसरे ब्राह्मण वगैरह समाजों में भी पशुपालन कम होता जा रहा है।

पशुपालन नहीं करने से हिंसा बढ़ी है :

ज्यों-ज्यों पशुपालन कम होता गया है, त्यों-त्यों 'स्लॉटर हाउस' बढ़ते गये हैं और रोजाना लाखों पशुओं की कत्ल होती जा रही है। आप लोग स्थिर बुद्धि से सोचेंगे तो समझ पाएंगे कि इतनी घोर हिंसा बढ़ने में आप लोग भी निमित्त बने हो!

इस घोर हिंसा को रोकना है तो पशुपालन व्यापक रूप से होना चाहिये। ग्राम्य विस्तारों में लाखों पशुओं का पालन हो सकता है। परंतु पशुओं के प्रति प्रेम और

करुणा होनी चाहिये न? वह कहाँ से लायेंगे? मनुष्यों के प्रति भी प्रेम और करुणा के स्रोत सूखते जा रहे हैं... तो फिर पशुओं के प्रति प्रेम-करुणा की अपेक्षा कैसे रखी जाय?

श्रावक के हृदय में पशुओं के प्रति भी ऐसा प्रेम हो कि उसके वहाँ रहे हुए पशु बिना बंधन के रहें! पशुओं को जहाँ प्रेम हो जाता है, वे बिना बंधन वहाँ रह जाते हैं! शास्त्रों में ऐसे उदाहरण भी आते हैं। श्रावक के यहाँ रहे हुए दो बैल, जिस दिन श्रावक-श्राविका उपवास करते, दोनों बैल भी उपवास करते थे! श्रावक-श्राविका जब स्वाध्याय करते थे, पास में खड़े-खड़े दोनों बैल भी स्वाध्याय [धर्मचर्चा] सुनते थे। सुनने-सुनते वे सरल और दयावान प्राणी बन गये थे।

सभा में से : आज तो हम उपवास करते हैं तो हमारे लड़के भी नहीं करते! और हम धर्मचर्चा करते हैं तो हमारे बच्चे पसंद नहीं करते!

महाराज श्री : हाथी, घोड़े, बैल, गाय, भैंस... वगैरह पशु प्रायः सरल परिणामवाले पशु होते हैं। वे प्रेम का जवाब प्रेम से देते हैं। मनुष्य में सरलता नहीं रही! प्रेम का जवाब तिरस्कार से मिलता है न? करुणा का जवाब क्रूरता से मिलता है न? उपकार का जवाब अपकार से मिलता है न...! इस अपेक्षा से, मनुष्य से पशु अच्छा प्राणी है!

२. जीवों को निरपेक्ष भाव से मारो नहीं :

जिस प्रकार मनुष्य और पशुओं को निरपेक्ष भाव से बाँधना नहीं है, वैसे उनको निरपेक्ष भाव से मारना भी नहीं है। यहाँ 'वध' शब्द का अर्थ 'मर्डर'-हत्या नहीं करना है, परंतु शारीरिक सामान्य सजा समझना है! ऐसे मारना कि उसके मर्मस्थानों में प्रहार न हो जाय, चोट नहीं लगे।

वास्तविकता तो यह है कि श्रावक का व्यक्तित्व ही ऐसा हो कि घर में सभी लोग उसका विनय करनेवाले बनें। यदि कोई अविनय, औद्धत्य करता हो, दो-तीन बार समझाने पर भी नहीं समझता हो... तो मामूली सजा करनी चाहिये। परंतु सजा करते समय हृदय में क्रोध नहीं होना चाहिये। क्रोध होगा तो सापेक्ष भाव नहीं रहेगा। क्रोध में मनुष्य अंधा हो जाता है। मर्मस्थान में भी प्रहार कर देता है। सामनेवाला जीव मर्माहत होकर मर भी जाय! बड़ा अनर्थ हो जाय। इसलिये, पशु या मनुष्य को मारते समय भी भीतर से जाग्रत रहना है। भाव सुधारने का रखना है, मारने का नहीं!

३. जीवों के अंगोपांग का छेदन नहीं करें :

निर्दयता से जीवों के साथ व्यवहार करने का ही नहीं है। जब निर्दयता से

जीवों को मारने के नहीं हैं, तो फिर उनके हाथ, पैर, कान, नाक वगैरह अंगोपांग का छेदन कैसे किया जाय? श्रावक वैसा हीन कार्य कर ही नहीं सकता।

परंतु दया से प्रेरित होकर अथवा अपने व्यवसाय [डॉक्टरी] से जीवों के ऑपरेशन करें, तो वह व्रत का अतिचार नहीं बनता है। परंतु दया का काम बनता है। पुण्यबंध का कार्य होता है।

श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के कानों में, जब वे ध्यानस्थ खड़े थे, ग्वाले ने लकड़ी के नुकोले कील गाड़ दिये थे... क्रोध में पागल बन कर। ग्वाले ने पापकर्म बाँधा था। परंतु जब वैद्य ने भगवान् के कानों में से वे कील निकाले थे, तब भगवान् को इतनी घोर पीड़ा हुई थी कि भगवान् के मुँह से तीव्र चीख निकल गयी थी... और उस चीख से पहाड़ में दरार पड़ गई थी। इतनी पीड़ा होने पर भी, कील निकालनेवाले वैद्य को पुण्यकर्म का बंध हुआ था! चूँकि वैद्य की भावना भगवान् को पीड़ा पहुँचाने की नहीं थी, पीड़ा मिटाने की थी।

४. नौकरों से ज्यादा काम नहीं करवाएँ :

किसी जीव को जानबूझकर पीड़ा देना नहीं है! 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना को आत्मसात् करनेवाला समकितदृष्टि जीव ऐसा व्यवसाय भी नहीं करेगा कि जिसमें मनुष्यों को और पशुओं को ज्यादा त्रास देना पड़ता हो। नौकर से भी वह ज्यादा काम नहीं करवायेगा।

जैसे कि आप स्टेशन पर ट्रेन से उतरे। आपके पास सामान ज्यादा है। आपको एक कुली [सामान उठानेवाला रेलवे का नौकर] के सर पर ही सारा सामान नहीं चढ़ाना चाहिये। वह जितना उठा सके उतना ही सामान देना चाहिये।

स्टेशन से बाहर आये। आपको ऑटोरिक्शा नहीं मिली, मनुष्यरिक्शा मिली। मनुष्य-पुरुष चलाता है रिक्शा। रिक्शा चलानेवाले को त्रास न हो उतने ही लोगों को उसमें बैठना चाहिये और उतना ही सामान रखना चाहिये। रास्ते में चढ़ाव-उतार आये तब रिक्शा में से उतर जाना चाहिये। यानी रिक्शा चलानेवाला एक जीव है, यह समझकर उसके साथ दयापूर्ण व्यवहार करना चाहिये।

मनुष्य स्वयं जितना भार उठा सके और स्वयं उतार सके, उतना ही भार उससे उठवाना चाहिये। पशु के ऊपर भी उतना भार नहीं रखना चाहिये कि जिससे उसको त्रास हो। घोड़ागाड़ी, बैलगाड़ी, ऊँटगाड़ी... कुत्तागाड़ी... जैसी गाड़ियों में पशुओं को जोड़े हों, तो योग्य समय पर उनको मुक्त कर देने चाहिये। हद से ज्यादा दौड़ाने नहीं चाहिये, मार-मार कर भगाने नहीं चाहिये।

याद रखना कि आप समकितदृष्टि श्रावक हैं। आपमें अनुकम्पा होनी ही चाहिये। दया... करुणा... अनुकंपा आपका लक्षण है। आप दयाहीन कृत्य कर ही नहीं सकते हैं। आप दूसरे जीवों को कष्ट दे ही नहीं सकते हैं।

५. पशुओं को और नौकरों को समय पर पानी और भोजन दो :

पशु हो या मनुष्य हो, उसको भूखे या प्यासे नहीं रखने चाहिये। कभी गाय या भैंस ने दूध नहीं दोहने दिया, लात मार दी, बरतन तोड़ दिया... तब गुस्से में आकर-'आज तुझे पानी ही नहीं पिलाऊँगा... आज तुझे घास ही नहीं दूँगा...!' यूँ बोलकर दिन भर उस पशु को भूखा-प्यासा रखते हैं! ऐसा नहीं करना चाहिये। पशु के अपराध को भी क्षमा करना है। जो दूध देता है वह कभी लात भी मारता है! खानी पड़ती है लात! परंतु सामने लात मारने जाओगे तो दूध नहीं मिलेगा!

वैसे नौकरों को भी जान-बूझकर भुखे-प्यासे नहीं रखने चाहिये। जबरन उपवास नहीं कराना चाहिये! कभी भूख से मृत्यु भी हो सकती है। हाँ, अजीर्ण हो गया हो तो उपवास करा सकते हैं। ज्वर आया हो तो उपवास करा सकते हैं।

कभी कोई अपराध कर दे नौकर, तो उसको भय बता सकते हैं-'आज तुझे भोजन नहीं दिया जायेगा, पानी भी नहीं दिया जायेगा, एक कमरे में बंद कर दूँगा...।' परंतु वैसा करने का नहीं! भोजन का समय समाप्त होने के बाद उसको 'फिर ऐसी भूल नहीं करना,' बोल कर भोजन दे देना चाहिये। कभी सापेक्ष भाव से 'आज भोजन नहीं दूँगा तभी यह गलती कबूल करेगा,' सोचकर दिनभर भूखा रखने से भी अतिचार नहीं होता।

हृदय की भावना शुभ होनी चाहिये। जीवों के प्रति स्नेहभाव होना चाहिये। यह होने पर, बाहर से-व्यवहार से, बाँधने करने पर, मारने पर, अंगच्छेदन करने पर, ज्यादा भार भरने पर और भूखा रखने पर भी 'अतिचार' नहीं लगता है। यानी पहला अणुव्रत दूषित नहीं बनता है।

प्रश्न : पहला अणुव्रत 'स्थूलप्राणातिपात-विरमण' है। यह व्रत जिसने लिया है, वह जीवों का बंधन आदि करता है, तो भी व्रत तो अखंड ही रहता है न?

उत्तर : सही बात है! प्राणातिपात का त्याग किया है पहले व्रत में, बंधन-मारण आदि का त्याग-पच्चक्खाण नहीं किया है, परंतु जीवों का बंधन वगैरह प्राणातिपात के उपाय हैं! इसलिये उपायों का त्याग भी इस अणुव्रत में समाविष्ट हो जाता है। यानी प्राणातिपात का पच्चक्खाण लिया है तो वध-बंधनादि का पच्चक्खाण हो ही जाता है!

प्रश्न : तब तो, वध आदि करने पर पच्चक्खाण का भंग होता है न? अतिचार नहीं कह सकते!

अतिचार की परिभाषा :

उत्तर : प्रत्येक व्रत के दो पहलू होते हैं-अन्तर्वृत्ति और बहिर्वृत्ति। यानी व्रत भावात्मक और क्रियात्मक होता है। एक उदाहरण से समझाता हूँ-

एक अणुव्रतधारी मनुष्य, रोष में आ गया और सोचने लगा-'इस को मार डालूँगा, प्राण ले लूँगा...।' और इस भावना से उसने उस व्यक्ति पर प्रहार किया दयाहीन बन कर। परंतु वह व्यक्ति भाग गया, प्रहार नहीं हुआ उस पर, वह बच गया।

इस घटना में अणुव्रतधारी के पहले व्रत का अन्तर्वृत्ति से भंग हुआ परंतु बहिर्वृत्ति से भंग नहीं हुआ। उस व्यक्ति की मौत नहीं हुई। बहिर्वृत्ति से व्रत अभंग रहा। इसलिये उसके व्रत का भंग नहीं हुआ, अतिचार लगा! चूँकि देश से [आंशिक रूप में] व्रत का भंग होना ही 'अतिचार' कहलाता है। व्रत के एक अंश का पालन होता है और एक अंश का भंग होता है, तब तक 'अतिचार' कहलायेगा। दोनों अंशों का भंग होने पर व्रतभंग कहलायेगा!

मन-वचन-काया से हिंसा का त्याग करें :

वास्तविकता यह है कि हमें मन-वचन-काया से हिंसा का त्याग करना चाहिये। जीवहिंसा अनेक अनर्थ पैदा करती है। अलबत्ता, संपूर्ण अहिंसा का पालन तो साधुपुरुष ही कर सकते हैं। त्रस और स्थावर-सभी जीवों की मन-वचन-काया से हिंसा नहीं करना, नहीं करवाना और अनुमोदन नहीं करना, इस प्रकार हिंसा का त्याग साधुपुरुषों को होता है।

गृहस्थधर्म में तो मात्र निरपराधी त्रस जीवों की संकल्पपूर्वक हिंसा का त्याग होता है। आप लोग गृहस्थ हैं, पृथ्वी-पानी-अग्नि-वायु और वनस्पति के जीवों की हिंसा आपके जीवन में होती ही है। त्रस जीवों की [द्विन्द्रीय से पंचेन्द्रिय तक के जीव] हिंसा भी थोड़ी-बहुत होती है। इसलिये आपका अणुव्रत इतना ही है कि आप निरपराधी त्रस जीवों की हिंसा नहीं करेंगे। वह भी संकल्पपूर्वक-इरादतन हिंसा नहीं करेंगे।

स्थावर जीवों के प्रति भी करुणा चाहिये :

सम्यग्दर्शन के प्रकाश में आप पृथ्वी-पानी-अग्नि-वायु और वनस्पति में जीवत्व को मानते हैं। भले वे स्थावर जीव हैं, सूक्ष्म जीव हैं, परंतु जीव तो हैं

ही। भले उनकी हिंसा नहीं करने का व्रत नहीं है आपको, फिर भी निर्दयता से, उपेक्षाभाव से उन जीवों की भी हिंसा नहीं करनी चाहिये। उनकी उपेक्षा जीवत्व की उपेक्षा है। हिंसा करनी ही पड़ती हो तो सापेक्षभाव से, कम से कम प्रमाण में करनी चाहिये।

- ❖ पानी का उपयोग बहुत कम करना चाहिये। परंतु जब से आपके घरों में पानी के नल आ गये, पानी का बहुत दुरुपयोग होने लगा है। जहाँ एक लोटा पानी से काम हो सकता है, वहाँ पचास लोटे पानी का दुर्व्यय हो रहा है। इसका परिणाम आज देखते हो न? देश के अनेक प्रान्तों में-राज्यों में पानी का अभाव हो गया है। पीने के लिये पानी की समस्या पैदा हो गई है!
- ❖ पानी-अपकाय स्थावरजीव है, परंतु उसमें त्रस जीव गिरते हैं। अतः पानी छानकर पीना चाहिये, उपयोग में लेना चाहिये। इससे त्रसकाय जीव बच जाते हैं।
- ❖ अग्नि का उपयोग भी कम से कम करना चाहिये। लकड़ी का अग्नि हो या कोयले का, गैस का हो या केरोसीन का... अग्नि कोई भी हो, उपयोग कम करना चाहिये। 'अग्नि में जीवत्व है', यह बात याद रखो।
- ❖ वायुकाय के प्रति भी करुणाभाव होना आवश्यक है। कई लोग २४ घंटा 'फैन'-पंखा चालू रखते हैं। असंख्य जीवों की हिंसा होती है पंखा चलने से। असह्य गर्मी के अलावा पंखे का उपयोग नहीं करना चाहिये।
- ❖ वनस्पति का उपयोग तो बहुत ही बढ़ गया है। जबकि पाँचों स्थावर जीवों में ज्यादा संवेदनशील होते हैं वनस्पति के जीव। रोजाना कितनी सब्जी खाते हो? सुबह के नास्ते में सब्जी चाहिये! दोपहर के भोजन में दो-तीन सब्जी चाहिये! एक-दो फल भी चाहिये! शाम के भोजन में दो-तीन सब्जी चाहिये! और रात में भी पावभाजी चाहिये!

याद ही नहीं रहता है कि 'वनस्पति में जीवत्व है।' श्रीमंत लोग अपने बगीचे में लॉन उगाते हैं। 'लॉन में असंख्य जीव होते हैं...' यह जानते हो। फिर लॉन पर चलना, खेलना, दौड़ना... लॉन को कभी-कभी काटना... यह सब चलता है न? क्यों? आवश्यक है लॉन उगाना? व्यर्थ जीवहिंसा क्यों करते हो? बेचारे स्थावरजीव अपनी रक्षा नहीं कर सकते हैं, इसलिये उनकी हिंसा करने की क्या? याद रखना, आप भी असुरक्षित बन जाओगे और महाकाल भक्ष्य बना देगा।

घोर हिंसक व्यवसाय नहीं करने चाहिये :

पैसे के लोभ में फँस कर आज आप लोग भी ऐसे उद्योग कर रहे हो कि जिन

उद्योगों में त्रस-स्थावर जीवों की घोर हिंसा होती है। कई प्रकार के कारखाने चला रहे हैं आप लोग। यदि आपको प्रथम अणुव्रत का पालन करना है तो आपको ऐसे उद्योग नहीं करने चाहिये। यदि है, तो छोड़ देना चाहिये। व्रत-पालनरुप धर्मधन कमाना है तो भौतिक संपत्ति का मोह छोड़ना ही पड़ेगा।

सभा में से : कारखाने में हिंसा होती है, परंतु हम लोग तो हिंसा नहीं करते।

महाराजश्री : आप स्वयं नहीं करते होंगे, करवाते तो हो न? एक व्यक्ति स्वयं किसी का 'मर्डर'-हत्या नहीं करता है, दूसरे से करवाता है, तो वह निर्दोष माना जाता है क्या? हिंसा करनेवाला जैसे अपराधी है वैसे हिंसा करवानेवाला भी अपराधी है। व्रतधारी को हिंसा करवाने के भी पच्चक्खाण होते है। इसलिये ऐसे उद्योग नहीं चलाने चाहिए।

निरपराधी हिंसा मत करें :

आपका पहला अणुव्रत है निरपराधी त्रस जीवों की हिंसा नहीं करने का। जिसने आपको कोई नुकसान नहीं पहुँचाया है, किसी प्रकार का अपराध नहीं किया है, उसको नहीं मारना चाहिये।

अपराध दो प्रकार के देखने चाहिये। एक अपराध अपने प्रति हो, दूसरा अपराध दूसरे के प्रति हो। आपको किसी ने पत्थर मारा, आपकी सहनशक्ति है, आप समता रख सकते हैं, तो आप उस अपराधी को सजा नहीं करेंगे, परंतु आप में समता नहीं है और स्वरक्षा की भावना से आप उस अपराधी को मारते हैं, तो आपके व्रत को दोष नहीं लगता है।

एक दुष्ट व्यक्ति आपको कुछ नहीं करता है, परंतु आपके देखते हुए कोई महिला को परेशान कर रहा है, आपके समझाने पर भी वह नहीं समझता है, तो आप उसके अपराध की सजा कर सकते हैं, आपका अणुव्रत अखंड रहता है।

वैसे कोई बलवान् व्यक्ति किसी निर्दोष-निर्बल मनुष्य को दुःख देता है, वह आपकी सहायता माँगता है, आप उसको बचाने के लिये उस बलवान् को सजा करते हैं, बाँधते हैं, मारते हैं... तो भी आपका अणुव्रत अकलंक रहता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि आप अपराधी को सजा करते हैं तो आपके पहले अणुव्रत को दाग नहीं लगता है।

संकल्पपूर्वक हिंसा नहीं करें :

वैसे यदि आपका किसी जीव को मारने का संकल्प नहीं है, परंतु प्रमादवश

कोई जीव की हिंसा हो जाय, तो आपका अणुव्रत खंडित नहीं होता है। 'मैं इसको मारूँ...' ऐसे निर्दय भाव से यदि मारते हो और वह जीव मर जाता है तो आपका अणुव्रत खंडित हो गया समझें। इसलिये मन में 'मारूँगा'... ऐसा विचार भी नहीं करना है। किसीको मारने का विचार भी आ जाय तो कड़क प्रायश्चित्त ले लेना चाहिये।

उपसंहार :

- ❖ तीर्थंकर भगवंतों ने हिंसा के कटु विपाक बताते हुए कहा है कि हिंसा से जीव को दुर्भाग्य, अपंग शरीर, रोग... दुर्गति प्राप्त होती है। यह जानकर कौन बुद्धिमान पुरुष हिंसा करेगा?
- ❖ महान सुख-संपत्ति यदि चाहते हो तो बिना प्रयोजन स्थावर जीवों की भी हिंसा नहीं करना।
- ❖ याद रखें-एक चींटी से लगाकर देवराज इन्द्र तक सभी जीव जीवन को चाहते हैं, जीवितदान प्राप्त होने से जीवों को जो प्रसन्नता प्राप्त होती है, वह बड़ा राज्य मिलने से भी नहीं होती।
- ❖ 'आचारांग सूत्र' में श्री सुधर्मास्वामी जंबूस्वामी को कहते हैं-

'हे जंबू, मैं तुझे कहता हूँ कि जो अरिहंत भगवंत अतीत काल में हो गये, जो वर्तमान में विचरते हैं और जो भविष्यकाल में उत्पन्न होंगे वे सभी इस प्रकार कहते हैं, प्ररूपणा करते हैं, प्रतिपादन करते हैं, उपदेश देते हैं कि सभी प्राणी, सभी भूत, सभी जीव, सभी सत्त्व, हननयोग्य नहीं है, संघट्टन करने योग्य नहीं है, उपद्रव करने योग्य नहीं हैं। यह धर्म ही ध्रुव-नियत और शाश्वत है। इस प्रकार, लोका-लोकदर्शी सर्वज्ञ कहते हैं।'

- ❖ पुराण, स्मृति, वेद वगैरह अन्यान्य शास्त्रों में भी स्पष्ट रूप से अहिंसा की प्रधानता बतायी गई है।
- ❖ दीर्घ आयुष्य, स्थिरता, नीरोगिता, सौभाग्य, मधुर वाणी और प्रशंसा वगैरह, अहिंसा-दया धर्म के ही फल हैं। इसलिये प्रथम अणुव्रत ग्रहण कर, उसका समुचित पालन करते हुए दयाधर्म को हृदय में स्थापित करना चाहिये। आप सभी के हृदय में दयाधर्म की शाश्वत् स्थापना हो, दयाधर्म प्रतिष्ठित हो... और आप पूर्ण सुख...

सौभाग्य प्राप्त करनेवाले बनें-यही मंगल कामना,

आज बस, इतना ही-

प्रवचन-१२

परम कृपानिधि महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरीश्वरजी स्वरचित 'धर्मबिन्दु' ग्रन्थ के तीसरे अध्याय में गृहस्थजीवन का विशेष धर्म बता रहे हैं। इसमें पहले अणुव्रत के अतिचार बताने के पश्चात् दूसरे अणुव्रत के अतिचार बताये जा रहे हैं। 'स्थूल मृषावादविरमण' व्रत के पाँच अतिचार हैं :

'मिथ्योपदेशरहस्याभ्याख्यानकूटलेखक्रिया-
न्यासापहार-स्वदारमंत्रभेदाः ।।'

१. मिथ्या उपदेश,
२. रहस्य-अभ्याख्यान,
३. जाली लेख लिखना,
४. अनामत वापस नहीं देना,
५. पत्नी वगैरह की गुप्त बात जाहिर करना।

इन अतिचारों से दूसरा अणुव्रत दूषित होता है। इसलिये ये काम नहीं करने चाहिये।

१. मिथ्या उपदेश :

दूसरा अणुव्रत लेनेवाला मनुष्य, कभी झूठ बोलने के प्रसंग पर सोचता है- 'मैं असत्य नहीं बोल सकता, मेरा अणुव्रत है, परंतु असत्य का आश्रय लिये बिना काम होगा नहीं। क्या करूँ? मेरे भाई के द्वारा अथवा मित्र के द्वारा असत्य बुलवा दूँ तो? ठीक है, यही उपाय अच्छा है। मैं मित्र को कैसे बोलना-वह सिखा देता हूँ। मेरे व्रत का भंग नहीं होगा और काम हो जायेगा!' ऐसा सोच कर, अपने मित्र को वह सिखाता है - 'ऐसा-ऐसा बोलना!' मित्र वैसा बोल देता है। इससे अणुव्रत का भंग नहीं होता है, परंतु अतिचार लगता है। चूँकि उसके मन में व्रत की अपेक्षा है। 'मेरे व्रत का भंग नहीं होना चाहिये!' ऐसी अपेक्षा उसके व्रत को बचा लेती है। फिर भी, दूसरों से असत्य बुलवाने से दोष तो अवश्य लगता है। इसलिये दूसरों से भी असत्य नहीं बुलवाना चाहिये।

२. किसी की गुप्त बात के विषय में गलत अनुमान नहीं करें :

वैसे, कोई दो व्यक्ति अथवा चार व्यक्ति गुप्त मंत्रणा करते हैं। आप उस

मंत्रणा में शामिल नहीं हैं। वे लोग क्या बात करते हैं, आपको जानने की जिज्ञासा है। परंतु पास में जाकर सुन नहीं सकते हैं। दूर से गलत अनुमान लगा कर : 'वे लोग ऐसी-ऐसी बातें करते थे,' ऐसा बोलना, दूसरा अतिचार है। ऐसा बोलने से अणुव्रत तो दूषित होता ही है, साथ में दूसरों पर आपत्ति आ सकती है।

पहले पारिवारिक दृष्टि से आपत्ति बताता हूँ। भाई और भाभी आपस में एकान्त में बात करते हैं। बहन ने देखा। 'भाई-भाभी क्या कानाफूसी कर रहे हैं?' वह गलत अनुमान लगाती है और जाकर माँ से कहती है-'भाई को भाभी अलग होने को समझाती रहती है। मैंने उनको बातें करते देखा है।' सासु और बहू के बीच होगा न झगड़ा? जबकि बहू को कल्पना भी न हो अलग होने की! सासु जब बहू को गुस्से में आकर कहती है-'तू मेरे बेटे को बिगाड़ती है... तू मेरे घर में आग लगाती है... मेरे घर के टुकड़े करने बैठी है...!' तब बहू के मन में क्या होगा? ननद के गलत अनुमान से बहू को कितना सहन करना पड़ता है? वैसे बहन भाई के प्रति भी कैसा अन्याय कर देती है?

सामाजिक दृष्टि से अब, एक उदाहरण से समझाता हूँ।

दो-चार औरतें आपके घर के सामने ओटले पर बैठ कर धीमे-धीमे स्वर में बातें करती हैं। बार-बार वे आपके घर के सामने देखती हैं। आपके मन में शंका होती है-'ये औरतें मेरे घर की निंदा तो नहीं कर रही हैं?'

आपने अपनी पत्नी को कहा। पत्नी ने भी उन औरतों को देखा। वह जोर-जोर से बोलने लगी-'करो निंदा पेट भर के... हमारी निंदा करने के अलावा तुम्हें और क्या आता है?' वे बेचारी पड़ोसिनें सकपका जाती हैं। और उनमें से एक औरत कहती हैं-'हम क्यों तुम्हारी निंदा करें? हम तो हमारे घर की बातें करती हैं।' तुम्हारी औरत बोलती है-'झूठ मत बोल, मुझे मालूम है तुम मेरी ही निंदा करती हो...।'

हो जायेगा न झगड़ा? औरतों का झगड़ा जब पुरुषों में फैलता है तब क्या होता है?

स्नेही-मित्रों में भी गलत अनुमान करने से परस्पर का प्रेम नष्ट होता है। संबंध टूट जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि दूसरों की गुप्त बातों के विषय में गलत अनुमान करने से दूसरा अणुव्रत तो दूषित होता ही है, साथ में ये सारे अनर्थ भी पैदा होते हैं, इसलिये कभी भी गलत अनुमान नहीं करें।

एक लड़की की जिंदगी बर्बाद हो गई :

एक अच्छे घराने की लड़की कॉलेज से लौट रही थी। रास्ते में अचानक उसका एक चचेरा भाई मिल गया। बंबई से आया था। दोनों रोड के किनारे खड़े-खड़े बातें करने लगे। लड़की को एक लड़का दूर खड़ा-खड़ा देखता है। उसने गलत अनुमान किया। उस लड़के से ही इस लड़की की सगाई हुई थी। उस लड़के ने सगाई तोड़ दी! इतना ही नहीं, लड़की के विषय में, उसके चरित्र के विषय में गलत बातें प्रसारित की। लड़की ने उस लड़के को समझाने का भरसक प्रयत्न किया, परंतु वह नहीं माना। अंततोगत्वा लड़की ने आत्महत्या कर ली।

दूसरों की रहस्यभूत बातों के विषय में गलत अनुमान नहीं करें।

३. जाली लेख नहीं लिखने चाहिये :

'मेरा व्रत तो असत्य नहीं बोलने का है। नहीं लिखने का व्रत नहीं है। तो ऐसा लिखने से मेरा व्रतभंग नहीं होगा।' ऐसा सोचकर यदि व्रतधारी मनुष्य जाली लेख लिखता है, तो उसका व्रत दूषित होता है।

- ❖ चेक पर जाली हस्ताक्षर कर बैंक में से लाखों रुपये निकाल लेते हैं,
- ❖ दस्तावेजों के ऊपर जाली हस्ताक्षर कर कई लोग दूसरों की जमीन हड़प लेते हैं,
- ❖ ऐसा पत्र लिखना कि जिसका अर्थ दूसरा निकलता हो!
- ❖ ऐसे गलत काम करने से व्रत तो मलिन होता ही है, राज्य का भी अपराधी बनता है। यदि पकड़ा जाय तो जेल जाना पड़ता है, दंड होता है, बेइज्जती होती है। इसलिये ऐसे लेख नहीं लिखने चाहिये।

४. अमानत को हड़प नहीं करनी चाहिये :

वैसे, किसी ने आपको विश्वसनीय मानकर आपको सोना-चांदी अथवा रुपये अमानत के रूप में दिये। जब वह वापस लेने आये तब आप अपलाप कर दें! 'मेरे पास आपके रुपये वगैरह कुछ नहीं हैं!'

हालाँकि इस पाप को यहाँ अतिचार बताया है, परंतु यह भी एक बड़ा पाप है। विश्वासघात होता है न? अदत्तादान रूप चोरी ही है। परंतु यहाँ मृषावादविरमण व्रत का अतिचार कहा है। तब तक ही अतिचार है जब वह अनाभोग से बोलता है-'मेरे पास आपकी कोई अमानत नहीं है।' अनाभोग यानी अनजानपन। अनजानपन में बोलता है तो व्रतभंग नहीं होता है। जानबूझकर बोलता है तो व्रतभंग होता है।

'जाणं तो जइ करेइ तो भंगो।'

इसलिये किसी की भी अमानत हड़प करने की इच्छा भी नहीं करनी चाहिये। मान लें कि आप अणुव्रतधारी नहीं हैं, फिर भी आपको यह पाप नहीं करना चाहिये।

अनामत वापस नहीं लौटाने से सामनेवाले व्यक्ति को गहरा सदमा पहुँच सकता है और कभी मौत भी हो सकती है। इस मृत्यु में आप निमित्त बन जाते हैं। इससे घोर पापकर्म का बंध होता है और दुर्गति में जाना पड़ता है।

आप अमानत वापस नहीं लौटाते हैं, आपको दूसरे जन्म में किसी भी रूप में लौटानी तो पड़ेगी ही। इसलिये प्रामाणिक बनकर जीओ।

५. पत्नी-मित्र वगैरह की गुप्त बातें प्रकाशित नहीं करें :

वैसे बोलने में बहुत ही सावधानी रहनी चाहिये। कुछ घटनायें, कुछ प्रसंग ऐसे होते हैं कि किसी को कहने के नहीं होते हैं। और, जिसके ऊपर विश्वास होता है, उसको निकट के लोग, अपनी गुप्त बातें भी बता देते हैं।

मान लो कि आपकी पत्नी को आपके ऊपर बहुत ही प्रेम है, बहुत ही विश्वास है। उसके मन में कभी-कभी एक बात आती रहती है-'मुझे मेरे पति से मेरी कोई भी बात छिपा कर नहीं रखनी है। वे मुझे हृदय से प्यार करते हैं, तो मैं उनको मेरी गुप्त बात भी बता दूँ। जब तक वह बात नहीं बताती हूँ... मेरे मन में दर्द उठता रहता है।' और उसने अपनी बात एक दिन एकान्त में पति को कह दी : 'आपको आज मैं मेरे जीवन की, शादी के पहले की एक गलती बताना चाहती हूँ। आप मेरी गलती माफ कर देना। एक लड़के से मेरा शारीरिक संबंध हो गया था... मेरा कौमार्य भंग हो गया था...। बाद में मुझे बहुत ही पश्चात्ताप हुआ था... परंतु जो बात नहीं होने की थी वह हो गई...।'

आपने पत्नी को आश्वासन दिया और यह बात मैं किसी को भी नहीं कहूँगा-वैसा वचन भी दे दिया।

कुछ वर्ष बीतते हैं। घर में बच्चे भी खेलने लगे हैं। किसी प्रसंगवश पति-पत्नी के बीच झगड़ा हो गया। झगड़े को सुलझाने के लिये आपके दो मित्र आये। क्या उस समय आप अपने पर संयम रखेंगे। पत्नी की गुप्त बात मित्रों को नहीं कहोगे न?

सभा में से : हम पत्नी की बातें कहेंगे, पत्नी हमारी बातें कहेंगी!

महाराजश्री : इसका परिणाम क्या आता है? यदि स्त्री ज्यादा सेंसीटीव-

भावुकतापूर्ण होती है तो संभव है कि वह आत्महत्या कर लेती है। अथवा पति को छोड़कर चली जाती है। अथवा प्रतिदिन झगड़े होते हैं। घर का वातावरण कलुषित हो जाता है। बच्चों के मन पर भी माता-पिता की दूषित छाया पड़ती है।

वैसे मित्रों की, दोस्तों की गुप्त बात भी प्रकाशित नहीं करनी चाहिये। मित्र की, स्नेही-स्वजन की गुप्त बात प्रकाशित करने से मित्र को तो नुकसान होता ही है, आपको भी प्राण का खतरा हो सकता है। एक सत्य घटना बताता हूँ।

मित्र की भी गुप्त बात प्रकाशित नहीं करें :

बंबई में दो मित्र थे। बचपन से दोनों की दोस्ती थी। अपने सुख-दुःख की बातें वे एक-दूसरे को करते रहते। दोनों के बीच किसी बात का परदा नहीं था। अपन इन मित्रों को मंथन और चिंतन के नाम से पहचानेंगे। दोनों एक साथ रहते थे। दोनों अकेले थे।

एक दिन चिंतन बाहर से आया तब बहुत थका हुआ था, कुछ भयभीत भी लगता था। स्नान वगैरह से निवृत्त होकर जब वह मंथन के साथ चाय पीने बैठा तब मंथन ने पूछा : 'आज तेरे शरीर में ज्यादा थकान दिखती है और तेरी आँखों में भय। बता, क्या बात है?' चिंतन मौन रहा। मंथन ने जब आग्रह किया तब चिंतन बोला :

'तुम से मैंने मेरी एक बात छिपायी है। आज मैं बता देता हूँ, जब तू मुझे आग्रह करता है। और पता नहीं, कल क्या होगा? मेरी जिंदगी भी खतरे में है। मैं आंतरराष्ट्रीय तस्करी के धंधे में फँसा हूँ। कल हम पुलिस के हाथों फँसते-फँसते बच गये। फिर भी मुझे शंका है कि पुलिस ने मुझे पहचान लिया है। इसलिये थोड़ा भय है...।'

चिंतन की बात सुनकर मंथन स्तब्ध रह गया। उसने चिंतन को कहा : 'चिंतन, तू कब से इस धंधे में पड़ा है?' चिंतन ने कहा : 'करीबन एक साल से!'

मंथन ने चिंतन को उस समय कुछ नहीं कहा। वह उठकर चला गया अपने काम से। परंतु बाद में उसने चिंतन को यह धंधा छोड़ देने को बहुत समझाया। चिंतन नहीं माना। वह ऐसे गिरोह के साथ था कि अब वह छूट ही नहीं सकता था। छूटने का प्रयत्न करे तो मौत ही निश्चित थी।

मंथन, चिंतन को समझाने पर भी नहीं समझता है तब विचार करता है : 'मैं यह बात चिंतन के पिता को बता दूँ तो? मुझे बता देनी चाहिये यह बात! नहीं बताता हूँ तो एक दिन जब उनको मालूम हो जायेगा कि 'चिंतन तस्करी का धंधा करता है,' वे मुझे भी माफ नहीं करेंगे। दूसरी बात, पिता के समझाने से शायद वह

समझ जाय। गलत रास्ता छोड़ दे...।'

एक दिन मंथन ने चिंतन के पिता को बात बता दी। चिंतन के पिता बहुत दुःखी हुए। उन्होंने चिंतन को पूछा। चिंतन समझ गया कि 'मंथन ने ही पिताजी से बात कर दी...।' उसके मन में मंथन के प्रति अविश्वास हो गया। 'यह तो कल पुलिस को बुलवाकर मुझे सौंप दे सकता है।'

उसने मंथन का साथ छोड़ दिया।

एक दिन मंथन का अपहरण हो गया।

आज दिन तक पता नहीं लगा कि मंथन कहाँ है!

खैर, ऐसी तो प्रतिदिन कई घटनायें घटती हैं। आप लोग सावधान रहें। साहस नहीं करें। किसी की भी गुप्त बात को प्रगट करने की मूर्खता नहीं करें।

बात गलत नहीं कहते हों, जैसी बात आपने सुनी है वैसी ही सत्य बात कहते हों, फिर भी दूसरे अणुव्रत को अतिचार लगता है। चूँकि परिणाम-अंजाम अच्छा नहीं आता है। इसलिये बात सत्य होते हुए भी पारमार्थिक दृष्टि से असत्य है।

सत्यवचन की महत्ता समझें :

मृषावाद-असत्य का त्याग आप तभी कर सकते हैं, जब आप सत्य की महिमा समझेंगे। विचार मात्र इस वर्तमान जीवन का ही नहीं करना है, आनेवाली... मृत्यु के बाद की जीवनयात्रा का भी करना चाहिये। यदि हम चाहते हैं कि भविष्य के जीवन में हमारा वचन सर्वग्राह्य बने, हमारी वाणी प्रभावशाली बने... हमारी वाणी सभी को प्रिय लगे, तो आप सत्य बोलें। असत्य नहीं बोलें।

सत्य भी अप्रिय और अहितकारी नहीं बोलना है। याद रहे, यदि आप सत्य अप्रिय बोलेंगे तो आपकी बात स्वीकार्य नहीं बनेगी। यदि आपने सत्य अहितकारी बोला, तो पारमार्थिक दृष्टि से वह असत्य ही कहलायेगा।

असत्य का तो त्याग करना ही चाहिये।

सभा में से : बड़ा मुश्किल है हम लोगों के लिये!

महाराजश्री : प्रयत्न करना चाहिये। भले आप सर्वत्र असत्य का त्याग नहीं कर सकते, परंतु कुछ व्यक्ति के सामने आप झूठ नहीं बोलें, जैसे कि-

१. साधुपुरुषों के सामने असत्य नहीं बोलूँगा,
२. माता के सामने असत्य नहीं बोलूँगा,
३. मित्र के साथ असत्य नहीं बोलूँगा,
४. पत्नी के साथ...

सभा में से : असंभव है, पत्नी के साथ तो असत्य बोलना ही पड़ता है!

महाराजश्री : तो क्या आपका घर-संसार असत्य से ही चलता है? आपकी पत्नी भी आपके साथ असत्य बोलती होगी। तो फिर आपकी संतानें क्या करेंगी?

अभ्यास के रूप में जैसे कुछ व्यक्तियों के साथ असत्य नहीं बोलने का संकल्प करना चाहिये, वैसे कुछ स्थानों में असत्य नहीं बोलने का संकल्प करना चाहिये जैसे कि-

१. मंदिर में असत्य नहीं बोलूँगा,
२. धर्मस्थान में असत्य नहीं बोलूँगा,
३. दुकान में असत्य नहीं बोलूँगा... अथवा घर में असत्य नहीं बोलूँगा।

समय की दृष्टि से भी असत्य का त्याग कर सकते हैं-

१. सुबह नौ बजे तक असत्य नहीं बोलूँगा,
२. दोपहर में एक से तीन बजे तक असत्य नहीं बोलूँगा,
३. शाम को ६ से ७ बजे तक असत्य नहीं बोलूँगा।
४. रात्रि में १० से १२ तक...

इसमें से जितना भी हो सके, आप संकल्प कर सकते हैं।

सत्य बोलने में विवेक चाहिये :

जैसे असत्य नहीं बोलना है, वैसे ऐसा सत्य भी नहीं बोलना है कि जिससे किसी जीव की मौत हो जाय अथवा जीव को बड़ा कष्ट उठाना पड़े। एक-दो उदाहरण से समझाता हूँ यह बात।

आप एक चौराहे पर खड़े हैं।

वहाँ से एक मनुष्य दौड़ता हुआ पूर्व दिशा में चला गया। उसके बाद तुरंत ही चार-पाँच व्यक्ति दौड़ते आये... और आपको पूछा : 'यहाँ से एक आदमी हाथ में बेग लिये दौड़ता हुआ गया क्या? आपने देखा क्या?' आपने उन पुरुषों के हाथ में शस्त्र देखे, आपको वहाँ मौन रहना चाहिये अथवा पश्चिम दिशा बता देनी चाहिये।

वैसे, आपके सामने से एक बकरा दौड़ता हुआ पासवाली गली में चला गया! उसके बाद तुरंत वहाँ कसाई आया। आपको पूछे कि 'यहाँ से जाता हुआ बकरा आपने देखा क्या?' आपको या तो मौन रहना चाहिये, अथवा दूसरी ही गली बता देनी चाहिये। बकरा जहाँ गया... वह गली नहीं बतानी चाहिये।

अथवा यदि नैतिक हिम्मत हो तो कह सकते हैं कि 'मैं जानता हूँ, परंतु बताऊँगा नहीं!'

ऐसी नैतिक हिम्मतवाले लोग होते हैं दुनिया में। बंगाल के एक तत्त्वज्ञानी पुरुष ऐसे थे! उनका नाम था **हरंबा मिश्रा**। वहाँ के ब्राह्मीसमाज के वे चुस्त अनुयायी थे। नीतिपरायण थे, सदाचारी थे। वे कभी असत्य नहीं बोलते थे। 'सत्य ही परमेश्वर है' ऐसी उनकी श्रद्धा थी।

एक बार वे रास्ते से गुजर रहे थे, सामने एक शराबी मिला। शराबी ने पूछा : 'ओ... स्टार सिनेमा कहां आया? जल्दी बता...'

मिश्राजी ने उसके हावभाव देखे। उससे छूटने के लिये तुरंत कह दिया : 'मुझे मालूम नहीं है।' और वे आगे बढ़ गये।

बीस-पचीस कदम जाने के बाद मन में सोचा : 'स्टार सिनेमा कहाँ आया है, मैं जानता हूँ... फिर भी मैंने कह दिया : 'मुझे मालूम नहीं है, मैंने असत्य बोला।'

वे वापस लौटे। वह शराबी वहाँ ही खड़ा था। मिश्राजी ने उसको कहा : 'स्टार सिनेमा कहाँ आया, मैं जानता हूँ, पर तुझे मैं बताऊँगा नहीं!' वह शराबी देखता रहा और मिश्राजी वहाँ से चल दिये।

सत्यपालन के लिये गाँव छोड़ दिया :

दूसरी एक घटना सुनाता हूँ रामकृष्ण परमहंस के पिताजी की। उनका नाम था खुदीराम चट्टोपाध्याय। वे साधुचरित पुरुष थे। सारे गाँव में उनकी नीतिमत्ता की प्रशंसा होती थी। कभी भी उन्होंने नीति का मार्ग छोड़कर अनीति का मार्ग लिया नहीं था।

एक दिन गाँव का जमींदार उनके पास आया। खुदीराम ने उनका योग्य सत्कार किया और पूछा : 'आज आपको यहाँ मेरे पास क्यों आना पड़ा?'

'सुनो खुदीराम, मैंने एक किसान पर कोर्ट में केस किया है, उस किसान ने कोर्ट में कहा है कि खुदीराम जो न्याय देंगे, वह मैं मानूँगा।'

'ठीक है, मैं न्याय दूँगा।' खुदीराम ने कहा।

'आपको मेरे पक्ष में न्याय देना है। और, सोच-समझकर यदि आपने काम किया तो मैं आपको बहुत रुपये दूँगा।'

'मैं न्याय बेचना नहीं चाहता...।' खुदीराम ने दृढ़ता से कहा!

'तो फिर आपको यह गाँव छोड़ने की नौबत आ सकती है!'

जमींदार धमकी के सूर में बोला। खुदीराम मौन रहे। उन्होंने सोचा : 'जहाँ गाँव का मालिक अन्याय-अनीति करता हो, अपनी प्रजा को ही लूटने पर उतारु हो, वैसे गाँव में मुझे नहीं रहना चाहिये।' खुदीराम ने दूसरे ही दिन परिवार सहित गाँव छोड़ दिया।

न्यायाधीश सत्यवादी का मूल्यांकन करता है :

जो जीवनपर्यन्त सत्य की आराधना करते हैं, उनकी विश्व में प्रतिष्ठा फैलती ही है। ग्रीस देश में भी एक ऐसा सत्यवादी हो गया, उसका नाम था 'जेनोक्रिटिस।'

जेनोक्रिटिस ग्रीस का प्रसिद्ध तत्त्वचिंतक था। परंतु उसकी जितनी प्रतिष्ठा तत्त्वचिंतक के रूप में थी, उससे ज्यादा प्रतिष्ठा 'सत्यवादी' के रूप में थी। जेनोक्रिटिस कभी असत्य नहीं बोल सकता,' ऐसी उसकी प्रसिद्धि थी।

एक दिन जेनोक्रिटिस को कोर्ट में जाना पड़ा। गवाही देने की थी। साक्षी के कठघड़े में खड़े हो गये। कोर्ट की परंपरा के अनुसार 'मैं असत्य नहीं बोलूँगा,' ऐसी प्रतिज्ञा लेने के लिये हाथ में धर्म का पुस्तक लेना पड़ता है। जेनोक्रिटिस ने ज्यों ही पुस्तक हाथ में लिया, न्यायाधीश ने कहा : 'आदरणीय जेनोक्रिटिस! आपको धर्मपुस्तक हाथ में लेकर प्रतिज्ञा लेने की आवश्यकता नहीं है। आप जो कुछ बोलेंगे वह सत्य ही होगा ऐसा हमारा विश्वास है। सूर्य कभी पश्चिम में उग सकता है, परंतु आप कभी असत्य नहीं बोल सकते। इसलिये ऐसी कोई प्रतिज्ञा के बिना, आपको जो गवाही देना हो, आप दे दें।'

जेनोक्रिटिस की ऐसी प्रतिष्ठा थी!

इसलिये कहता हूँ कि सत्य पर विश्वास करें।

उपसंहार :

असत्य बोलने के प्रसंग तो संसार में आते ही रहते हैं। और जो लोग अज्ञानी होते हैं वे असत्य का ही पक्ष लेनेवाले होते हैं। 'संसार में रहते हैं तो असत्य बोलना पड़ता है...' वगैरह बातें करते हैं। परंतु सम्यग्दृष्टि जीव, ऐसी बातों से भ्रमित नहीं होते हैं।

❖ जमीन के विषय में कभी असत्य बोलने का प्रसंग आता है,
❖ कन्या के विषय में कभी असत्य बोलने का प्रसंग आता है,
❖ पशुओं के विषय में कभी असत्य बोलने का प्रसंग आता है,
❖ धन-संपत्ति के विषय में कभी असत्य बोलने का प्रसंग आता है,
❖ अमानत के विषय में कभी असत्य बोलने का प्रसंग आता है,

इन प्रसंगों में, जहाँ लोभ और लालच से मन असत्य बोलने को तत्पर हो जाता है, वहाँ मन को समझाना कि : 'यदि मैं असत्य बोलूँगा, परंतु मेरे पुण्यकर्म का उदय नहीं होगा तो मेरा कार्य सिद्ध नहीं होगा। पुण्यकर्म के उदय से कार्य सिद्ध भी हो गया, तो भी वह अल्प समय के लिये होगा। परंतु असत्य बोलने से

जो पापकर्म बंधेगा वह जनम-जनम मुझे दुःख देगा। इसलिये मुझे असत्य नहीं बोलना है। और, जब लोगों को मालूम हो जायेगा कि 'मैंने झूठ बोलकर कार्य किया है,' तब मेरे प्रति लोगों की श्रद्धा नहीं रहेगी। इसलिये मुझे भले पैसे का नुकसान हो, मेरी लड़की का संबंध हो या मत हो, पशुओं का सौदा हो या मत हो... मुझे असत्य नहीं बोलना है।'

जीवदया रूप लता को नवपल्लवित करनेवाली सत्यरूप वर्षा में ही स्नान करते रहें। आपको अपूर्व शीतलता प्राप्त होगी।

आज बस, इतना ही।

महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी ने स्वरचित **'धर्मबिन्दु'** ग्रन्थ के तीसरे अध्याय में गृहस्थ का विशेष धर्म प्रतिपादित किया है। श्रद्धावान् गृहस्थ व्रतपालन की अपनी क्षमता को लक्ष्य में लेकर, सद्गुरु के पास बारह व्रत अंगीकार करता है।

पहले और दूसरे व्रत और उसके अतिचार आपको बताये, अब तीसरा व्रत बताता हूँ। तीसरा अणुव्रत इस प्रकार ले सकते हैं :

तीसरे व्रत की प्रतिज्ञा :

'दूसरे मनुष्य की जेब से पैसा वगैरह नहीं लूँगा। जेब नहीं काटूँगा। दूसरे के घर में चोरी करने की भावना से प्रवेश नहीं करुँगा। चोरी करने की इच्छा से ताला नहीं तोड़ूँगा। डाका नहीं डालूँगा। किसी की गिरी हुई वस्तु को नहीं उठाऊँगा। दूसरे के खेत में रास्ता नहीं डालूँगा। करचोरी टेक्स की चोरी नहीं करूँगा। राज्यनिषिद्ध व्यापार नहीं करूँगा।

घर की वस्तु माता-पिता की आज्ञा के बिना ले सकता हूँ। मित्र, भाई वगैरह स्नेही-स्वजन की वस्तु उनको पूछे बिना ले सकता हूँ, देख सकता हूँ। स्व-मकान में से या किराये के मकान में से कोई संपत्ति मिल जाय, वह संपत्ति मैं ले सकता हूँ। किसी की खोई हुई वस्तु मेरे हाथ लगे तो मालिक का निर्णय कर उसको वापस दूँगा। इन सब बातों में चोरी की भावना नहीं रखूँगा।'

इस प्रकार आप व्रत ग्रहण कर सकते हैं। व्रत लेने के बाद पाँच सावधानी रखने की होती है। अन्यथा व्रत को दोष लगते हैं।

'स्तेनप्रयोग-तदाहृतादान-विरूद्धराज्यातिक्रम-हीनाधिकमानोन्मान-प्रतिरुपकव्यवहाराः ।'

ये पाँच अतिचार बताये गये हैं।

१. दूसरों से चोरी करवाना,
२. चोर द्वारा लाई हुई वस्तु लेना,
३. शत्रुराजा के देश में प्रवेश करना,
४. लेने-देने में कम ज्यादा करना,

५. व्यापार में धोखेबाजी करना,

यह सब करते हुए भी व्रतसापेक्षता होने से 'अतिचार' कहलाता है। व्रतनिरपेक्ष हो, यदि यह सब करता है तो व्रत का भंग होता है।

१. दूसरों से चोरी मत करवायें :

तीसरे अणुव्रत में 'मैं चोरी करूँगा नहीं, करवाऊँगा नहीं,' ऐसी प्रतिज्ञा होती है, अतः यदि वह दूसरे व्यक्ति से चोरी करवाता है, तो प्रतिज्ञा का, व्रत का भंग हो होता है। परंतु जो होशियार होता है न? वह दूसरे व्यक्ति को Direct-सीधा नहीं कहेगा कि 'तू चोरी कर,' लेकिन कहेगा-'आजकल तुम कोई व्यापार क्यों नहीं करते? कोई काम क्यों नहीं करते?' चोर को यदि इस प्रकार पूछा जाय तो चोर क्या नहीं समझेगा कि 'यह मुझे चोरी करने के लिये प्रेरित करता है!' फिर कहेगा : 'यदि तुम्हारा माल कोई नहीं लेता है तो मैं लूँगा, परंतु ऐसे निष्क्रिय मत रहो!' इस प्रकार चोर को चोरी के लिये प्रेरित करता है, फिर भी वह मानता है कि 'मैंने तो व्यापार करने के लिये कहा है, चोरी करने को नहीं कहा है, इसलिये मेरा व्रत भंग नहीं होता है।' इस प्रकार स्वकल्पना से वह व्रतसापेक्ष रहता है इसलिये 'अतिचार' कहा गया है, अन्यथा चोरी करवाने से व्रतभंग ही होता है। चोरी करवानेवाला भी चोर ही है। चोर सात प्रकार के कहे गये हैं-

चौरश्चौरापको मंत्री, भेदज्ञः क्राणकक्रयी।
अन्नदः स्थानदश्चैव चौरः सप्तविधः स्मृतः ॥

१. स्वयं चोरी करनेवाला, २. दूसरों से चोरी करवानेवाला, ३. चोरी करने की राय देनेवाला, ४. चोरों का भेद जाननेवाला, ५. चोरी का माल लेनेवाला, ६. चोरों को भोजन देनेवाला और ७. चोरों को आश्रयस्थान देनेवाला-ये सात प्रकार के चोर होते हैं।

चोर को किसी भी प्रकार, चोरी के लिये प्रेरित करनेवाला वास्तव में चोर ही है, परंतु 'मैंने तो व्यापार करने को प्रेरित किया है, चोरी के लिये नहीं,' ऐसी मनोधारणा ही उसे बचा लेती है, व्रतभंग नहीं होने देती। फिर भी उपद्रव तो हो सकता है कभी!

चोरी करानेवाला भी अपराधी :

मान लो कि वह चोर पकड़ा गया। पुलिस को उसने कह दिया : 'मुझे उस व्यक्ति ने चोरी करने को कहा था...' पुलिस आपको पकड़ेगी न? फिर क्या होगा आपका?

सभा में से : पुलिस को रिश्वत देनी पड़ेगी, तब वह छोड़ेगी!

महाराजश्री : संभव है कि कभी कमाई से ज्यादा देना पड़े! संभव है कि कभी रिश्वत देने से भी काम नहीं बनता है। ज्यादा उलझन में फँसना पड़ता है। परिवार को भी परेशानी होती है।

२. चोरी का माल नहीं लेना चाहिये :

दूसरी बात है चोरी का माल लेने की। अणुव्रतधारी सोचे कि 'मेरा व्रत चोरी नहीं करने का है। चोरी का माल लेने में मेरा व्रतभंग नहीं होता है। यह तो मेरा व्यापार है।' व्रतसापेक्ष हो सोचता है इसलिये व्रतभंग नहीं माना गया, परंतु अतिचार माना गया है।

हालाँकि यह मन मनाने की बात है। फिर भी 'मेरे व्रत का भंग नहीं होना चाहिये,' ऐसी भावना का ज्ञानी पुरुषों ने मूल्यांकन किया है।

चोरी का माल नहीं लेना चाहिये। 'यह माल चोरी का है,' ऐसा जानने के बाद, लोभ में फँस कर नहीं लेना चाहिये। कभी न कभी आफत आ सकती है, चोरी का माल घर-दुकान में रखने पर।

चोरी का माल लेने से, घर में रखने से या बेचने से-

१. मन सतत चिंतित रहता है, भयभीत रहता है,
२. चोरों से, डाकूओं से लेन-देन का संबंध बनने से कभी मारा-मारी अथवा हत्या भी हो सकती है,
३. पकड़े जाने पर सजा हो सकती है।
४. धर्म आराधना में मन लगता नहीं है।
५. मन की चंचलता बढ़ती है, स्वभाव भी बिगड़ता है।
६. व्यवहार की दृष्टि से व्रत का भंग नहीं होता है, परंतु निश्चय दृष्टि से व्रतभंग हो ही जाता है।

इसलिये चोरी का माल लेना ही नहीं चाहिये। उस व्यापार से अणुव्रतधारी को दूर रहना चाहिये।

३. शत्रु देश में नहीं जाना चाहिये :

तीसरी बात है शत्रु देश में जाने की। जिस देश में जाने का निषेध हो, राज्य की ओर से निषेध हो, उस देश में नहीं जाना चाहिये। जैसे वर्तमान समय में आपको किसी भी देश में जाना होता है तो अपने देश में परमीशन लेनी पड़ती है। अमरीका जाना हो, ग्रेटब्रीटेन जाना हो, फ्रांस जाना हो या पाकिस्तान जाना

हो, आपको 'विसा' लेना पड़ता है न? बिना 'विसा' लिये यदि जाते हो तो दूसरे देशवाले प्रवेश नहीं देते! एरोड्रम से ही वापस लौटा देते हैं! यदि कोई घुस जाता है तो पकड़े जाने पर दंड होता है। कारावास में बंद कर दिया जाता है। 'चोरी' का आरोप आता है। मालिक की आज्ञा के बिना उसका कुछ भी लेना, उसके घर में, देश में, प्रदेश में प्रवेश करना भी एक प्रकार की चोरी कही गई है। फिर भी दुनिया में 'बिना इजाजत परराज्य में प्रवेश' को चोरी नहीं कही जाती है-इस अपेक्षा से अतिचार कहा गया है। अन्यथा व्रतभंग ही होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय तस्करी करनेवाले लोग प्रायः परराष्ट्रों में बिना इजाजत आते-जाते रहते हैं। अणुव्रतधारी को ऐसी प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिये। ऐसे धंधे नहीं करने चाहिये।

४. लेन-देन में कम-ज्यादा नहीं करना चाहिये :

वैसे लेन-देन में भी चोरी नहीं करनी चाहिये। ज्यादा लेना और कम देना-एक प्रकार की चोरी है।

पुराने समय की एक बोधप्रद कहानी है। एक गाँव था। गाँव में एक धनवान् सेठ रहते थे। दुकान थी, व्यापार चलता था। एक ग्वालिन सेठ के यहाँ दूध दिया करती थी। एक दिन सेठ की दुकान से ग्वालिन ने एक सेर चावल लिये। सेठ ने दो छटांक चावल कम दिये। ग्वालिन जाने लगी तो सेठानी ने ग्वालिन को एक सेर घी लाने को बोल दिया। ग्वालिन घर पर गयी। उसने एक तराजू में चावल, जो वह लायी थी, रख दिये और सामने के तराजू में घी रख दिया। चावल से घी तौल दिया। जाकर सेठानी को दे दिया। सेठानी ने सेठ को बोला : 'मैंने एक सेर घी मंगवाया है।' सेठ ने घी तोला। दो छटांक कम था घी! ग्वालिन वहां ही खड़ी थी। सेठ ने कहा : 'क्यों री, घी दो छटांक कम क्यों है?'

ग्वालिन ने कहा : 'सेठ साब, आपने मुझे जितने चावल दिये, मैंने उतना आपको घी दिया है। आप के चावल से ही मैंने घी को तौला है।'

सेठ अपनी चोरी समझ गये।

जिस समय वस्तु से वस्तु का लेन-देन होता था, उस समय इस प्रकार की चोरी प्रायः होती थी। मनुष्य का मन ही वैसा है। ज्यादा लेने में व कम देने में वह खुश होता है! अणुव्रतधारी को इसी वजह से सावधान किया जाता है।

इसी प्रकार, मूल्य पूरा लेकर माल कम देना भी चोरी है। कुछ उदाहरण से यह बात समझाता हूँ।

१. पचास रुपये मीटर का कपड़ा है। रुपये पचास ले लेते हो और कपड़ा पूरा नहीं देते, कम देते हो,
२. पाँच रुपये किलो शक्कर है, आप पाँच रुपये ले लेते हो, और शक्कर किलो से कम देते हो,
३. पचास रुपया किलो घी का भाव है। पचास रुपये ले लेते हो, घी किलो से कम देते हो,

यह सब चोरी है। प्रायः कपटकुशल व्यापारी ही ऐसी चोरी करता है। और प्रायः अनपढ़ लोग ही फँसते हैं। जिस गाँव में अज्ञानी, आदिवासी... भील लोग बसते हैं और जहाँ एक-दो ही व्यापारी होते हैं, वहाँ इस प्रकार की चोरी होती है।

५. व्यापार में धोखेबाजी नहीं करें :

और, जो व्यापारी न्याय-नीति और प्रामाणिकता के पक्षपाती नहीं होते हैं, वे व्यापार में धोखेबाजी करते हैं। मिलावट करते हैं। शक्कर की जगह कंकर के बोरे भर कर रवाना करते हैं! खाद्य पदार्थों में कैसी-कैसी मिलावट होती है, क्या आप नहीं जानते? घी की जगह 'मटनटेलो' का उपयोग कितना व्यापक बना है? शुद्ध घी कितना दुर्लभ बना है?

कपड़े में भी बेईमानी होती है न? कपड़ा हो सूरत का, ऊपर सिक्का लगाते हैं जापान का! होता है न ऐसा? स्वदेशी माल के ऊपर विदेशी सिक्का लगा कर माल बेचते हैं न? क्यों ऐसा करते हैं? श्रीमंत बनने के लिये न? क्या बेईमानी करने से, धोखाधड़ी करने से मनुष्य धनवान् बनता है?

सभा में से : जी हाँ, ऐसा देखने में आता है!

महाराजश्री : देखने में दोष है। धनप्राप्ति होती है 'लाभांतराय कर्म' के क्षयोपशम से। अनीति, अन्याय और बेईमानी करने से लाभांतरायकर्म बंधता है! एक मनुष्य का लाभान्तरायकर्म का क्षयोपशम हो और वह बेईमानी करता है, तो उसे अर्थलाभ जरूर होता है, परंतु वह ऐसा पापकर्म बाँधता है कि भविष्य में लाख उपाय करने पर भी अर्थलाभ नहीं होगा!

यदि अनीति-अन्याय और बेईमानी करने से धनप्राप्ति होती हो तो दुनिया में धनवान् लोग ही ज्यादा होते। चूँकि अनीति, अन्याय और बेईमानी करनेवाले लोग ही दुनिया में ज्यादा हैं!

दुनिया में गरीब ज्यादा हैं, धनवान कम हैं। चूँकि दुनिया में न्याय-नीति का पालन करनेवाले, ईमानदार लोग कम हैं। जब दुनिया में न्याय-नीति का पालन

करनेवाले लोग बढ़ेंगे, ईमानदार लोग बढ़ेंगे, तब दुनिया में धनवान भी बढ़ेंगे। चोरी नहीं करने का उपदेश देनेवालों की यह ज्ञानदृष्टि थी। वे कार्यकारणभाव के ज्ञाता महापुरुष थे। 'चोरी करने से 'लाभान्तराय' नाम का पाप कर्म बंधता है और जब वह कर्म उदय में आता है, तब जीवात्मा निर्धन बनता है। सुख के साधनों की प्राप्ति, प्रयत्न करने पर भी नहीं होती है।' यह है कार्यकारणभाव!

चोरी करने के विचार भी मत करो :

इसलिये कहता हूँ कि चोरी करने के विचार भी मत किया करो। किसी मनुष्य को चोरी करके लाखों रुपये कमाते हुए देखकर आप अपने मन में चोरी कर लाखों रुपये कमाने के विचार नहीं करें, परंतु सोचें कि : 'इस मनुष्य ने पूर्वजन्म में न्यायनीति और प्रामाणिकता का पालन किया होगा, साधुपुरुषों को दान दिया होगा, दीन-दुःखी की सेवा की होगी, इसलिये यहाँ इस जन्म में उसको लाखों रुपये मिले हैं। परंतु इस जन्म में वह अन्याय-अनीति और बेईमानी कर रहा है, इसलिये वह आने वाले जन्म में निर्धन बनेगा। गरीब के घर में जन्म पायेगा और आजीवन गरीब बना रहेगा।' इस सिद्धांत को अच्छी तरह समझ लें और मन में भी चोरी के विचार नहीं करें। मन में चोरी के विचार करने से, चोरी करने की योजना बनाने से पाप कर्मों का बंधन होता है। क्यों निरर्थक पापकर्म बाँधना?

चोरी करने के प्रयोजन :

सभा में से : चोरी करने के विचार क्यों आते हैं?

महाराजश्री : चोरी करने के अनेक प्रयोजन होते हैं। पहला प्रयोजन होता है, आजीविका का अभाव। बहुत प्रयत्न करने पर भी परिवार की अनिवार्य आवश्यकताएँ पूर्ण नहीं होती हैं, परिवार के लोगों को पर्याप्त भोजन नहीं मिलता हो, पर्याप्त वस्त्र नहीं मिलते हों... रहने को घर नहीं मिलता हो। प्रामाणिकता से व्यवसाय करने पर भी पैसे नहीं मिलते हैं, तब चोरी करने का विचार मनुष्य प्रायः करता है।

दूसरा प्रयोजन होता है, श्रीमंत बनने की इच्छा! जो मनुष्य श्रीमंतों को सुखी मानता है, वह श्रीमंत बनने की इच्छा करता है। प्रामाणिक व्यवसाय करने पर श्रीमंत नहीं बना जाता है, तब वह चोरी करने को तैयार होता है।

तीसरा कारण होता है चोरों के साथ दोस्ती! दोस्त चोर होते हैं तो मनुष्य निष्प्रयोजन चोरी करने लगता है। कुछ चोरियों में धनवान लड़के भी पकड़े जाते हैं!

चौथा प्रयोजन होता है, वैसी फिल्में देखना। फिल्म देखकर चोरी करने की, डाका डालने की... लूट करने की प्रेरणा पानेवालों के अनेक किस्से बनते हैं। अंग्रेजों के शासनकाल में बंबई की लॉर्ड्स बैंक लूटनेवाले २०/२१ साल के लड़के ने कबूल किया था कि एक सिनेमा देखकर मैंने बैंक लूटने की योजना बनायी थी। इसलिये आप लोगों को बारबार कहता हूँ कि फिल्में मत देखो। अच्छी संस्कारप्रेरक फिल्में बहुत कम बनती हैं। चूँकि अच्छी फिल्मों का व्यापार अच्छा नहीं चलता है न! फिल्म बनानेवाले पैसे कमाने के लिये ही फिल्म बनाते हैं। प्रजा का कुछ भी हो!

चोरी का मूल कारण : धनप्राप्ति!

चोरी के अनेक कारण बताये, परंतु मूल कारण होता है धनप्राप्ति का। धन का लोभ चोरी करवाता है। धन का लोभ नहीं होता है तो मनुष्य अपने व्यापार में भी प्रामाणिक रह सकता है। धोखाधड़ी नहीं करेगा।

बंगाल की एक घटना है। कृष्णपांती चौधरी अच्छे व्यापारी थे। वे नमक के बड़े व्यापारी थे। लाखों रुपये कमाये थे नमक के व्यापार में। एक दिन एक व्यापारी उनकी पेढ़ी पर आया। उसने कृष्णपांती चौधरी के साथ कितने हजार मन नमक का सौदा किया। थोड़े रुपये भी दे दिये और कहा : 'कुछ दिनों के बाद मैं माल ले जाऊँगा।'

व्यापारी चला गया। कुछ दिन बीत गये, महीने बीत गये, परंतु वह व्यापारी माल लेने वापस नहीं आया। इधर नमक के भाव बढ़ते चले! जिन व्यापारियों के पास नमक का स्टौक था, उन्होंने बहुत पैसे कमाये। कृष्णपांती चौधरी ने भी नमक बेच कर अच्छा मुनाफा कमाया। परंतु वह नमक नहीं बेचा, जो उस व्यापारी को बेचा था।

जब एक वर्ष बीत गया, नमक का भाव भी अच्छा बढ़ा था, तब उस व्यापारी का नमक बेचकर, जो रुपये आये, उसके नाम जमा कर दिये।

एक दिन वह व्यापारी आया। कृष्णपांती चौधरी ने मुनाफे की द्रव्यराशि उसको दे दी। वह व्यापारी तो चौधरी की प्रामाणिकता देखकर दंग रह गया। बहुत प्रशंसा कर वह गया।

अब आप लोग सोचें।

सभा में से : हम होते तो उस व्यापारी को एक पैसा भी नहीं देते।

महाराजश्री : क्यों? पैसे का लोभ बढ़ गया है। लोभी मनुष्य कौन सा पाप नहीं करता है? चोरी करने का अवसर मिलना चाहिये, लोभी चोरी करेगा ही! लोभी बेईमानी

करेगा ही। लोभी अन्याय-अनीति करेगा ही। लोभी धोखेबाजी भी करेगा।

इसलिये अणुव्रतधारी को निर्लोभी-संतोषी बनने का उपदेश दिया गया है। लोभी व्यक्ति प्रायः अणुव्रतों का पालन नहीं कर सकता है।

चोरी से बचने के लिये कुछ सावधानियाँ :

तीसरे अणुव्रत का सही पालन करने के लिये जिस प्रकार निर्लोभी बनना है, वैसे दूसरी भी कुछ सावधानियाँ रखने की हैं। पहली सावधानी है किसी की भी वस्तु बिना पूछे नहीं लेना।

बिना पूछे दूसरों की वस्तु लेने से कभी मन धोखा दे सकता है। पहले चोरी करने का इरादा नहीं हो, परंतु बाद में चोरी की वृत्ति पैदा हो सकती है।

अथवा, बिना पूछे दूसरों की वस्तु लेने से चोरी का आरोप आ सकता है। इसलिये जिसकी वस्तु लेना है, उसके मालिक को पूछ कर ही लिया करो।

दूसरी सावधानी है चोरों के साथ दोस्ती नहीं रखनी। भले ही चोर उदार हो, परोपकारी हो... कुछ भी हो, उसके साथ दोस्ती नहीं रखनी चाहिये। चोर की बातें सुनते-सुनते कभी मन को चोरी अच्छी लगेगी और अवसर मिलने पर चोरी भी कर लोगे।

तीसरी सावधानी है किसी की जमीन पर गिरी हुई वस्तु लेना नहीं। यह आदत अच्छी नहीं है। इस आदत से कभी मनुष्य दुःखी होता है। बंबई की एक घटना है।

एक भाई जौहरी बाजार से गुजर रहा था। उसके आगे दो युवक जा रहे थे। उन्होंने जान-बूझकर जमीन पर सोने की अंगूठी गिरा दी! पीछे चल रहे उस भाई ने अंगूठी ज्यों ही उठायी, उन दो युवकों ने उसको गले से दबोच लिया। मारपीट शुरु कर दी! उसके हाथ में से बेग छीन लिया और वे दोनों युवक भीड़ में अदृश्य हो गये!

चोरी के नुकसान :

ऐसे तो अनेक नुकसान होते हैं। इसलिये ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि चोरी नहीं करनी चाहिये।

१. छोटी-बड़ी चोरी करनेवाला अविश्वसनीय बनता है। कोई उसके ऊपर विश्वास नहीं करता है। चोरी करना छोड़ भी दिया हो, फिर भी वह विश्वसनीय नहीं रहता है।

एक गाँव में हम लोग गये। गाँव में चार-पाँच प्रतिष्ठित व्यक्ति मेरे पास बैठे थे। एक लड़का भी वहाँ खड़ा था। थोड़ी देर तक हमारी बातें होती रहीं। जाते

समय उन चार-पाँच व्यक्तियों में से एक भाई ने मेरे कान में कहा : 'इस लड़के से संभालना, वस्तु उठाकर ले जाने की आदत है उसकी!' बाद में जब-जब उस लड़के को मैं देखता, तब 'यह चोर है!' ऐसा विचार आ जाता था! हालांकि लड़के की आदत सुधर गयी थी, परंतु पहले अनेक बार चोरियां करने से वह अविश्वसनीय बन गया था।

२. चोरी करनेवाला मनुष्य सदैव भयभीत रहता है। भय उसको सताता रहता है। भयभीत मनुष्य को शान्ति नहीं होती है। सुख के अनेक साधन होते हुए भी वह सुखानुभवों से वंचित रहता है।

३. चोर का पारिवारिक जीवन दुःखमय होता है। परिवार अच्छा होने पर भी असंतोष उसको सताता रहता है। परिवार के साथ चोर का ज्यादा संबंध भी नहीं रहता है। ज्यादा समय परिवार से दूर रहना पड़ता है चोर को।

४. सज्जनों से चोर का संबंध कट जाता है। व्यसनी और दुर्जन लोगों से उसका संबंध होता है। इसलिये अनेक दुर्गुण उसमें आ जाते हैं।

५. पापकर्म का बंधन होता है। निकाचित कर्मबंधन भी होता है। चोरी के साथ यदि हिंसाचार करता है तो प्रायः नरक में जाने के कर्म बाँध लेता है।

६. जिन हाथों से मनुष्य चोरी करता है, जिन अंगोपांगों को चोरी के काम में लाता है, आनेवाले जन्मों में वे अंगोपांग उसको नहीं मिलते हैं।

अनेक दुःखों से बचना है तो चोरी का पाप कभी मत करो। भले दुःख में जीना पड़े, गरीबी में जिंदगी बितानी पड़े, परंतु चोरी कभी नहीं करना। अणुव्रत का पालन कर जीवन सफल करो, यही मंगल कामना,

आज बस, इतना ही।

महान श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी ने स्वरचित 'धर्मबिन्दु' ग्रन्थ के तीसरे अध्याय में गृहस्थ का विशेष धर्म प्रतिपादित किया है। श्रद्धावान्, सद्गृहस्थ, व्रतपालन की अपनी क्षमता का विचार कर, सद्गुरु के पास जाकर विधिपूर्वक व्रत अंगीकार करता है।

तीन व्रत और उनके अतिचार आपको बताये, अब चौथा अणुव्रत बताता हूँ। चौथा अणुव्रत इस प्रकार आप ले सकते हैं :

'पर-स्त्री [पर-पुरुष] के साथ काया से मैथुन का त्याग करता हूँ। स्व-स्त्री [स्व-पति] के साथ दिवस के ब्रह्मचर्य का पालन करूँगा। रात्रि में भी मर्यादा करता हूँ। महीने में अमुक रात ब्रह्मचर्य का पालन करूँगा।

बेहोश अवस्था में शायद मन-वचन-काया से संभोग या स्पर्श हो जाय, उसकी जयणा रखता हूँ। कोई कार्यवश स्पर्श करना पड़े, उसकी जयणा [अपवाद] रखता हूँ। उसमें मैथुन की भावना नहीं रखूँगा। स्वप्नदोष हो जाय, उसकी जयणा रखता हूँ।

चैत्र और आसोज महीने की शाश्वत् ओली के १८ दिन तथा पर्युषणा के ८ दिन अवश्य ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करूँगा। कार्तिक, फाल्गुन एवं अषाढ़ चौमासी की तीन अट्ठाईयों में भी यथाशक्ति ब्रह्मचर्य का पालन करूँगा। बीभत्स गालियाँ नहीं बोलूँगा।

चौथा अणुव्रत लेने का यह एक प्रकार है। दूसरे प्रकार से भी व्रत ले सकते हो। अनेक प्रकार हैं व्रत लेने के।

मनुष्य जीवन की सार्थकता कब?

एक बात सदैव याद रखें कि संयम से ही इस जीवन की सार्थकता है। संयममय जीवन की अपूर्व महिमा है। जीवन को संयममय बनाने के लिए तीन प्रकार का संयम अपेक्षित होता है।

१. इन्द्रियसंयम,
२. मनःसंयम,
३. आत्मसंयम,

पाँच इन्द्रियों पर संयम होना सर्वप्रथम आवश्यक होता है। अशुभ के साथ, बुराई के साथ इन्द्रिय का संयोग नहीं होने देना- इन्द्रिय संयम कहलाता है। पाँच इन्द्रियाँ हैं। इसमें पाँचवीं इन्द्रिय है स्पर्शेन्द्रिय। जैसे कान मधुर-प्रिय शब्द चाहता है, आँखें सुंदर रूप चाहती हैं, नाक सुगंध चाहता है, जिह्वा प्रिय रस चाहती है, वैसे स्पर्शेन्द्रिय प्रिय-इष्ट-मनोज्ञ स्पर्श चाहती है।

पुरुष को स्त्री का स्पर्श प्रिय होता है, स्त्री को पुरुष का स्पर्श प्रिय होता है। वैसे जड़ पदार्थों का स्पर्श भी प्रिय होता है, परंतु स्त्री-पुरुष का परस्पर का स्पर्श ज्यादा प्रिय होता है, श्रेष्ठ प्रिय होता है। इस स्पर्श में संयम होना आवश्यक है।

याद रखना कि जितना प्रिय होता है, सबको स्पर्श नहीं कर सकते हैं। सभी मनपसंद वस्तुओं को स्पर्श करने की चेष्टा करें तो क्या होगा, जानते हो?

सभा में से : पिटाई हो जाय! हत्या भी हो सकती है!

महाराजश्री : जौहरी के 'शो-रूम' में सुन्दर अलंकार रखे जाते हैं, रोड पर से गुजरनेवालों को वे अलंकार अच्छे लगते हैं, प्रिय लगते हैं, परंतु क्या हाथ में लेकर स्पर्श कर सकते हैं? नहीं न? स्पर्श करने की चेष्टा करें तो? चौकीदार रोकता है न? वैसे रास्ते पर से अनेक सुन्दर स्त्री-पुरुष गुजरते हैं, वे प्रिय भी लगते हैं, परंतु क्या उनको छू सकते हैं? छूने की चेष्टा करें तो? जूते की मार पड़े न? वैसे, कोई बैंक में आप गये, वहाँ कैशियर के टेबल पर दस-दस हजार रुपये के बंडल पड़े हैं, आपको पसंद आ गये, क्या आप उन रुपयों के बंडलों को स्पर्श करने जाओगे? नहीं न? और यदि छूने के लिये आगे बढ़ो तो?

सभा में से : राइफलधारी चौकीदार गला पकड़कर बाहर फेंक दे!

महाराजश्री : इसका अर्थ यह है कि जितना प्रिय हो, सबको हम स्पर्श नहीं कर सकते हैं! जो हमारा हो, जिस वस्तु पर हमारा अधिकार हो, उसी को छू सकते हैं! जिस वस्तु पर और व्यक्ति पर हमारा अधिकार न हो, उसको छूने से, स्पर्श करने से अनेक अनर्थ पैदा हो सकते हैं, होते हैं।

अपनी स्त्री में ही संतोष रखना चाहिये :

हर पुरुष में प्रायः स्त्री के प्रति आकर्षण होता है। परंतु जिस स्त्री के साथ शादी की हो, उसी को स्पर्श करने का, यानी संभोग करने का उसका अधिकार है, दूसरी स्त्रियों के साथ नहीं। पुरुष की सेक्सी वृत्ति स्वस्त्री में ही संतुष्ट रहनी चाहिए! जो पुरुष इस प्रकार की मर्यादा का पालन नहीं करते हैं, परस्त्री के साथ संभोग करते हैं, वे भले क्षणिक सुख पाते हों, परंतु वे स्वयं के पारिवारिक जीवन

में अशान्ति, क्लेश और झगड़े ही पैदा करते हैं। भूलना मत कि जीवन में सेक्स ही सब कुछ नहीं है। पति-पत्नी के जीवन में सेक्स ही सर्वस्व नहीं होता है। आपस में विश्वास, प्रशंसा और सहानुभूति-ये तीन बातें होनी अति आवश्यक हैं। पुरुष को और स्त्री को यदि विश्वास संपादन करना है, प्रशंसा सुननी है और सहानुभूति पानी है तो उसको अपने आप पर संयम रखना ही होगा। इन्द्रिय पर संयम, मन के ऊपर संयम और आत्मसंयम-तीनों प्रकार के संयम चाहिए।

परस्त्रीगामी पुरुष पर उसकी पत्नी का विश्वास रहेगा क्या? पत्नी जब जानती है कि उसका पति व्यभिचारी है, तब क्या वह पति की प्रशंसा करेगी या गालियाँ देगी? दुःख और आपत्ति के समय क्या व्यभिचारी पति को पत्नी की सहानुभूति मिलेगी? नहीं मिल सकती सहानुभूति। परस्त्रीगामी पुरुष अविश्वसनीय बनता है, निन्दापात्र बनता है और तिरस्कृत होता है।

सभा में से : परंतु यदि वह श्रीमंत होता है तो जाहिर में उसकी प्रशंसा होती है!

महाराजश्री : वह दान देता है, वह 'कोई परोपकार का काम करता है तो उसकी प्रशंसा होती है। उसके जो सत्कार्य होते हैं उसकी प्रशंसा होती है, चारित्र की दृष्टि से वह निन्दापात्र ही होता है और लोग निन्दा करते ही हैं। अरे, उसकी पत्नी तो निन्दा करेगी ही। दुनिया प्रशंसा करे इससे क्या? जीवनसाथी की ओर से प्रशंसा मिलनी चाहिए न? घर में आदर नहीं मिलता है, प्रेम और प्रशंसा नहीं मिलता है, स्नेह और सहानुभूति नहीं मिलती है... तो फिर घर बसाने का क्या अर्थ?

परस्त्रीगामी के बुरे हाल होते हैं :

जो पुरुष रागांध बन परस्त्री में आसक्त होता है, उसके बुरे हाल होते हैं। उस औरत का पति यदि बलवान् होगा तो उसकी पत्नी को तो मारेगा, साथ साथ उसके प्रेमी को भी यमराज के पास पहुँचा देगा। अखबारों में ऐसे किस्से पढ़ते हो न? पढ़कर कुछ बोध ग्रहण करते हो?

दूसरी बात, जो औरत अपने पति के प्रति बेवफा बनती है, वह औरत उसके यार को-प्रेमी को भी दगा नहीं देगी क्या? वैसी भी औरतें होती हैं, जो श्रीमंत पुरुषों को अपने मोहपाश में फँसाती हैं और बाद में उनसे रुपये निकलवाती रहती हैं! ब्लैकमेलिंग करती रहती हैं। इस प्रकार कई श्रीमंत बर्बाद हो गये, परस्त्री के चक्कर में फँस कर। इसलिये ज्ञानी पुरुषों ने कहा कि परस्त्री का संपर्क मत करो। अपनी ही पत्नी में संतोष करो। परस्त्री को माता अथवा बहन के रूप में देखो।

रावण और सुदर्शन :

रावण की हजारों पत्नियाँ थी, फिर भी वह परस्त्री में आसक्त बना, सीता का अपहरण किया। सीता को अशोकवाटिका में रखा था और रोजाना रावण वहाँ जाकर सीता को मनाने के लिये रोता था, अपना सर जमीन पर पटकता था, चाटुकारी करता था...। अपने सारे राज्यकार्य भूल कर वह सीता को मनाने के लिये दिन-रात प्रयत्न करता रहा...। फिर भी वह सीता को नहीं पा सका... परिणाम क्या आया? युद्ध और मृत्यु! लंका का पतन हुआ।

और, सुदर्शन श्रेष्ठि की बात जानते हो न? परस्त्री-सामान्य स्त्री नहीं थी, राजा की रानी अभया थी। सुदर्शन को अपहरण करवाकर अन्तःपुर में लाया गया था। अभया ने सुदर्शन के सामने संभोग का प्रस्ताव रखा था। सुदर्शन की सेक्सीवृत्ति को उत्तेजित करने की भरसक कोशिश की थी। परंतु वह सुदर्शन था! भगवान् महावीर के शासन का श्रावक था। स्वस्त्री में संतोषी था, परस्त्री का मन-वचन-काया से त्यागी था। अभया के लाख प्रयत्न के बावजूद वह अभया के वश नहीं हुआ। अभया रूपवती थी, कलास्वामिनी थी... हावभाव का प्रदर्शन करने में कोई कसर नहीं रखी थी। परंतु सुदर्शन के मन को वह विचलित नहीं कर सकी। चूँकि सुदर्शन इन्द्रियसंयमी थे, मनःसंयमी थे और आत्मसंयमी थे।

मन चंचल होता है तो इन्द्रियाँ चंचल हो चाती हैं। फिर संयम नहीं रह सकता है। इसलिये मन को चंचल नहीं होने देना चाहिये। आज की दुनिया में मन को चंचल करनेवाले निमित्तों की कोई सीमा नहीं रही है। दृढ़ मनःसंयम के बिना मनुष्य यह व्रत ले नहीं सकता और निभा नहीं सकता है। सुदर्शन जैसा दृढ़ मनोबल है क्या? एक अभया नहीं, अनेक अभयाएँ पैदा हो गई हैं, इस दुनिया में।

परस्त्रीगमन से पापकर्मों का बंध :

परस्त्री-संभोग का विचार करने मात्र से पापकर्म बंध जाते हैं। और यदि उस विचार में आयुष्यकर्म का बंध हो गया तो संभव है कि उसी स्त्री के पेट में गर्भरूप में उत्पन्न होना पड़े!

परंतु परलोक को दृष्टि से सोचो तो यह बात समझ पाओगे। 'परस्त्रीगमन से परलोक में मेरा क्या होगा? इस पाप का फल तो मुझे भोगना पड़ेगा ही। पाप का फल दुःख होता है। मुझे कैसा दुःख भोगना पड़ेगा?' परस्त्री के साथ संभोग की इच्छा पैदा होने पर क्या यह विचार आता है? करना यह विचार, अन्यथा घोर पापकर्म बाँध कर दुर्गति में चले जाओगे।

इस युग की युवा पीढ़ी तो ज्यादातर मार्गभ्रष्ट हो गई है। परस्त्रीगमन और परपुरुषगमन 'फैशन' के नाम पर, 'आनन्द-प्रमोद' के नाम पर चल पड़ा है। इस जगह बैठकर कितनी बातें कहूं? शर्म आती है ऐसी बातें यहाँ करने में। परंतु कहनी पड़ती है। आप लोगों को सावधान करना मेरा फर्ज है। तन और धन की बर्बादी का यह उन्मार्ग है। आत्मा के अधःपतन का यह उन्मार्ग है।

यह व्रत पारिवारिक जीवन के लिये वरदान है :

स्वस्त्री संतोष और परस्त्रीपरिहार-रूप यह चौथा अणुव्रत आप गृहस्थों के लिये वरदान सिद्ध हो सकता है। स्त्री के लिये स्व-पुरुष संतोष और पर-पुरुषपरिहार-रूप व्रत समझना चाहिये। पति और पत्नी-दोनों यदि इस व्रत को स्वीकार कर, अच्छा पालन करें तो परिवार में शान्ति, प्रेम और दिव्यता का अवतरण हुए बिना नहीं रहे। तन स्वस्थ बनता है, मन पवित्र बनता है और धन की वृद्धि होती है। दैवी कृपा का अवतरण होता है। आपस का विश्वास बढ़ता है। स्नेह और सहानुभूति बढ़ती है। धर्म आराधना में उल्लास बढ़ता है। इससे पुण्यकर्म का संचय होता है। आत्मा पवित्र रहती है।

व्रतपालन में कुछ सावधानियाँ :

इस चौथे अणुव्रत को क्षति पहुंचानेवाली ये बातें हैं-

परविवाहकरणेत्वरपरिगृहीताऽपरिगृहीता-
गमनानङ्गक्रीडातीव्रकामाभिलाषाः।

१. दूसरों के लड़के-लड़कियों के विवाह-कार्य करने से यह चौथा अणुव्रत दूषित होता है।
२. दूसरी स्त्री (परस्त्री) को पैसा देकर उसके साथ मैथुन-सेवन करने से चौथे अणुव्रत को अतिचार लगता है।
३. कुंआरी कन्या, विधवा और वेश्या के साथ मैथुन-सेवन करने से चौथा अणुव्रत कलंकित बनता है।
४. कामवासना को जाग्रत करने के लिये आलिंगनादि अनंगक्रीड़ा करने से इस अणुव्रत को दोष लगता है।
५. संभोग की तीव्र इच्छा करने से भी इस अणुव्रत को अतिचार लगता है।

१. पर-विवाहकरण :

यदि आपने चौथा अणुव्रत लिया है और अच्छी तरह उसका पालन करना है,

तो दूसरे स्नेही-स्वजनों के लड़के-लड़कियों के विवाह आपको नहीं करने चाहिये। भले ही आपका उन लोगों से स्नेह-संबंध हो। अथवा आप यह सोचें कि 'उनके लड़के की शादी मैं करवा दूँगा तो वे मेरे लड़के के लिये अच्छी कन्या खोज कर मेरे बेटे की शादी करवायेंगे।' अथवा आपकी लड़की के लिये अच्छा लड़का पाने के लिये आप दूसरों की लड़कियों की शादी करते हैं। प्रयोजन कोई भी हो, आप यदि दूसरों के विवाह रचाते हैं तो आपका अणुव्रत दूषित होता ही है। आप पूछेंगे कि ऐसा क्यों होता है? कारण, विवाह कराने से मैथुन क्रिया में आपकी अनुमति हो जाती है! जिस-जिस की आप शादी करवायें, उनकी मैथुन-क्रिया में आपकी अनुमति हो जाती है। स्वयं के लड़के-लड़कियों की शादी कराना तो एक अपरिहार्य कर्तव्य होता है। परंतु वहाँ भी मर्यादा अपेक्षित होती है!

मान लो आपके चार लड़के हैं। आपने दो लड़कों की शादी कर दी, अब बड़ा लड़का उसके छोटे भाईयों का विवाह कर सकता है, तो आपको उस विवाह-कार्य में सम्मिलित होने की कोई आवश्यकता नहीं रहती है।

समझने की बात यह है कि आपने जो अणुव्रत लिया है वह पूर्ण ब्रह्मचर्यपालन की दिशा में पहला कदम है। आपको उसी दिशा में आगे बढ़ना है। महाव्रतपालन का आपका आदर्श होना चाहिये। अणुव्रत से महाव्रत तक पहुँचने में यह 'विवाह-करण' की क्रिया बाधक बनती है। ब्रह्मचर्यपालन के भाव में बाधक बनती है। ऐसे विवाह-शादी के कार्यों में परस्त्री-संभोग की इच्छा जाग्रत हो जाने की संभावना रहती है। इसलिये हो सके वहाँ तक विवाह-कार्यों से दूर ही रहने का प्रयत्न करना चाहिये।

२. वेश्यागमन नहीं करना चाहिये :

अणुव्रत लेने के बाद, स्वस्त्री में संभोग की तीव्र इच्छा पूर्ण नहीं होने पर अथवा स्व-पत्नी संभोग के लिये अनुकूल नहीं होने पर, पुरुष सोचे कि 'मेरा व्रत 'परस्त्रीपरिहार' का है, वेश्या परस्त्री नहीं है, यानी वह किसी की पत्नी नहीं है, उसके साथ संभोग करने से मेरा व्रत टूटेगा नहीं और वासना-तृप्ति भी हो जायेगी। पैसा देकर अल्प समय के लिये उसे मैं स्व-स्त्री बना लूँगा... बस, मेरा काम हो जायेगा!' और यदि वह पुरुष वेश्यागमन करता है तो उसका अणुव्रत कलुषित हो जाता है।

'इत्वरपरिगृहिता' का अर्थ है वेश्या। पैसा देकर अल्प समय के लिये जिसका ग्रहण किया जाता है। 'स्व-स्त्री' की कल्पना कर और 'यह स्त्री किसी की बीवी

नहीं है इसलिये पर-स्त्री नहीं है,' ऐसी कल्पना कर उस वेश्या के साथ संभोग करने से, भले व्यवहार से व्रतभंग नहीं होता है परंतु भाव की अपेक्षा से व्रतभंग ही है। मात्र 'मेरा व्रत भंग न हो' इतनी व्रत सापेक्षता ही उसके व्रत का रक्षण करती है, अन्यथा व्रतभंग ही है यह।

३. अपरिगृहिता स्त्री भी त्याज्य है :

तीसरा अतिचार दूसरे अतिचार से मिलता-जुलता है। अपरिगृहिता स्त्री वेश्या भी हो सकती है। जब उस वेश्या को किसी ने पैसे देकर ले ली न हो, उस समय वह 'अपरिगृहिता' कहलायेगी। वैसे, कोई अनाथ स्त्री है, वह भी अपरिगृहिता कहलायेगी। विधवा स्त्री भी अपरिगृहिता कहलायेगी, यदि वह किसी दूसरे पुरुष से वचनबद्ध न हुई हो तो। ऐसी स्त्री के साथ 'यह पर-स्त्री नहीं है और पैसे देकर मैंने उसको मेरी स्त्री बना ली है,' ऐसी कल्पना कर, जो संभोग करता है, वह अपने अणुव्रत को दूषित करता है। वास्तव में देखा जाय तो व्रतभंग ही है। व्रत का भाव कहाँ रहता है? इन्द्रियसंयम कहाँ रहता है? बस, थोड़ी सी व्रतसापेक्षता रहने से 'अतिचार' कहा है। परंतु 'इस प्रकार वेश्या से, विधवा से, कुंवारी कन्या से या अनाथ स्त्री के साथ संभोग करने से व्रतभंग नहीं होता है, मात्र अतिचार ही लगता है,' ऐसा सोच कर व्यभिचार के मार्ग पर मत चलना। गलती मत करना। अन्यथा सदाचार की भावना, ब्रह्मचर्य की भावना नष्ट हो जायेगी। अणुव्रतों का कोई अर्थ नहीं रहेगा।

जिसके साथ शादी की है, उसको छोड़कर और किसी भी स्त्री के साथ संभोग नहीं करने का संकल्प करें, दृढ़ निश्चय करें।

सभा में से : पत्नी अनुकूल न हो, पत्नी के साथ बोल-चाल भी बंद हो तब क्या करना?

महाराजश्री : तब ब्रह्मचर्य का पालन करना! मन नहीं मानता हो तो उपाश्रय में आकर सो जाना! भोजन नहीं मिले तो उपवास किया जा सकता है, परंतु जहर नहीं खाया जाता है! परस्त्री, वेश्या, विधवा वगैरह जहर के बराबर है। स्वस्त्री से संभोग सुख नहीं मिलता है तब मन को संयम में रखना चाहिये।

इसलिये आप लोगों को बार-बार कहता हूँ कि पति-पत्नी के संबंध अच्छे बनाये रखने चाहिये। दोनों के बीच अच्छे संबंध बने रहने से पुरुष का मन दूसरी स्त्रियों के प्रति नहीं जायेगा और स्त्री का मन दूसरे पुरुषों के प्रति आकर्षित नहीं होगा।

पति-पत्नी के संबंध को बरकरार रखने के लिये, घनिष्ठ बनाये रखने के लिये वर्तमानकालीन पश्चिम के मनोवैज्ञानिकों के कुछ महत्वपूर्ण मंतव्य जानने योग्य हैं।

दांपत्य जीवन के विषय में मनोवैज्ञानिकों के महत्वपूर्ण मंतव्य :

- ❖ मासाचुसेट्स के मनोवैज्ञानिक **डॉ. आर. विलियम बेचर** की सलाह है : हास्य-विनोद वैवाहिक जीवन में उत्साह और उमंग तो बनाए रखता ही है, साथ-साथ नीरस दुनियादारी को झेलने की शक्ति भी देता है। इससे जीवनसाथी एक दूसरे को आहत किए बिना अपनी इच्छाओं और आलोचनाओं को भी व्यक्त कर सकते हैं।
- ❖ मनोवैज्ञानिक **डैनियल ओ लियरी और हिलेरी टर्केविट्ज** ने एक विशेष अध्ययन में सलाह दी है कि पारिवारिक उत्तरदायित्वों से पहले जिन क्रीड़ाओं में आपको मजा आता था। उन्हें न छोड़ें। रोजमर्रा की जिंदगी के अधिक खुशगवार पहलुओं को सोचने का प्रयास करें। एक-दूसरे की प्रशंसा करने-सकारात्मक ढंग से दूसरे की हिम्मत बढ़ाने से आप कार्य की शुरुआत करें।
- ❖ मनोवैज्ञानिक **नौर्मन एम. ब्रैडबर्न** द्वारा किए गए २,७८७ लोगों के सर्वेक्षण के अनुसार, दांपत्य जीवन के सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं साहचर्य और घनिष्ठता। और, यौन (सेक्स) घनिष्ठता की भाषा है, इसलिए बुद्धिमान पत्नी अपने वैवाहिक जीवन की मानसिक समीक्षा करते समय इन तथ्यों को अवश्य शामिल करेगी। क्या वह और उसका पति सेक्स के बारे में बात करने से कतराते हैं? क्या वे असंतुष्टियों को लेकर चुप रहते हैं? यही तत्त्व परेशानी को दावत देता है। यौन समस्याओं को झेलते जाने का कोई अर्थ नहीं है।
- ❖ परिवार अनुसंधानकर्ता **ब्रेन्ड सी. मिलर** के अनुसार वैवाहिक संतुष्टि छठे और सातवें सालों में अपने निम्नतम स्तर पर होती है। यह लगभग वह समय है, जब पहला बच्चा स्कूल जाना शुरु ही करता है। इस अवधि के दौरान व्यावसायिक दबाव और बच्चे के पालन पोषण में गहन व्यस्तता के कारण दोनों के बीच घनिष्ठता और साहचर्य में कमी आती है।
- ❖ **जायस ब्रधर्स 'रीडर्स डाइजेस्ट'** में कहते हैं-अक्लमंदी इसीमें है कि झगड़ों को जितनी जल्दी हो सके, शांत करें और जीतने का नहीं बल्कि दोनों अपने जीवनसाथियों को संतुष्ट करने का प्रयास करें। इस विषय में कुछ नियम-

१. **स्पष्ट कहिए।** संबंध जिनसे सुधर सकते हैं, उन स्पष्ट बदलावों की बात कीजिए।
२. **सुनिए।** शिकायतों को सुनिए और उनका स्पष्टीकरण करने का प्रयास कीजिए। शिकायत के बदले में शिकायत मत कीजिए।
३. **वर्तमान में रहिए।** विगत का रोना मत रोइए।
४. **एक विषय पर रहिए।** यदि एक से अधिक विवाद उठ खड़े होते हैं तो उन्हें लिख डालिए और बाद में उन पर बातचीत कीजिए।
५. **अपनी बात प्रत्यक्ष व्यवहार तक ही सीमित रखिए,** उसका विश्लेषण मत करने लगिए।
६. **एकान्त में लड़िए!** दूसरों के सामने नहीं। विचार-विमर्श उस समय के लिए स्थगित कीजिए जब आप शांत हों और क्रोध से पागल न हों।
७. **तलाक का नाम मत लीजिए।** जिन नाराजगियों का हल निकल सकता है उनके कारण संबंध-विच्छेद की धमकी वैवाहिक संबंध को ओछा ही बनाती है।

पति-पत्नी के संबंध अच्छे बने रहते हैं तो चौथे अणुव्रत का पालन सरलता से हो सकता है, अन्यथा अणुव्रत दूषित बन सकता है अथवा भंग हो सकता है। अब चौथे अतिचार के विषय में बात करता हूँ।

४. अनंगक्रीड़ा से बचते रहो :

पहले 'अनंग' का अर्थ सुन लो। अंग यानी शरीर का अवयव। मैथुन-संभोग की अपेक्षा से स्त्री की योनि और पुरुष का मेहन अंग कहा जाता है। योनि और मेहन के अलावा स्त्री-पुरुष के सभी अंग 'अनंग' कहे जाते हैं। मुँह, सीना, कपोल... वगैरह अनंगों के साथ स्त्री-पुरुष की क्रीड़ा 'अनंगक्रीड़ा' कही जाती है।

अथवा-अनंग का दूसरा अर्थ है काम। काम-वासना से प्रेरित होकर अनंगक्रीड़ा न करें। वास्तव में यह व्रतभंग ही है, फिर भी 'मैंने तो परस्त्री के साथ संभोग नहीं करने की प्रतिज्ञा की है, यह तो मात्र अनंगक्रीड़ा है,' ऐसा सोचता है, इसलिये व्रतसापेक्षता रहती है। इस अपेक्षा से अतिचार कहा गया है।

अब पाँचवा अतिचार बताता हूँ -

५. संभोग की तीव्र इच्छा नहीं करें :

स्व-पत्नी के साथ भी संभोग की मर्यादा रखनी चाहिये। संभोग की तीव्र इच्छा से बचना चाहिये। तीव्र इच्छा मन को तो नुकसान करती ही है, शरीर पर भी उसका बुरा प्रभाव पड़ता है। मनोयोग बिगड़ जाने से दूसरे महत्वपूर्ण कार्य छूट

जाते हैं। तीव्र कामुकता शरीर में अनेक रोग पैदा करती है। पापकर्म के बंधन तो होते ही रहते हैं।

संभोग की तीव्र इच्छा से, कभी अनिच्छा से भी पत्नी को वश होना पड़ता है। इससे कभी झगड़ा हो जाता है। आपस में कटुता बढ़ती है और संभवतः पुरुष वेश्या अथवा परस्त्री की ओर मुड़ जाता है। इसलिये संभोग की इच्छा को तीव्र नहीं होने देनी चाहिए।

इस प्रकार स्व-पत्नी संतोष और परस्त्री परिहार रूप चौथा अणुव्रत बताया गया है। हर दृष्टि से यह अणुव्रत उपयोगी, उपकारी और उपादेय है। इन्द्रियसंयम, मनःसंयम और आत्मसंयम से ही इस अणुव्रत का पालन संभव है। इस अणुव्रत को ग्रहण कर, अच्छा पालन कर आत्मा को निर्मल करते रहें-यही मंगल कामना।

आज बस, इतना ही।

महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरीश्वरजी ने स्वरचित 'धर्मबिन्दु' ग्रन्थ के तीसरे अध्याय में गृहस्थ जीवन का विशेष धर्म प्रतिपादित किया है। बारह व्रतमय गृहस्थधर्म बताया है।

गृहस्थावस्था में रहते हुए भी मोक्षमार्ग की आराधना करने की तमन्नावालों के लिये बारह व्रतों को स्वीकार कर, उन व्रतों का पालन करना आवश्यक होता है। इसलिये बारह व्रतों को विस्तार से समझा रहा हूँ। आज पाँचवाँ 'परिग्रहपरिमाण व्रत' समझाना है। पहले यह व्रत स्वीकारने का प्रारूप बताता हूँ :

'मैं सोने के जेवर (अलंकार)... तोले से ज्यादा नहीं रखूँगा।'

'मैं चांदी के जेवर... तोले से ज्यादा नहीं रखूँगा।'

'मैं रुपये... से ज्यादा नहीं रखूँगा।'

'मैं धान्य (अनाज)... मन से ज्यादा नहीं रखूँगा।'

'मैं खेत, बाड़ी, बगीचा वगैरह... एकड़ जमीन से ज्यादा नहीं रखूँगा।'

'मैं... घर, ...दुकान, ... बंगला से ज्यादा नहीं रखूँगा।'

'मैं... सोना, चांदी से ज्यादा नहीं रखूँगा।'

'मैं तांबा..., पीतल..., कांसा..., लोहा..., एल्युमीनिय... किलो से ज्यादा नहीं रखूँगा।'

'मैं नौकर..., नौकरानी... से ज्यादा नहीं रखूँगा।'

'मैं गाय..., भैंस..., बैल..., घोड़ा... से ज्यादा नहीं रखूँगा।'

'मैं घी... मण, तेल... मण, नमक... मण/गुण, शक्कर... मण से ज्यादा नहीं रखूँगा।'

इन वस्तुओं के अलावा घर में उपयोगी वस्तु रखूँगा।

आपको जितना रखना हो उतना रख सकते हैं! है कोई तकलीफ की बात? सरल है न यह अणुव्रत? परिग्रह की मर्यादा अपेक्षित है। परंतु आपकी दृष्टि 'अपरिग्रह'-धर्म की ओर होनी चाहिए। 'परिग्रह पाप है-' यह बात याद रहनी चाहिये।

परिग्रह की अनर्थकारिता :

'परिग्रह' नाम का यह ग्रह राहु, केतु और शनि से भी ज्यादा खतरनाक ग्रह

है! इस ग्रह ने तीनों भुवन को अपने प्रभाव से प्रभावित किया है। इसके प्रभाव को नष्ट करने के लिये यह अणुव्रत लेना अति आवश्यक है, हालाँकि अणुव्रत से पूर्णतया परिग्रह का प्रभाव नष्ट नहीं होता है, पूर्णतया तो महाव्रत से ही नष्ट होता है। परंतु प्रारंभ अणुव्रत से करना चाहिये।

यदि आप आत्मशान्ति... प्रशमभाव को बनाये रखना चाहते हैं, तो आपको परिग्रह कम करना ही होगा। चल-अचल संपत्ति का ममत्व हृदय में भरकर क्या आप शान्ति पाने की आशा रखते हो? प्रशमभाव बनाये रखने की आशा रखते हो? परिग्रह का ममत्त्व शान्ति का शत्रु है! अपरिग्रही मनुष्य ही आत्मशांति का अनुभव कर सकता है।

क्या आप धैर्य... धीरता को जीवन में आवश्यक मानते हो? यदि आपको परिग्रह प्यारा है तो अधीरता ही रहनेवाली है। परिग्रही मनुष्य कभी धीर नहीं रह सकता है। अधीरता मनुष्य को बिना सोचे-समझे कार्य करवाती है। उसका परिणाम दुःख और संकट होता है। परिग्रह के साथ अधीरता की घनिष्ठ दोस्ती है!

परिग्रही मनुष्य पर मोह का साम्राज्य होता है, व्यामोह का वर्चस्व होता है। परिग्रही मनुष्य कभी भी मोहविजेता नहीं बन सकता। परिग्रह विश्रामगृह है मोह का! ममता... आसक्ति... मूर्च्छा... सभी मोह के ही पर्याय हैं। धनसंपत्ति, स्नेही-स्वजन... वगैरह का परिग्रह क्या मनुष्य को मोह-भ्रमित नहीं करता है? करता ही है। परिणाम क्या आता है, जानते हो न? यहाँ अशान्ति और परलोक में दुर्गति!

चौथी बात बड़ी गंभीर है। आप लोगों को शायद नहीं जँचेगी! फिर भी बताता हूँ! परिग्रह में से सभी पाप पैदा होते हैं! यानी पापों की जन्मभूमि है परिग्रह! परिग्रह के कारण मनुष्य हिंसा करता है, असत्य बोलता है, चोरी करता है, क्रोध करता है, माया-कपट करता है, अभिमान करता है... ईर्ष्या और निन्दा करता है। और, ये सारे पाप मनुष्य की उन्नति करते हैं या अवनति? ये पाप मनुष्य को सुखी बनाते हैं या दुःखी? सोचो, शान्ति से सोचो। परिग्रह बढ़ाने के लिये दिन-रात दौड़-धूप करते हो, परिग्रह बढ़ने पर बहुत खुश होते हो... परंतु अब थोड़ा सा रुक जाओ और गंभीरता से परिग्रह के परिणामों का विचार करो। विचार करोगे तो परिग्रह की मर्यादा बाँधने की इच्छा पैदा होगी। अपरिग्रही बनने की भावना पैदा होगी।

पापों के परिणाम भले आनेवाले जन्मों में भोगने पड़े, परंतु इस जीवन में आपत्तियाँ तो आयेंगी ही! परिग्रह के आसपास आपत्तियों की डाकिनियाँ भटकती रहती हैं। इसलिये तो परिग्रही लोगों को शान्ति से नींद नहीं आती है। नींद में भी

भयभीत होकर जाग जाते हैं... चिल्लाते हैं... खड़े होकर दौड़ने लगते हैं! कभी चोरी हो जाती है, कभी सरकार के अफसर परेशान करते हैं, कभी स्नेही-स्वजन तंग कर देते हैं! कभी मौत भी आ जाती है। परिग्रह की वजह से ये सारी आपत्तियाँ आती हैं, दुनिया में दिखता भी है, परंतु मोहासक्त जीव परिग्रह की ममता नहीं छोड़ता है-तो इससे बड़ी दुःखदायी बात क्या हो सकती है?

आपत्ति आयी न हो, आपत्ति आने की कल्पना भी कैसा दुर्ध्यान करवाती है? परिग्रही मनुष्य प्रायः दुर्ध्यान में ही जीता है। धन-संपत्ति... वगैरह पाने की इच्छा दुर्ध्यान है, उसकी रक्षा के विचार दुर्ध्यान हैं, चले जाने का भय भी दुर्ध्यान है! और दुर्ध्यान से कैसे पापकर्म बंधते हैं-जानते हो न? ये कर्म नरक में ले जा सकते हैं जीवों को। ठीक है, नरक में तो जब जाना होगा तब जायेंगे, इस जीवन में भी दुर्ध्यान से... तीव्र आर्तध्यान और रौद्रध्यान से मन क्षुब्ध बनता है। इससे मानसिक रोग होते हैं और पागलपन भी आ सकता है।

मन की विक्षिप्तता से सारा जीवन व्यवहार बिगड़ जाता है। घर के लोग विमुख हो जाते हैं। विक्षिप्त मनवालें का घर में, समाज में, नगर में कोई मूल्य नहीं रहता है। जब मनुष्य को लगता है कि 'मेरा घर में... स्नेही-स्वजनों में कोई मूल्य नहीं है,' तब वह बहुत दुःखी होता है। धन के भंडार भरे हों, अनाप-शनाप संपत्ति हो, फिर भी परिग्रही मनुष्य दुःखी रहता है। क्या करना ऐसे धनभंडार का? क्यों ऐसी मूर्च्छा-ममता करना परिग्रह की? सुखचैन से जीने न दे, वैसे धनभंडार अभिशप्त होते हैं। वैसी धन-दौलत रखने की नहीं होती है।

परिग्रह के इतने ही अनर्थ नहीं हैं, जितना परिग्रह ज्यादा उतना ही अभिमान ज्यादा! अपार धन-संपत्ति ही और अभिमान नहीं हो-वैसे तो कोई विरल व्यक्ति ही मिल सकते हैं। हाँ, जो धनवान अपनी संपत्ति को छिपाकर रखना चाहते हैं, वे अभिमान नहीं करते हैं। परंतु ऐसे लोगों का धन चला जाता है, नष्ट हो जाता है तब वे गहरे शोकसागर में डूब जाते हैं। अरे, सब धन नहीं, थोड़ा धन भी चला जाता है तो वे रोते रहते हैं। शोक-संताप और रुदन का मुख्य कारण यह परिग्रह है। परिग्रह कम करते चलो, यदि है तो! नहीं है परिग्रह, तो उसकी कामना-अभिलाषा छोड़ दो।

बहुत बड़े श्रीमंतों को, धनवानों को, परिग्रहियों को देखकर ऐसा मत सोचो कि-'ये लोग पुण्यशाली हैं, हम कंगाल हैं...।' परंतु ऐसा सोचो कि 'ये लोग कितने अशान्त, बेचैन और अधीर हैं... हम सुखी हैं...।'

और एक महत्त्व की बात कहता हूँ। जितने झगड़े श्रीमंतों के घरों में होते हैं, उतने दूसरे के घरों में नहीं होते। हाँ, श्रीमंत हो परंतु ममत्त्वरहित हो, उसकी बात

दूसरी है। ममत्व-मूर्च्छा से ग्रस्त मनुष्य की बात है। वे क्लेशों से संतप्त रहते हैं।

मम्मण सेठ की मिनी आवृत्ति :

धन-संपत्ति की ममता-आसक्ति कैसी भयानक है, यह बात क्या आपको ज्यादा समझाने की आवश्यकता है? सम्राट् श्रेणिक के समय के मम्मण सेठ की कहानी तो आप लोगों ने कई बार सुनी होगी। परिग्रह के कारण, धन-संपत्ति के व्यामोह के कारण वह मर कर नरक में गया!

अभी-अभी **जापान** की एक घटना पढ़ने में आयी। **'सिगीयूकीयूझु'** नाम का एक फैक्टरी का वर्कर [कामदार] ६२ वर्ष की उम्र में मर गया। दूसरे विश्वयुद्ध में यूझु सैनिक था। बाद में वह दक्षिण जापान के **'नोबेका'** सीटी में रहता था। एक छोटे से साधारण घर में वह अकेला रहता था। उसने शादी नहीं की थी। वह मर गया, बाद में पुलिस ने जाँच की। वह हमेशा अपने घर में ही एक ब्रेड खाता था! बैंक में उसके २,३०,००० डालर थे और घर में ७०,००० कैश थे, जो कि पैक कवरों में पड़े हुए थे! वह किसी के साथ ब्रेड नहीं खाता था, चूंकि साथ में खाये तो दूसरों को खिलाना पड़े न! और, मात्र ब्रेड ही खाता था! है न मम्मण सेठ की मिनी आवृत्ति!

वैसे बंबई महालक्ष्मी के मंदिर के आगे बहुत से भिखारी बैठते हैं। कुछ वर्ष पहले एक भिखारी मर गया। जिस गंदी गुदड़ी पर वह बैठता था, उस गुदड़ी में से ७५ हजार के करंसी नोट्स निकले थे! कहिए दुनिया में कैसे-कैसे परिग्रही लोग होते हैं! ७५ हजार के नोटों पर बैठकर भीख माँगने में उसको मजा आता होगा!

'मेरे पास तीन लाख डालर हैं!' वह रीटायर्ड सैनिक ऐसा ही सोचकर खुश होता होगा न! न दान दिया, न भोग किया... अंत में वह मर गया... डालर वैसे ही पड़े रह गये! परिग्रह की वासना उस जीव को किस गति में ले गयी होगी, कल्पना करना!

सोना, चांदी, घर, दुकान, रुपये, गाड़ी-घोड़े, नौकर... वगैरह बढ़ाने के विचार छोड़ने हैं, घटाने के विचार करने हैं। जँचती है बात? अंतःकरण की शान्ति... प्रसन्नता पानी है तो बाह्य परिग्रह और आंतरिक आसक्ति का त्याग करना ही होगा। इसलिए यह अणुव्रत बताया गया है।

पाँच अतिचार :

पाँचवाँ अणुव्रत ग्रहण करने के बाद अतिचारों से बचना आवश्यक होता है। पाँच प्रकार के अतिचार बताये गये हैं। आज के संदर्भ में अतिचारों को समझना पड़ेगा। अतिचार इस प्रकार हैं -

'क्षेत्र-वास्तु-हिरण्य सुवर्ण-धनधान्य-दासीदास-कुप्यप्रमाणातिक्रमाः ॥'

पहला अतिचार : खेत, घर, दुकान इत्यादि की जो संख्या नियत की हो, उससे ज्यादा करना और छोटे को बड़ा बनाना।

दूसरा अतिचार : सोना-चांदी मर्यादा से ज्यादा बढ़ जाने पर पुत्र, भाई, पत्नी वगैरह को देना।

तीसरा अतिचार : धन-धान्य का जो परिमाण किया हो, उससे ज्यादा रखना।

चौथा अतिचार : नौकर-नौकरानी एवं पशुओं की संख्या बढ़ जाने पर उसका त्याग नहीं करना।

पाँचवाँ अतिचार : आसन, पलंग, टेबल-कुर्सी... आदि घरेलू सामान की मर्यादा से बढ़ जाने पर उसका त्याग नहीं करना।

भावोल्लास घटने से अतिचार :

इस प्रकार के अतिचार लगने का कारण होता है, भावोल्लास का घटना। व्रत ग्रहण करते समय, साधुपुरुष के उपदेश से भावोल्लास बढ़ते हैं। बढ़ते हुए भाव के समय मनुष्य व्रत-प्रतिज्ञा ले लेता है। बाद में जब भावोल्लास घटता है, तब व्रत का अतिक्रमण करने के लिये तत्पर हो जाता है। पाप का भय होने से, व्रतभंग करने से हिचकिचाता है, परंतु व्रतभंग न हो, और इच्छा पूर्ण हो, वैसा मार्ग निकालता है और व्रत को दूषित करता है। कैसे करता है, यह कुछ उदाहरणों से समझाता हूँ।

किसी ने एक खेत और एक घर का परिग्रह परिमाण किया। भाव गिरने पर उसकी इच्छा दो खेत और दो घर रखने की हुई। यदि ऐसा करता है तो व्रतभंग ही होता है। वह व्रतभंग करना नहीं चाहता है। व्रत बनाये रखना है और इच्छापूर्ति भी करनी है! वह अक्लमंदी से काम करता है। जो उसका खेत हो, उसके पासवाला खेत ले लेता है और बीच में से बाड़ [बाउन्ड्रीवाल] निकाल देता है। दो खेत का एक खेत बना देता है! व्रतभंग होता नहीं है और खेत बढ़ाने की इच्छा पूर्ण हो जाती है! परंतु अतिचार तो लग ही जाता है!

वैसे घर के पास दूसरा घर लेता है, बीच में से भित्ती निकाल देता है... दो घर को एक बड़ा घर बना देता है। व्रतभंग होता नहीं और घर बढ़ाने की इच्छा पूर्ण हो जाती है। परंतु अतिचार लगता ही है।

वैसे, किसी अणुव्रतधारी ने 'मुझे एक हजार ग्राम सोना ही रखना है।' इस प्रकार परिग्रहपरिमाण किया। बाद में ससुराल से या दूसरी जगह से ज्यादा सोना आ गया! रखने की इच्छा हो गई। यदि रखता है तो व्रतभंग होता है! यह सोचकर उपाय

ढूँढ़ निकालता है। वह सोना दूसरे किसी मित्र को सौंपता है। अपने मन में सोचता है कि : 'मेरा परिग्रहपरिमाण व्रत चार महीने का है अथवा सात महीने का है, बाद में मैं मित्र से सोना वापस ले लूँगा।' मन में उसने उस सोने को अपना मान लिया, इस अपेक्षा से व्रतभंग होता है, परंतु व्रत सापेक्ष रहते हुए उसने अपने पास नहीं रखा सोना, इसलिये व्रतभंग नहीं होता है। इस प्रकार भंगाभंग रूप अतिचार लगता है।

इसी प्रकार व्रतधारी ने धन-धान्य का प्रमाण निश्चित कर दिया हो, और बाद में बढ़ गया धन-धान्य! त्याग नहीं करना है, रखने की इच्छा हो गई! व्रतभंग नहीं हो और धन-धान्य भी पास में रहे-वैसी युक्ति करता है! उस धन-धान्य देनेवाले को कहता है : 'चार महीने के बाद मेरे घर में जो धन-धान्य है वह बिक जायेगा, उसके बाद, आप जो देनेवाले हो वह धन-धान्य ले जाऊँगा।' इस प्रकार चार महीने के बाद लेने का बंधन स्वीकार कर लेता है। उसका व्रत चार महीने का है, इसलिए व्रतभंग नहीं होता है, परंतु मन से उसने ले लिया और लेने का वादा कर दिया, इसलिये अतिचार लगता है। व्रतसापेक्षता की वजह से व्रतभंग नहीं माना गया है।

दास-दासी और पशु-पक्षी को लेकर व्रत लिया है कि 'इतने ही दास-दासी और पशु-गाय-भैंस रखूँगा।' यह मर्यादा मान लो कि चार महीने की बाँधी है, अब उसी मर्यादाकाल में गर्भाधान का विचार करता है तो अतिचार लगता है। उस अवधिकाल में दासी पुत्र-पुत्री को जन्म देती है, गाय बछड़े को जन्म देती है... तो संख्या बढ़ जाती है, संख्या बढ़ने से व्रतभंग होता है! इस दृष्टि से वह इस प्रकार गर्भाधान करवाता है कि व्रत की अवधि के बाद ही वे द्विपद या चतुष्पद जीव जन्म दे सकें। परंतु जीव गर्भ में आने से, निर्धारित संख्या से संख्या बढ़ जाती है... बस, मात्र जन्म नहीं होता है, इतना ही! व्रतसापेक्षता के कारण अतिचार लगता है।

'कुप्यम्' में भी पर्यायान्तर करने से अतिचार लगता है। गृहोपयोगी आसन, पलंग, बरतन वगैरह का जो परिमाण किया हो, उसकी संख्या बढ़ने न पाये इसलिये दो आसन का एक आसन कर दे! दो थाली की एक बड़ी थाली बना दे। 'मैंने संख्या की मर्यादा की है... वस्तु को छोटी-बड़ी तो कर सकता हूँ। इस प्रकार व्रतसापेक्ष रहकर वस्तु का पर्याय-अवस्था बदलता है इसलिये अतिचार कहा जाता है।

अथवा बरतनवाले को बोल दे कि 'चार महीने के बाद मैं ये बरतन ले जाऊँगा, और किसी को मत देना।'

इस प्रकार वह रखता नहीं है, परंतु रखवाता है। इसलिये व्रतभंग नहीं होता, परंतु अतिचार लगता है।

लेकिन ये सारे अतिचार तो तभी संभव हैं कि जब अणुव्रत कुछ महीने के

लिये या कुछ वर्ष के लिये लिया हो! आजीवन अणुव्रत लिया हो तो? ज्यादातर व्रतभंग का ही संभव रहता है! हाँ, दृढ़ता के साथ मर्यादापालन करे, तब तो अच्छी तरह व्रतपालन हो सकता है। परंतु अध्यवसायों की चंचलता अच्छी तरह व्रतपालन करने नहीं देती है। यदि मन चंचल हो तो 'परिग्रहपरिमाण' व्रत कुछ महीने या कुछ वर्ष के लिये लेते रहना चाहिए।

स्थूल परिग्रह नौ प्रकार का :

इस प्रकार संक्षेप में पाँच अतिचार बताये। अब स्थूल रूप से परिग्रह के जो नौ प्रकार बताये हैं-वह बताता हूँ।

१. धन, २. धान्य, ३. क्षेत्र, ४. वास्तु, ५. चांदी, ६. सोना, ७. चतुष्पद प्राणी, ८. द्विपद जीव, और ९. कुप्य।

पाँच अतिचारों में इन नव वस्तुओं का समावेश हो ही जाता है। दूसरे व्रतों के अतिचार भी पाँच-पाँच बताये गये हैं इसलिये इस व्रत के भी पाँच अतिचार बताये हैं।

परिग्रहपरिमाण का प्रयोजन :

अतिचारों से तभी बच सकोगे जब व्रतों का महत्त्व, व्रतों का प्रयोजन समझोगे। 'कम से कम आवश्यकता-' जीवन का यह सूत्र होगा तो 'परिग्रह परिमाण' करने में मजा आयेगा। और, बाह्य परिग्रह के साथ आंतर परिग्रह को कम करने का सदैव खयाल रखना चाहिये। आंतर परिग्रह है मूर्च्छा और ममत्त्व, आसक्ति और अनुरक्ति। आंतर परिग्रह से मुक्ति पाने के लिये बाह्य परिग्रह का परिमाण करना आवश्यक है।

ज्ञानी पुरुषों ने कहा है कि ममत्त्व का भार, सभी प्रकार के भारों से ज्यादा है। ममत्त्व ही परिग्रह है। 'मुच्छा परिग्गहो वुत्तो।' ऐसा श्री जिनवचन है। एक वस्तु का भी ममत्त्व जीव को डूबो देता है। भारी वस्तु जल्दी डूबती है। हल्की वस्तु ऊपर जाती है! ऊपर जाना है तो भार कम करना ही पड़ेगा। ममत्त्व का भार कम करना पड़ेगा। ममत्त्व से थोड़ा सा भी मुक्त जीव उर्ध्वगति-देवगति पाता है। संपूर्णतया ममत्व से मुक्त बनते ही जीवात्मा वीतराग बन, मोक्ष पा लेता है।

जो चक्रवर्ती राजा राज्य का त्याग कर साधु बनता है, वह देवगति या मोक्ष पाता है और जो राज्य का त्याग नहीं करता है, राज्य के ममत्त्व के साथ मरता है तो नरक में जाता है! इस बात से आप समझ सकते हैं कि आंतर परिग्रह की क्या शक्ति है! परिग्रह परिमाण व्रत का प्रयोजन यही है : आंतर परिग्रह से मुक्त होकर उर्ध्वगति प्राप्त करना।

परिग्रहपरिमाण से इच्छानिरोध :

जिस समय मन स्वस्थ और विवेकी हो, उस समय सोच-विचार कर; परिग्रह परिमाण निश्चित कर, प्रतिज्ञा से मन को बाँध लेना चाहिए। चूँकि मन सदैव स्वस्थ और विवेकी नहीं रहता है। एक बार वह प्रतिज्ञा से बंध जाता है, बाद में मन ज्यादा चंचल नहीं बन सकता। भौतिक सुखों की नयी-नयी इच्छायें तो पैदा होती रहती हैं! उन इच्छाओं का व्रत से निरोध होता है। और, इच्छानिरोध एक प्रकार का बड़ा तप है। इस तप से पापकर्मों की निर्जरा होती है।

आज इस काल में भी ऐसे श्रावक हैं, जिन्होंने २५ वर्ष पूर्व पाँच लाख रुपये का परिग्रहपरिमाण किया था। उनके पास पाँच लाख हो गये! बाद में कमाने के चान्स मिले, परंतु नहीं कमाये। मंहगाई बढ़ने पर भी उन्होंने कोई गली नही निकाली व्रत में।

एक श्रावक को मैं जानता हूँ। पाँच लाख रुपये की उनको मर्यादा है। परिग्रहपरिमाण व्रत जब लिया था तब वे नौकरी करते थे। बाद में पुण्योदय से बड़े व्यापारी बने... पाँच लाख कमा लिये। पांच लाख कमाने के बाद जब जब ज्यादा कमाये, उन्होंने वे रुपये धर्मकार्य में खर्च कर दिये! कभी पैदल संघ निकाला, कभी मंदिर में प्रतिष्ठा करवाकर दो लाख खर्च कर दिये... कभी अनुकंपा के-जीवदया के कार्यों में तीन-चार लाख रुपये खर्च कर दिये। परंतु उन्होंने पाँच लाख के ऊपर एक रुपया भी अपने लिये नहीं रखा!

संग्रहवृत्ति नष्ट होती है इस व्रत से। परोपकार के अनेक कार्य सरलता से हो जाते हैं इस व्रत से।

सभा में से : आज-कल हम लोग पाँच लाख की मर्यादा नहीं कर सकते!

महाराजश्री : पचास लाख की मर्यादा करनी है? कर लो खड़े हो कर! है तैयारी? परंतु पचास लाख कमाने के बाद जो दस-बीस लाख कमाओगे, तब वे रुपये शुभकार्यों में, धर्मकार्यों में खर्च करने को तैयार होगे न? पूछ लो अपने मन को। लिये हुए व्रत पर अडिग रहना सरल नहीं है! व्यापार है, अचानक दस लाख रुपये बढ़ गये! वे दस लाख शुभ कार्य में खर्च करने को मन मानेगा? परिग्रहवृत्ति प्रबल होगी तो नहीं कर सकोगे!

सभा में से : भाई अथवा पत्नी के नाम पर कर देते हैं।

महाराजश्री : अब सच बोले! पत्नी के नाम पर या पुत्र के नाम पर कर देने में तकलीफ नहीं होती है न। मालिक तो आप ही रहते हो न? जैसे इन्कमटैक्स बचाने

के लिये कितनी फाईलें बनाते हो? पत्नी की फाईल, दो या तीन पुत्र हैं, तो उन सबकी फाईलें! माता-पिता हैं तो उनकी फाईलें! ताकि आपको टैक्स ज्यादा नहीं भरना पड़े! बाकी, सब फाईलों के मालिक आप ही होते हो न? वैसे मर्यादा से ज्यादा रुपये भले पत्नी के नाम कर, व्रतभंग से बचो, परंतु अतिचार तो लगते ही हैं।

परिग्रहपरिमाण व्रत का निष्ठा से पालन करनेवालों को सुकृत-अच्छे कार्य करने में बड़ी सरलता रहती है, यदि पुण्यकर्म का उदय हो जाय तो! इतिहास प्रसिद्ध मांडवगढ़ के महामंत्री पेथड शाह क्यों इतने सारे सत्कार्य कर पाये थे? अनेक मंदिरों का निर्माण करवाया था, अनेक सदाव्रत खोल दिये थे, किसी साधर्मिक को बिना घर का और बिना दुकान का नहीं रखा था! चूँकि पाँच लाख रुपये की इनकी मर्यादा थी। उससे ज्यादा जो भी धन मिलता था... शुभ कार्यों में खर्च कर देते थे। 'पाँच लाख रुपये ही मेरे हैं, उससे अधिक रुपये मेरे नहीं हैं... सुकृत के लिये हैं...।' ऐसी समझदारी के बिना रुपये छूट नहीं सकते। इससे आगे, सम्यग्दृष्टि श्रावक मर्यादा में रखे हुए रुपयों को भी अपना नहीं मानता है! धन को धूल के बराबर मानता है।

उपसंहार :

अंत में मुझे इतना ही कहना है कि आपकी इच्छानुसार परिग्रह का परिमाण करें। सोच कर करें। यावज्जीव के लिये नहीं करना हो तो एक-दो वर्ष के लिये करें। चार-आठ महीनों के लिये करें। परंतु अवश्य करना चाहिये।

नौ प्रकार के परिग्रह का ममत्त्व कम करना है। आसक्ति को तोड़ना है। आसक्ति टूटने से आत्मा का भारीपन कम होगा, आत्मा हल्की बनेगी और उर्ध्वगति करेगी।

आवश्यकताएँ कम होने पर और ममत्त्व टूटने पर आत्मा अपूर्व आंतर प्रसन्नता अनुभव करेगी। सुख और शान्ति का आस्वाद करेगी। मनुष्यजीवन जीने का अपूर्व आनन्द प्राप्त होगा। इसलिये यह 'परिग्रहपरिमाण' व्रत लेकर जीवन सफल करें-यही मंगल कामना।

आज बस, इतना ही।

प्रवचन-१६

परम कृपानिधि महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरीश्वरजी स्वरचित 'धर्मबिन्दु' ग्रंथ के तीसरे अध्याय में गृहस्थ जीवन का विशेष धर्म बता रहे हैं। यह विशेष धर्म है, सम्यक्त्वमूलक बारह व्रतों का।

पाँच अणुव्रतों का विवेचन पूर्ण हुआ, अब गुणव्रतों का विवेचन शुरु करेंगे। गुणों की वृद्धि करनेवाले हैं गुणव्रत। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, सदाचार और अपरिग्रह-ये हैं मूलभूत गुण। इन गुणों की रक्षा और वृद्धि के लिए तीन व्रत बताये हैं : १. दिशापरिमाण, २. भोगोपभोग परिमाण, और ३. अनर्थदंड विरमण।

पहला गुणव्रत : दिशापरिमाण :

तीन गुणव्रतों में पहला गुणव्रत है दिशापरिमाण! अहिंसा वगैरह गुणों की रक्षा और वृद्धि करना है तो भटकना कम करना होगा और एक दिन संपूर्णतया परिभ्रमण बंद करना होगा! चारों दिशाओं में और ऊपर-नीचे भटकना बंद करना होगा। ज्यादा भटकने से ज्यादा मोहासक्ति बढ़ती है। राग-द्वेष बढ़ते हैं। हिंसा वगैरह पाप बढ़ते हैं।

आप सोचते होंगे कि महाराजसाहब आज कैसी बात कह रहे हैं...? बात बुद्धिग्राह्य नहीं लगती है! दुनिया में घूमने-फिरने से क्या आसक्ति बढ़ती है? राग-द्वेष बढ़ते हैं? पाप बढ़ते हैं? सोचते हो न ऐसी बातें? आप सोचेंगे ही, चूँकि आपके लिए यह बात नयी है!

अर्थहीन परिभ्रमण से मोहासक्ति बढ़ती है :

परिभ्रमण से संसार है, स्थिरता से मुक्ति है। तीर्थंकर भगवंत हमें मुक्ति की ओर ले जाना चाहते हैं, यानी स्थिरता की ओर ले जाना चाहते हैं। मुक्ति स्थिरतारूप है। मुक्तदशा में आत्मा के असंख्य प्रदेश स्थिर होते हैं। एक भी आत्मप्रदेश अस्थिर नहीं... चंचल नहीं। सदाकाल के लिये। कभी भी वहाँ अस्थिरता आती नहीं है!

वहाँ स्थिरता है इसलिए वहाँ शाश्वत् आनंद है, शाश्वत् सुख है। इसलिए मुक्ति-मोक्ष-निर्वाण की कामना रखनेवालों का लक्ष्य स्थिर होना अनिवार्य है। पूर्ण स्थिरता की ओर प्रगति करने के लिए परिभ्रमण वर्ज्य मानना चाहिए। अर्थहीन

परिभ्रमण का त्याग करना चाहिए। इस उद्देश्य से यह प्रथम गुणव्रत-दिशापरिमाण का बताया गया है। उर्ध्व, अधो और तिर्यक् जाने-आने का परिमाण करने का कहा गया है।

मात्र घूमने-घामने के लिए अथवा उत्सुकता-कुतूहल से प्रेरित होकर परिभ्रमण करने से स्थानों के प्रति मोह बढ़ता है, व्यक्तियों के प्रति और वस्तुओं के प्रति मोह बढ़ता है। यह मोहासक्ति, मुक्ति को-मोक्ष को भुला सकती है। मोक्षमार्ग की आराधना में द्रव्यासक्ति और क्षेत्रासक्ति बाधक बनती ही है। इस दृष्टि से चारों दिशाओं में और ऊपर-नीचे आने-जाने की मर्यादा करने का यह व्रत बताया गया है। वैसे, जो मनुष्य परिभ्रमणशील होता है, दुनिया को देखने-जानने की उत्सुकतावाला होता है, उसमें राग-द्वेष की प्रायः प्रबलता होगी। 'यह अच्छा, वह बुरा, यह श्रेष्ठ, वह कनिष्ठ...' ऐसी असंख्य कल्पनाओं से उसका मन भरा हुआ होता है। ऐसे मन में मोक्ष की कल्पना कैसे रह सकती है? जिस मन में द्रव्यासक्ति और क्षेत्रासक्ति होती है, उस मन में मोक्ष के विचार कैसे रह सकते हैं? मोक्षमार्ग के विचार और तत्त्वज्ञान की रमणता कैसे रह सकती है? इसलिये परिभ्रमण परिमित करने का है।

यह व्रत लेने का प्रारूप :

दिशापरिमाण व्रत इस प्रकार आप ले सकते हैं :
मैं पूर्व दिशा में... मील (अथवा K.M.) से दूर नहीं जाऊँगा।
मैं दक्षिण दिशा में... मील से दूर नहीं जाऊँगा।
मैं पश्चिम दिशा में... मील से दूर नहीं जाऊँगा।
मैं उत्तर दिशा में... मील से दूर नहीं जाऊँगा।
मैं भूमि के नीचे... मील से ज्यादा नीचे नहीं जाऊँगा।
मैं आकाश में... मील से ज्यादा ऊपर नहीं जाऊँगा।
अथवा-मैं मेरे गाँव की सीमा से बाहर नहीं जाऊँगा।
अथवा-मैं मेरे प्रान्त से बाहर नहीं जाऊँगा,
अथवा-मैं भारत से बाहर नहीं जाऊँगा।

❖ परदेश में... इतने देश में जा सकूँगा।
❖ रेडियो समाचार सुनने की, T.V. पर देखने की, परदेश आदमी भेजने की, तार, टेलिफोन, वायरलेस, अखबार पढ़ना... सुनना वगैरह की छूट रखता हूँ। जयणा रखता हूँ। यानी यह सब करने पर भी मेरा व्रत खंडित नहीं होगा।

इस प्रकार आप व्रत ले सकते हैं।

अतिचारों से सावधान रहें :

व्रत लेने के बाद, व्रत का सुचारु रूप से पालन करने का है। व्रत दूषित न हो, इसलिये जाग्रत रहने का है। कभी भय और कभी लालच से मनुष्य व्रत को दूषित कर देता है, कभी व्रतभंग कर देता है। भय और लालच से, व्रतधारी मनुष्य को बचते रहना चाहिए।

पहले उन अतिचारों की बात करता हूँ कि जो अतिचार व्रत को दूषित करते हैं।

- ❖ चार दिशाओं में जितने-जितने मील अथवा किलोमीटर आपने निश्चित किये हों, उससे ज्यादा दूर नहीं जाना चाहिये। प्रमाद से चले गये तो अतिचार लगेगा।
- ❖ वैसे ऊपर जाने के जितने किलोमीटर आपने निश्चित किये हों, उससे ज्यादा ऊपर चले गये तो व्रत दूषित होगा। जान बूझकर गये तो व्रतभंग ही होगा।
- ❖ नीचे भी मर्यादा से ज्यादा नहीं जाना चाहिए। प्रमाद से चले गये तो अतिचार लगेगा। जानबूझकर गये तो व्रतभंग होगा।
- ❖ एक दिशा के मील लेकर दूसरी दिशा में जोड़ कर, उस दिशा में ज्यादा दूर जाने से व्रत दूषित होगा। जैसे कि आपने पूर्व दिशा में जाने के १०० माइल रखे हैं, आपको जाना है १५० मील । आपने उत्तर दिशा के १०० मील में से ५० मील कम कर पूर्व दिशा में जोड़ दिये! और आप पूर्व दिशा में १५० मील चले गये, तो आपका व्रत दूषित होगा। इस प्रकार क्षेत्रवृद्धि नहीं करनी चाहिए।
- ❖ जिस दिशा में जितने मील जाने की आपने मर्यादा बाँधी हो, उस मर्यादा से बाहर रही हुई वस्तु, दूसरे व्यक्ति को भेजकर मंगवानी नहीं चाहिये और वहाँ कोई वस्तु भेजनी भी नहीं चाहिए। ऐसा समझकर कि : 'प्रतिज्ञा तो मैंने की है न? दूसरे व्यक्ति को भेजकर वस्तु मंगवाता हूँ या भेजता हूँ-इससे मेरा व्रत टूटेगा नहीं।' हाँ, टूटेगा नहीं, परंतु अतिचार तो लगेगा ही। आपने व्रत 'मैं नहीं करुंगा,' इतना ही नहीं लिया है, 'नहीं करवाऊंगा,' वैसा भी लिया है। यानी- 'मैं प्रत्येक दिशा में, ऊपर और नीचे, जो मर्यादा मैंने की है, उससे बाहर नहीं जाऊँगा, उससे बाहर किसी को भेज कर मेरा काम नहीं करवाऊँगा।' इस प्रकार प्रतिज्ञा होती है।

पाँचवाँ अतिचार लगता है स्मृतिनाश से। स्मृतिनाश तीन बातों से होता है : १. अति व्याकुलता से, २. अति प्रमाद से, ३. मंद बुद्धि से।

'मैंने पूर्वदिशा में जाने का १०० मील का परिमाण किया है या २०० मील

का?' याद नहीं आता है! भूल जाता है। ऐसी स्थिति में २०० मील नहीं जाना चाहिये, १०० मील तक ही जाना चाहिए।

प्रवचनसारोद्धार में कहा गया है - **'स्मृतिमूल हि सर्वमनुष्ठानम्'**

सभी धर्मानुष्ठान में स्मृति तो होनी ही चाहिए। इसलिए स्मृतिनाश करनेवाले तीन तत्त्वों से बचते रहें।

अति व्याकुलता, प्रमाद और मंदबुद्धि :

यदि आप व्रतधारी हैं तो आपको व्याकुल नहीं बनना है। कोई कष्ट आ जाय, कोई आपत्ति आ जाय, कोई अनहोनी घटना घट जाय... आपको व्याकुल नहीं होना है। समताभाव में ही रहना है। क्षणिक आकुलता आ जाय, परंतु तुरंत स्वस्थ बन जाना है। याद रखिये कि अति व्याकुलता से स्मृति पर बुरा प्रभाव पड़ता है। याददाश्त कमजोर होती है।

ऐसे व्यक्ति कि जिनके जीवन संघर्षों से भरे होते हैं, जो व्याकुल ही रहते हैं, उनकी स्मृति को कमजोर होते मैंने देखा है। सुबह की बात शाम को भूल जाते हैं। एक घंटे पहले की बात भी याद नहीं रहती है।

इसलिये, जिनको स्मृति-शक्ति को बनाये रखना है, बढ़ाये रखना है, उनको चाहिये कि वे व्याकुल नहीं रहें, प्रसन्नचित्त रहें। चित्तप्रसन्नता स्मृति को बढ़ाने का श्रेष्ठ उपाय है।

परंतु, चित्तप्रसन्नता का अर्थ प्रमाद मत करना! खाना-पीना और मौज-मजा कर सो जाना! यदि सत्कार्य में निरत नहीं रहे और प्रमाद में डूब गये तो भी स्मृति का नाश हो जायेगा। प्रसन्नचित्त से सत्पुरुषार्थ में लगे रहना है। ज्यादा निद्रा नहीं होनी चाहिए, निंदा-विकथा नहीं करनी चाहिए, विषयासक्ति नहीं होनी चाहिए। कषायों की तीव्रता नहीं होनी चाहिए। इन प्रमादों से जो मुक्त होते हैं उनकी स्मृति-शक्ति बनी रहती है।

हाँ, जो मनुष्य जन्म से ही मंदबुद्धि है, उसकी स्मृति कमजोर ही होगी! मंदबुद्धिवाला मनुष्य तभी व्रत ले सकता है, जब उसका कोई निकट का साथी उसको व्रत की स्मृति कराता रहे! व्रतपालन में सहायता करता रहे।

कुछ अपवाद :

व्रतपालन में स्मृति का महत्त्व समझे न? स्मृति का महत्व बताकर ग्रंथकार कुछ विशेष बात करते हैं।

मान लो कि आपने ऊपर ६ मील जाने का परिमाण किया है। आप

सम्मेतशिखर गये हैं। आप पहाड़ के ऊपर ६ मील चढ़े। वहाँ एक बंदर आता है। आपका वस्त्र लेकर किसी ऊँचे वृक्ष पर चढ़ गया। यदि आप वृक्ष पर चढ़ते हैं तो ६ मील से ऊपर हो जाता है। अब क्या करोगे? ज्ञानी पुरूषों ने कहा : 'यदि दूसरा व्यक्ति ऊपर चढ़कर वस्त्र लाता है तो आप ले सकते हैं। अथवा बंदर नीचे पटक देता है वस्त्र, तो भी आप ले सकते हैं।'

वैसे आपने नीचे जाने के २५ सोपान का परिमाण किया है। आपका मूल्यवान् अलंकार कुएँ में गिर जाता है। कुआँ २५ सोपान से ज्यादा गहरा है। आप क्या करेंगे? यदि दूसरा व्यक्ति कुएँ में उतर कर आपका अलंकार ले आता है तो आप ले सकते हैं। परंतु यह अपवाद दिशाओं के विषय में नहीं है। आपके परिमाण से ज्यादा दूर जाकर कोई व्यक्ति आपकी वस्तु ले आता है तो आप नहीं ले सकते हैं।

वैसे, आप भूल से परिमाण से ज्यादा दूर चले गये। वहाँ आपने कुछ धन पाया। बाद में आपको खयाल आया कि मैं मेरे १०० मील के परिमाण से ज्यादा दूर आ गया हूँ। तो आपको वह कमाया हुआ धन छोड़ देना चाहिये। स्मृतिभ्रंश से भी यदि गलती हो जाय तो वापस लौट आना चाहिये।

व्रत का दृढ़ता से पालन करना चाहिये। भय और लालच से प्रेरित होकर व्रतभंग नहीं करना चाहिए।

है न महत्त्वपूर्ण यह व्रत? दुनिया के किसी भी धर्म ने ऐसा व्रत नहीं बताया है! परिभ्रमण का परिमाण बताकर तीर्थंकर भगवंतों ने बहुत गहन बात कह दी है। स्वेच्छा से दौड़ भाग पर रोक लगाने को कहा। स्थिरता की ओर निर्देश किया।

दिशापरिमाण नहीं करने से नुकसान :

परंतु जो लोग इस व्रत का महत्त्व नहीं समझते हैं, वे लोग यह व्रत ग्रहण नहीं करते हैं और कभी आपत्ति में फँस जाते हैं। कुछ वर्ष पूर्व एक महानुभाव ने अपना स्वानुभव सुनाते हुए मुझे कहा था -

एक बार हमारे गाँव में एक महात्मा आये थे। गाँव में हमारा एक ही जैन का घर था। मुनिराज को हमारे दूसरे घर में ठहराये और यथाशक्ति उनकी सेवा की। दूसरे दिन प्रातःकाल वे विहार कर रहे थे, उन्होंने मुझे कहा : 'करमचंद, कुछ व्रत-नियम करना चाहिए।' मैंने कहा : 'महाराज, मेरे से कोई व्रत-नियम होता नहीं है... मुझे क्षमा करें।' उन्होंने कहा : 'ठीक है, आज-आज के लिये दिशापरिमाण व्रत कर लो।' मैंने कहा : 'इस व्रत में क्या करने का होता है?' उन्होंने कहा : 'आज यह गाँव छोड़कर बाहर नहीं जाना!'

मैंने सोचा : 'आज मुझे बाहरगाँव जाना भी नहीं है, और मुनिराज कितने वर्षों के बाद मेरे गाँव में आये हैं तो उनकी बात माननी चाहिए।' मैंने व्रत ले लिया, प्रतिज्ञा कर ली-'आज मैं गाँव के बाहर नहीं जाऊँगा।'

मुनिराज को बिदा देकर घर पर लौटा। सुबह का नास्ता कर लिया, स्नान कर लिया और दुकान जाकर बैठा। उस समय बाहरगाँव के दो आदमी मेरी दुकान पर आये और पूछा : 'सेठ करमचंद आप ही हैं क्या?' मैंने उनको आदर दिया और दुकान में गद्दी पर बिठाया। चाय पिलाकर मैंने पूछा : 'कहिए, यहाँ किस वजह से पधारे हैं?' उन्होंने कहा : 'बात बहुत गंभीर है, बंद कमरे में करने की है।'

दुकान के भीतर दूसरा कमरा था। हम वहाँ जाकर बैठे। दो में से एक पतला शरीरवाला और गौर वर्ण का युवक था। उसने बात का प्रारंभ करते हुए कहा : 'हमारे पास सोना है। हमें बेचना है। बाजार में जो भाव चलता है, उससे आधे भाव में आपको देंगे!'

सस्ते सोने की बात सुनते ही मेरे मुँह में पानी आ गया! परंतु मैंने पूछा : 'आपको मेरा नाम-गाँव किसने बताया?'

'करमचंद सेठ, आपका नाम आपके ही किसी स्नेही ने बताया है। बतानेवाले के पास पैसे नहीं हैं, अन्यथा वही सोना ले लेता। हमें तो Cash-नगद रुपये चाहिये। एक हाथ से सोना और दूसरे हाथ से रुपये!'

'आपके पास कितना सोना है?'

'आप जितना चाहें उतना! रुपये नगद देने होंगे।'

'अभी आपके पास कितना सोना है?'

'सोना हम साथ नहीं रखते हैं। आपको हमारे साथ चलना होगा।'

'कहाँ चलना होगा?'

'नडियाद (गुजरात) स्टेशन उतर जायेंगे, वहाँ से दो मील पैदल जाना होगा। रात्रि के समय काम करना होगा।'

'कल चलेंगे... तो चलेगा क्या?' मैंने पूछा। उस युवक ने कहा : 'नहीं, आज ही चलना होगा। आज रात में ही हमें वहाँ पहुँचना होगा।'

मैंने सोचा कि आज मैंने व्रत लिया है, गाँव छोड़कर बाहर नहीं जाने का और यह आज ही जाने की बात करता है। ऐसा भाग्योदय पहली बार ही आया है जिंदगी में। लाख रुपये का सोना ले लूँ। सोने के भाव बढ़नेवाले हैं... लाखों रुपये कमा लूँगा!'

सभा में से : उस समय क्या भाव चलता था?

महाराजश्री : यह तो सेठ करमचंद को पूछना पड़ेगा, और वे तो ऊपर चले गये हैं कभी के! परंतु यह बात करीबन ५५ साल पहले की है। उस समय तोले का भाव ५० रुपये के आसपास होगा! करमचंद ने शायद उससे भी कम भाव देखे होंगे और भविष्य में भाव बढ़नेवाले हैं-ऐसा भी सोचा होगा।

करमचंद ने मुझे कहा : 'मैं लालच में फँस गया। बार-बार लक्ष्मी सामने चलकर नहीं आती... आयी है तो बधा कर ले लूँ। व्रत का भंग होगा... परंतु बाद में प्रायश्चित्त कर लूँगा।'

सभा में से : इस प्रकार जान-बूझकर व्रतभंग करे और बाद में प्रायश्चित करे - तो चल सकता है?

महाराजश्री : क्या आपको भी करमचंद की लाइन में नाम लिखाना है? यह तो करमचंद के विचार, उसका मनोमंथन बता रहा हूं, शास्त्र का सिद्धान्त नहीं बता रहा हूँ। लोभ-लालच में फँसनेवाला मनुष्य कैसे-कैसे विचार करता है और अपने मन का समाधान करता है, यह बता रहा हूँ।

करमचंद ने कहा : 'मैंने उन दोनों आगन्तुक भाईयों की बात पर विश्वास कर लिया और उनके साथ चलने को तैयार हो गया। परंतु रुपये साथ नहीं लिये! सोचा कि रुपये यहाँ घर पर ही दे दूंगा। उन दोनों भाईयों से बात नहीं की। हम चल दिये। स्टेशन दो मील दूर था। हम चलते चलते-स्टेशन पहुँचे। रास्ते में बहुत सी बातें उन्होंने बतायी। मेरा उन पर विश्वास दृढ़ होता गया। वे मधुरभाषी थे। चतुर थे।

स्टेशन जाकर गाड़ी में बैठ गये। रात में १२ बजे नडियाद स्टेशन पहुँचे। वहाँ से हम जंगल के रास्ते पैदल चल दिये। अब वे दो व्यक्ति बोलते नहीं थे, मौन चल रहे थे। एक मेरे आगे था, एक पीछे। करीबन एक घंटा चलते रहे। एक झोपड़ी आयी। झोपड़ी खाली थी... एक मंद दिया जल रहा था। अंदर एक रास्ता था। एक आदमी ने कहा : 'मेरे पीछे पीछे आना।' सीढ़ी थे। मैं सीढ़ी उतरने लगा, परंतु मेरा मन साशंक बन रहा था। मैं कुछ भय अनुभव कर रहा था। दस-बारह सीढ़ी उतर गये। नीचे एक कमरा था। कमरे की भित्ती पर तलवार, बंदूकें वगैरह शस्त्र लटक रहे थे। कमरे में करीबन १५ डाकू जैसे डरावने लोग बैठे थे। बीच में उनका सरदार बैठा था। मुझे देखकर वह बोला : 'सेठ, सोना लेने आये हो?' मैं बोला नहीं, सर हिलाकर हाँ कह दिया। उसने कहा : 'अच्छा, अच्छा, कितना सोना चाहिये?' मैंने कहा : 'एक लाख रुपये का!' उसकी बड़ी-बड़ी आँखें चौड़ी हो गयी। वह बोला :

'अच्छा है, सोना ले जाना, रुपये लाये हो न?' मैंने कहा : 'नहीं, रुपये साथ नहीं लाया, मेरे गाँव में दे दूंगा। आप जिसको भी भेजेंगे, उसको दे दूँगा।'

वह जोर से चिल्याया : 'अरे शैतानसिंह, क्या तुमने सेठ को रुपये साथ लाने को नहीं कहा था?' शैतान ने मेरे सामने देखा और मौन रहा। सरदार बोला : 'पहले रुपये चाहिये बाद में सोना...।'

मेरे में हिम्मत आ गयी। मैंने कहा : 'आप अपने आदमी को मेरे साथ अहमदाबाद भेजो, मैं उसको वहाँ से रुपये दिलवाता हूँ... वह मुझे वहाँ सोना दे देगा!' मैंने इतनी सहजता से यह प्रस्ताव रख दिया... कि सरदार को विश्वास हो गया। मैं मेरे मन में मेरे इष्ट देवता को याद करता रहा और उस मुनिराज को याद कर मन से क्षमा माँगता रहा... व्रतभंग किया था जो!

क्षणभर तो मुझे लगा कि- 'यहाँ से जिंदा नहीं निकल सकता। यह भयानक डाकूओं का डेरा है। परंतु इष्टदेवता की कृपा से सरदार को मेरी बात पर विश्वास हो गया और एक डाकू को मेरे साथ भेज दिया। जब हम नडियाद स्टेशन पर आये तब मेरी आँखों पर बंधी हुयी पट्टी खोली गई। जाते समय भी स्टेशन से ही मेरी आँखों पर पट्टी बाँधी गयी थी!

हम दोनों अहमदाबाद पहुँचे। सुबह का समय था। मैंने उस डाकू को कहा : 'अपन माणकचौक जायेंगे। वहाँ मैं रुपये दे दूँगा।' हम माणकचौक की ओर चले। 'अब इस डाकू से कैसे पिंड छुड़वाना...' यही विचार मेरे मन में चल रहा था। इष्टदेवता का स्मरण भी कर लेता था। माणकचौक आ गया। लोगों की भीड़ थी। मैंने डाकू से कहा : 'तुम यहाँ खड़े रहो... मैं निपटकर आता हूँ...।' मैं सार्वजनिक शौचालय में घुस गया। दूसरे रास्ते से बाहर निकल कर एक पोल में घुस गया। अहमदाबाद की पोलें ऐसी होती हैं कि पुलिस भी वहाँ आदमी को खोज नहीं सकती है। मैं बच गया। तीन दिन अहमदाबाद में रहकर, मेरे गाँव पहुँच गया।' मैंने पूछा : 'क्या वे लोग पुनः तुम्हारे गांव में नहीं आये!' उसने कहा : 'नहीं आये, आते तो मैं सावधान था उनसे निपटने के लिये। परंतु मुझे बार-बार वे मुनिराज याद आते रहे। मुझे बचाने के लिये ही उस दिन गाँव से बाहर नहीं जाने का 'दिशापरिमाण व्रत' उन्होंने मुझे दिया होगा।'

दिशापरिमाण व्रत में दृढ़ रहें :

करमचंद की बात सुनी न? यह घटी हुई घटना है। यह व्रत बड़ा महत्वपूर्ण है। एक व्रतधारी ने मुझे बताया था कि एक दिन उसने गाँव के बाहर नहीं जाने का

व्रत लिया था। लोभ-लालच के प्रसंग आने पर भी वह गाँव के बाहर नहीं गया। शाम को एक अनजान सा व्यक्ति आता है। उस भाई का नाम पूछता है। वह आगंतुक का स्वागत करता है और कहता है : 'आपके पिताजी से मेरे पिताजी ने पाँच हजार रुपये लिये थे। मेरे पिताजी की नोट में मैंने पढ़ा। मैं अमेरिका रहता हूँ। मैंने पैसे कमाये हैं। मैंने सोचा कि पिताजी का कर्जा भी मैं चुका दूँ। आज रात को ही मुझे प्लेन से विदेश जाना है। आप आज यहाँ मिल गये, अच्छा हुआ। ब्याज सहित ये २० हजार रुपये ले लीजिये।' उसने २० हजार रुपये सामने रख दिये। उस व्रतधारी ने मुझे कहा : 'मैं तो आश्चर्यचकित हो गया! यदि मैं उस दिन वहाँ नहीं होता तो? रुपये नहीं मिलते, यह बात तो गौण है, परंतु ऐसे पितृभक्त ईमानदार मनुष्य से मिलना नहीं होता! मैंने ब्याज नहीं लिया, मात्र पाँच हजार रुपये ही लिये और वे रुपये पिताजी की स्मृति में एक हॉस्पिटल में दे दिये।'

है न यह भी एक सुखद अनुभव? ऐसे तो अनेक व्रतधारी लोगों के अनुभव प्राप्त हो सकते हैं।

महत्त्व की बात है संसारपरिभ्रमण घटाने की। इस व्रत से संसारपरिभ्रमण घटता है। क्रमशः स्थिरता का अभ्यास दृढ़ होता जाता है।

'मुझे आत्मभाव में स्थिरता पाना है। मुझे स्व-भाव में स्थिर होना है। अब मुझे विभाव-दशा में परिभ्रमण नहीं करना है। अनंत काल से मैं संसार में विभावदशा में भटकता रहा हूँ। परिणाम दुःख, क्लेश और संताप में ही आया है। अब इस जन्म में उस गलती को दोहराना नहीं है। दस दिशाओं में भटक-भटक कर अब दुःखी नहीं होना है।'

ऐसा चिंतन आत्मसाक्षी से करना होगा। और इस शुभ विचार को कायम बनाये रखने के लिये यह दिशापरिमाण व्रत लेना होगा। ज्ञानदृष्टि खुल जाने पर व्रत का सरलता से पालन हो सकेगा।

आप सबकी ज्ञानदृष्टि खुले, आप व्रतधारी बनें और परम सुख की ओर अग्रसर बनें-यही मंगलकामना।

महान श्रुतधर परम कृपानिधि आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी स्वरचित 'धर्मबिन्दु' ग्रंथ में श्रावक जीवन का विशेष धर्म बता रहे हैं। बारह व्रतमय विशेष धर्म बताते हुए उन्होंने सर्वप्रथम पाँच 'अणुव्रत' बताये, तत्पश्चात् वे तीन 'गुणव्रत' बता रहे हैं। पहला गुणव्रत **'दिशापरिमाण'** का बताने के बाद दूसरा गुणव्रत **'भोगोपभोग परिमाण व्रत'** बताना है आज!

इस व्रत में दो शब्द हैं : **'भोग'** और **'उपभोग'**। जो वस्तु एक बार ही भोगी जा सकती है वह 'भोग' और जो वस्तु बार-बार भोगी जा सकती है वह 'उपभोग' कहालाती है। भोजन, विलेपन वगैरह वस्तु भोग्य कहलाती है। कपड़े, गहने, स्त्री, मकान वगैरह वस्तु उपभोग्य होती हैं, यानी एक ही वस्तु का पुनः-पुनः उपभोग किया जा सकता है।

दुनिया में भोग्य और उपभोग्य वस्तु अनेक हैं। सभी वस्तुओं का मनुष्य भोग-उपभोग करता भी नहीं है। इसलिए उन वस्तुओं का परिमाण करना चाहिए। भोग-उपभोग की वस्तु निश्चित कर लेनी चाहिए। यह निर्णय कर लेने से, असंख्य वस्तुओं की 'विरति' हो जायेगी। उन वस्तुओं की अपेक्षा टूट जायेगी। जीवन की आवश्यकताएँ मर्यादित हो जाने से जीवन तनावमुक्त बनेगा। इस दृष्टि से यह व्रत बहुत ही उपयोगी व्रत है!

हालाँकि ग्रंथकार ने यहाँ पर मात्र इस व्रत के पाँच अतिचार ही बताये हैं, व्रत के विषय में यहाँ विशेष बातें नहीं बतायी हैं, फिर भी व्रत लेनेवालों को व्रत लेने में सरलता हो जाय इस दृष्टि से मैं यह व्रत विस्तार से बता रहा हूँ।

पहली प्रतिज्ञा :

मैं २२ अभक्ष्य का यथाशक्ति त्याग करता हूँ।

२२ अभक्ष्य :

१. मांस, गोश्त, अंडा, मछली
२. शहद
३. मक्खन

४. मदिरा : शराब, ताड़ी, बियर, भांग, बीड़ी, सिगरेट
५. पीपल,
६. कोठिबड़ा
७. बड़
८. गुलर
९. उबरोः का लुंबर, के फल (टेटा),
१०. बर्फ, कुल्फी
११. जहर, अफीम, सोमल, वच्छनाग, हरताल
१२. ओला
१३. कच्ची मिट्टी
१४. बैंगन
१५. बहुत बीज : पंटोल, पपोटा, खसखस, अंजीर
१६. बोलो : आबवेली, पाड़ल, नींबूकेर, आम, इमली, करमदा, हरी हल्दी, आदु, जमीनकन्द वगैरह का बना हुआ अचार-रायता। अचार-रायता वगैरह में चौथे दिन द्विइन्द्रिय की और जूठे हाथ से छूने से पंचेन्द्रिय जीव की उत्पत्ति हो जाती है।
१७. द्विदल : कच्चा (गरम नहीं किया हुआ) दूध, दही व मट्ठा के साथ कठोल धान्य, कुमटिया, गवार, मेथीदाना, भाजी खाना या मिलाकर खाना.
१८. तुच्छ फल : छोटे बोर, जंगली बेर, पीलु, पीचु.
१९. अज्ञात फल : कोई भी न जानता हो वैसे फल।
२०. रात्रि भोजन,
२१. चलित रस और
२२. अनन्तकाय।

ये २०-२१-२२ नंबर के अभक्ष्य नहीं खाने की अलग से प्रतिज्ञा करने की होती है। जैसे -

दूसरी प्रतिज्ञा :

मैं रात्रिभोजन का त्याग करता हूँ।

तीसरी प्रतिज्ञा :

मैं यथाशक्ति 'चलित रस' का त्याग करता हूँ।

नीचे की वस्तुएँ दूसरे दिन 'चलितरस' बन जाती हैं, इसलिए खाने योग्य नहीं होती हैं -

१. रोटी	२. नरम पुड़ी
३. पुरणपोली	४. पापड़ का लोया
५. दाल	६. सब्जी
७. दूध	८. खीर
९. श्रीखंड	१०. रायता
११. मलाई	१२. दुधेटी
१३. रसगुल्ला	१४. कच्ची चासनी
१५. एक तार की चासनी का हलुआ या मावा	१६. गीला पापड़
१७. गीली सेव	१८. गीला भुजिया-पकोड़े
१९. भींगी हुई दाल	२०. पानीवाली चटनी

इन वस्तुओं में से जिन वस्तुओं का त्याग आप करना चाहें, कर सकते हैं।

चौथी प्रतिज्ञा :

मैं ३२ अनन्तकाय वनस्पति का यथाशक्ति त्याग करता हूँ।

१. सुरणकन्द	२. वज्रकन्द	३. हरी हल्दी	४. आलू
५. हीरलीकंद	६. लहसन	७. गाजर	८. पसिनोकन्द
९. गरमर	१०. कसेरो	११. थेग	१२. हरी मोथ
१३. मूली	१४. प्याज	१५. हरी कचुरो	१६. शतावरी
१७. कुवार पाठा	१८. थोर	१९. हरी गीलोच	२०. वंश करेला
२१. लुणी	२२. साजी वृक्ष	२३. खिलोड़ा	२४. अमृतवेल
२५. वत्थुला भाजी	२६. भूमि फोड़ा	२७. सुअरवेल	२८. पालकभाजी
२९. कोमल इमली	३०. रतालु	३१. पींडालु	३२. कोमल वनस्पति

इन सभी अनन्तकाय का सर्वथा त्याग करने में असमर्थ व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार त्याग कर सकता है। जिस-जिस अनंतकाय का त्याग करना हो, उसका लिस्ट बना लेना चाहिए।

पाँचवीं प्रतिज्ञा :

मैं अनाज, कठोल, साग, फल और मेवा का निम्न प्रमाण रखता हूँ। अन्य का त्याग करता हूँ।

अनाज	कठोल	साग	फल	मेवा
गेहूँ	कुमटिया	आलकूल	अनार	अखरोट
चावल	ग्वार	दुधी (घीया)	अनानस	दाख
ज्वार	चना	करेला	अमरुद	बादाम
बाजरा	बेसन	ककड़ी	आम	काजू
मक्की	तुअर	केर	आंवला	खजूर
जौ	मटर	कोठिंवडा	पीच	चिरोंजी [चारोली]
कोद्रु	वटाना	कंटोला	करोंदा	काबुली मेवा
कंगनी	मूंग	गिलकी	कमलकाकड़ी	खारक
साबुदाना	मेथी	टींडोरा	केला	नारियल
सरसों	मोठ	टींडसी	खरबूज	पिस्ता
तिल	चौला	तुरई	मतीरा	मूंगफली
खसखस	वाल	नींबू	(तरबूज)	सुपारी
बटी	फणसी	परवल	रायण	सोंफ
राई	उड़द	टमाटर	गुंदा	इलायची
अजवायन	कलथ	भींडी	जामुन	लौंग [लवंग]
जीरा	मसूर	मिर्च	नारंगी	
धनिया	मोगरी	सेव		
सुआ	सांगरी	पपीता		
	सरगवा	फणस		
	अमचूर	फालसा		
	कोकम	बीजोरा		
	गुंदा	मोसंबी		
	सुआभाजी	रामफल		
	सींगफली	सीताफल		
		चीकू		
		शहतूत		
		सिंघारे		

छठी प्रतिज्ञा :

मैं पन्द्रह कर्मादान का त्याग करता हूँ।

पन्द्रह कर्मादान -

१. **इंगालकर्म :** जिस व्यापार में भट्टी करनी पड़ती हो, ऐसे सभी व्यापार का मैं त्याग करता हूँ। चूना, ईंट, कोयला वगैरह का व्यापार।

२. **नवकर्म :** खेती, बाग, बांस, लकड़ी वगैरह का व्यापार छोड़ता हूँ।

३. **शकटकर्म :** सभी वाहन (मोटर, घोड़ागाड़ी, रिक्शा...) का धंधा छोड़ता हूँ।

४. **भाड़ीकर्म :** मकान, जमीन, वाहन इत्यादि को किराये देने का व्यापार छोड़ता हूँ। वेश्यावृत्ति का त्याग करता हूँ।

५. **फोडीकर्म :** जमीन को चीरना, सुरंग, खाई, सरोवर वगैरह खुदवाऊँगा नहीं। खेती करवाऊँगा नहीं। पत्थर की खदान का धंधा करूँगा नहीं, ठेका भी नहीं लूँगा।

६. **दन्तवाणिज्य :** हाथीदांत, शंख, कौड़ी, मोती वगैरह का व्यापार नहीं करूँगा।

७. **लाख-वाणिज्य :** लाख, गोंद, साबुन, लोहा, गलीव खार का व्यापार नहीं करूँगा।

८. **रस-वाणिज्य :** मांस, शराब, शहद, मक्खन का व्यापार नहीं करूँगा।

९. **केशवाणिज्य :** मनुष्य के, पशु के, पक्षी के बालों का व्यापार नहीं करूँगा।

१०. **विष-वाणिज्य :** सभी प्रकार के जहर एवं मादक पदार्थों के व्यापार का त्याग करता हूँ।

११. **यंत्रपीलण-कर्म :** मील, यंत्र, घाणी, वगैरह का व्यापार नहीं करूँगा। चक्की वगैरह यंत्र घर में रखने की जयणा रखता हूँ।

१२. **निर्लांछन-कर्म :** मनुष्य, पशु-पक्षी के अंग-उपांग के छेदन-भेदन का व्यापार नहीं करूँगा।

१३. **दवदान-कर्म :** वन में अग्निदाह लगाने के व्यापार का त्याग।

१४. **शोषण-कर्म :** सरोवर, तालाब, वगैरह का पानी निकालने का धंधा नहीं करूँगा।

१५. **असतीपोषण :** शौक से या व्यापार हेतु जुआरी को, चोर को, वेश्या को, कुत्ते को, बिल्ली को, तोता-मैना को, कबूतर वगैरह को पालूँगा नहीं।

सातवीं प्रतिज्ञा :

मैं प्रतिदिन १४ नियम धारण करूँगा, अथवा जिन्दगी के लिए १४ नियम धारण कर लेता हूँ।

चौदह नियम :

१. सचित्त	९. शयन	तेउकाय
२. द्रव्य	१०. विलेपन	वायुकाय
३. विगइ	११. ब्रह्मचर्य	वनस्पतिकाय
४. उपानह	१२. दिशा	त्रसकाय
५. तंबोल	१३. स्नान	असि
६. वस्त्र	१४. भात-पानी	मसि
७. पुष्प	पृथ्वीकाय	कृषि...
८. वाहन	अपकाय	

इन नियमों को आज तो नहीं, कभी विस्तार से समझाऊँगा। बड़े महत्वपूर्ण हैं ये नियम! प्रतिदिन इन नियमों का पालन करनेवाला मनुष्य असंख्य पापों से बच जाता है।

श्रावक सचित्त भोजन का त्यागी हो :

इस भोगोपभोग विरमण व्रत का पालन करने के लिये, श्रावक को पाँच अतिचारों से बचना चाहिए। इस व्रत के जो पाँच अतिचार बताये गये हैं, उन अतिचारों का स्वरूप देखते हुए ऐसा मालूम होता है कि श्रावक सचित्त [सजीव] आहार का त्यागी होना चाहिए। ग्रंथकारों को यही अभिप्रेत लगता है। दूसरी बातें गौण लगती हैं।

और, ये पाँच अतिचार 'भोग-विरमण' के ही हैं, 'उपभोग-विरमण' के अतिचार बताये ही नहीं हैं। ग्रंथकारों का अभिप्राय हम नहीं जान सकते। इतना अभिप्राय स्पष्ट है कि श्रावक को सचित्त भोजन नहीं करना चाहिए! सचित्त भोजन का त्याग करना चाहिए श्रावक को।

सचित्त-अचित्त :

शायद आप लोग 'सचित्त-अचित्त' शब्दों से अपरिचित होंगे। कुछ भक्त लोग जानते होंगे...। ज्यादातर अनाज, कठोल, साग, और फल सजीव यानी सचित्त होते हैं। तिल, राई, जीरा, अजवायन, मुंगफली जैसे तैलीय पदार्थ अचित्त

[निर्जीव] ही होते हैं। सभी अनाज और कठोल बिना पकाया हुआ सचित्त कहलाता है, पकाने के बाद 'अचित्त' हो जाता है। श्रावक पकाये हुए अनाज और कठोल का भोजन करता है।

सब्जी भी सचित्त होती है। उसको पकाने से अचित्त बन जाती है। कच्ची सब्जी नहीं खानी चाहिए।

वैसे, पपीता, चीकू, आम वगैरह फल सचित्त होते हैं। परंतु फलों का छिलका उतार कर, उसको काट कर, बीज निकाल कर, ४८ मिनिट रख दिया जाय, बाद में वह अचित्त बन जाता है। मात्र 'केला' ऐसा फल है कि जिसका छिलका निकालते ही वह अचित्त हो जाता है! उसको ४८ मिनट रखने की जरूरत नहीं रहती है।

फलों का रस [ज्यूस] भी ४८ मिनट के बाद ही अचित्त बनता है।

सभा में से : ४८ मिनट में रस का स्वाद बिगड़ जाता होगा न?

महाराजश्री : नहीं बिगड़ता है। अच्छे बरतन में रखने से स्वाद नहीं बिगड़ता है। दूसरी बात यह है कि श्रावक 'रसास्वाद' को महत्त्व नहीं देता है। श्रावक की दृष्टि जीवदया की होती है।

अचित्त भोजन का कारण जीवदया :

श्रावक जानता है कि किस-किस वस्तु में जीवत्व है। और जीवत्व के प्रति श्रावक के हृदय में मैत्री, प्रेम... और स्नेह होता है। वह उसका भक्षण कैसे कर सकता है?

सभा में से : सचित्त को अचित्त बनाने में जीवहिंसा तो होती है न?

महाराजश्री : होती है, परंतु जो अनिवार्य होता है, उतना ही अचित्त किया जाता है। निरर्थक अथवा मात्र आनन्द-प्रमोद के लिये सचित्त को अचित्त नहीं बनाया जाता है। विशेषकर, जो वनस्पति होती है उसका, श्रावक ज्यादातर त्यागी होता है। चूँकि वनस्पति का जीवत्व विशेष रूप से संवेदनशील होता है। उसमें सुख-दुःख का संवेदन ज्यादा होता है। इस दृष्टि से जैन समाज में ज्यादातर लोग पर्वतिथि के दिनों में सब्जी का त्याग करते हैं। जो लोग इसका मूलभूत कारण नहीं समझते हैं वे इस त्यागभावना का उपहास करते हैं। आज की दुनिया में मनुष्य का जीवत्व के प्रति प्रेम नहींवत् हो गया है।

सभा में से : प्रेम है ही नहीं!

महाराजश्री : इसलिये तो हिंसाजन्य पदार्थ भोजन में आने लगे हैं। आज कौन सी तिथि है - यह भी लोग जानते नहीं हैं। सभी तिथि समान! नहीं करना है

तप, नहीं करना है त्याग! फिर तिथि का खयाल किसलिए करना चाहिए? Date से सारा जीवनव्यवहार चलता है!

अचित्त भोजन करने में यही प्रमुख हेतु है-जीवत्व का प्रेम। श्रावक के हृदय में जीवप्रेम होता ही है। जिसके हृदय में जीवप्रेम नहीं, वह श्रावक नहीं।

आप शायद कहेंगे कि पानी में असंख्य जीव हैं, उसको उबालने से [गर्म करने से] पानी अचित्त होता है, परंतु उबालने से असंख्य जीवों की हिंसा तो होती है न? श्रावक वह हिंसा करता है, तो उसका जीवप्रेम कहाँ रहा?

सही बात है! परंतु पानी जीवन में अनिवार्य तत्त्व है। पानी के बिना जीवन संभव नहीं है। तो फिर पानी सचित्त पीना उचित या अचित्त पीना उचित? श्रावक जानता है कि पानी में असंख्य जीव हैं। फिर वह जिंदा जीवों को कैसे पेट में उतार सकता है? वहाँ उस पानी को निर्जीव करना उसके लिए अनिवार्य बन जाता है। वह हृदय में दुःख अनुभव करता है। उसके हृदय में दर्द होता है। इसी प्रकार भोजन में भी समझना है। श्रावक के भोजन में कम से कम द्रव्य होंगे। वह जीने के लिए भोजन करता है, भोजन के लिये जीता नहीं है। पानी उबालने पर भी उसका जीवप्रेम अखंड रहता है। वह पानी की एक बूंद का भी दुरुपयोग नहीं करेगा।

किसी की आलोचना मत करें, स्वयं श्रावक बनें!

सभा में से : आप कहते हैं वैसे श्रावक तो दिखते ही नहीं!

महाराजश्री : नहीं दिखते हैं तो आप वैसे श्रावक बन जायें! आपको अच्छे श्रावक देखकर दूसरे लोग भी अच्छी प्रेरणा लेंगे और वे श्रावक बनेंगे। मैं जो श्रावक के भोजन की बात करता हूँ, वह दूसरे श्रावकों की आलोचना-निंदा करने के लिये नहीं है, परंतु आप लोग यदि श्रावक बनना चाहें तो आपका भोजन कैसा होना चाहिये, उसका मार्गदर्शन देता हूँ। दूसरों में जो गुण नहीं हो, आपमें हो सकता है वह गुण!

अपनी बात श्रावक-जीवन के विशेष धर्म की चल रही है। विशेष धर्म, सभी लोग तो स्वीकार कर नहीं सकते! बहुत थोड़े लोग ही विशेष धर्म की आराधना कर सकते हैं। और उनकी आराधना दूसरे लोगों की निगाह में आये ही, ऐसा नियम नहीं है। जो गुणदृष्टि वाले लोग होते हैं, वे ही देख सकते हैं। दोषदृष्टि वालों को किसी व्यक्ति में गुण दिखायी नहीं देता है।

श्रावक अचित्त भोजन ही पसंद करता है। किसी विशेष परिस्थिति में सचित्त करना पड़ता है, तो उसके हृदय में दुःख होता है। वह दुःख दूसरों को नहीं दिखता

है, दूसरों को तो उसका सचित्त भोजन दिखेगा! उसकी परिस्थिति का अंदाजा लिये बिना करने लगेगा आलोचना।

भोजन में कोई एकान्त नियम नहीं होते हैं। इसलिये 'प्रशमरति' ग्रंथ में भगवान् उमास्वातीजी ने कहा है -

देशं कालं पुरुषमवस्थामुपयोग-शुद्धि परिणामान्।
प्रसमीक्ष्य भवति कल्प्यं, नंकान्तात् कल्पते कल्प्यम्॥

कैसा भोजन कल्प्य और कौन सा भोजन अकल्प्य, उसका निर्णय देश, काल, व्यक्ति, अवस्था, उपयोगशुद्धि और मन के परिणाम के आधार पर करना चाहिये। एकान्ततः कल्प्य कल्प्य नहीं है। अकल्प्य अकल्प्य नहीं है। यह सिद्धान्त आप लोग जानते नहीं हो। इसलिए बड़ी गड़बड़ हो रही है समाज में। श्रावक बनने के लिये, ये सारी बातें गंभीरता से समझने की हैं। अब मैं आपको इस भोगोपभोग-विरमण व्रत के पाँच अतिचार बताता हूँ!

इस व्रत के पाँच अतिचार :

१. सचित्त वस्तु का त्याग करने पर, गलती से सचित्त-भक्षण न हो जाय, उसका खयाल रखने का है। गलती से सचित्त भक्षण होने पर अतिचार लगता है।
२. सचित्त वस्तु के साथ सम्बद्ध अचित्त वस्तु खाने पर भी अतिचार लगता है। इसलिये वैसी वस्तु नहीं खाना है।
३. सचित्त-अचित्त मिश्र (मिक्स) वस्तु खाने पर अतिचार लगता है।
४. सचित्त पदार्थ अर्धपक्व हो, पूरा पका नहीं हो, वैसा खाने से अतिचार लगता है, इसलिऐ अर्धपक्व भोजन नहीं करना चाहिए।
५. जो वस्तु खाने से तृप्ति नहीं होती हो, वैसा खाने से भी अतिचार लगता है। नहीं खानी चाहिए वैसी वस्तुयें।

खाने में सावधानी आवश्यक :

❖ बिना पकाये चावल वगैरह नहीं खाने चाहिये। 'यह अनाज तो अचित्त है,' ऐसा समझकर भी नहीं खाना चाहिए।
❖ वृक्ष सचेतन होता है, उस पर लगे हुए परिपक्व फलों को अचित्त मानकर नहीं खाने चाहिए। वैसे 'खजूर तो अचित्त है, वह खा जाऊँगा और उस में रहा हुआ बीज फेंक दूँगा...' ऐसा समझकर नहीं खाना चाहिए। इसी प्रकार आम आदि फलों के विषय में समझने का है। सचित्त प्रतिबद्ध आहार नहीं करना चाहिये,

यदि आपने सचित्त का त्याग किया है तो!

❖ आधा पका हुआ, आधा कच्चा धान्य, फल वगैरह नहीं खाना चाहिए।

❖ चावल, गेहूँ, ककड़ी वगैरह अर्धपक्व खाने से [अचित्त मानकर] अतिचार लगता है।

❖ जिस वस्तु का त्याग किया हो, प्रतिज्ञा से त्याग किया हो, उसका भोग-उपभोग करने से अतिचार लगता है। यह भोगोपभोग अनजानपन से करने से अतिचार लगता है। जानबूझकर करता है तो व्रत का भंग हो जाता है।

तुच्छ-असार औषधि [अपक्व] का भक्षण करने से अतिचार लगता है। जिससे तृप्ति नहीं होती है वैसा भोजन करने से अतिचार लगता है। श्रावक वैसे तुच्छ फल वगैरह का भक्षण नहीं करता है। रसनेन्द्रिय की लोलुपता बढ़े, वैसा भोजन श्रावक नहीं करता है।

उपभोग-परिमाण :

जिस प्रकार भोग-परिमाण करना है, वैसे उपभोग-परिमाण भी करना चाहिए। सर्वप्रथम घर/ मकान/ बंगलों का परिमाण करना चाहिए। कुछ समय से श्रीमंत लोग अपने पैसों का इन्वेस्टमेंट मकानों में करते हैं। उन लोगों को पैसे की ही चिंता बनी रहती है। आत्मा की चिंता होती ही नहीं है! यदि आप लोगों को (श्रीमंतों को) व्रतधारी बनना है तो मकान का परिमाण करना होगा।

सभा में से : पैसा ज्यादा हो जाय तो क्या करें?

महाराजश्री : साधर्मिकों का उद्धार करो! जिन मंदिरों का निर्माण करो। जैन साहित्य का प्रचार-प्रसार करो! गुप्त दान करो, ताकि सरकार भी परेशान नहीं करेगी।

जैसे मकान का परिमाण करना है वैसे वस्त्रों का भी परिमाण करना आवश्यक है। कम से कम वस्त्र रखने चाहिए। कुछ वर्षों से वस्त्रपरिधान का शौक बढ़ गया है। महिलाओं में और युवक-युवतियों में बहुत ज्यादा शौक बढ़ा है। वस्त्रों की फैशन बढ़ गई है। श्रीमंत लोग हों या मध्यम वर्ग के लोग हों... अरे, मजदूर लोगों में भी वस्त्रों की फैशन बढ़ी है। व्रतधारी को सादगी से जीना है। यदि दो जोड़ी कपड़ों से चलता है तो तीसरी जोड़ी नहीं रखनी है।

उपसंहार :

समग्र जीवन व्यवहार को नियंत्रित और संयमित करने का यह व्रत है! जीवन

में तीन महत्वपूर्ण बातें होती हैं-रोटी, कपड़ा और मकान! इस व्रत से इन तीनों बातों पर नियंत्रण आ जाता है और जीवन सुव्यवस्थित बन जाता है। बनाना है न जीवन को सुव्यवस्थित?

सभा में से : हम लोगों का जीवन अनियंत्रित और असंयमित बन गया है... संयममय जीवन की चाह ही नहीं रही!

महाराजश्री : तो फिर रोग, अशान्ति, संताप और क्लेशों के शिकार बन जाओगे। बाह्य सुख-सुविधायें होने पर भी आप सुख-शान्ति का अनुभव नहीं कर पाओगे।... सुख के साधन बढ़ने पर भी, यदि आपका जीवन संयमित नहीं होगा, तो आप आंतरिक प्रसन्नता अनुभव नहीं कर पाओगे। असंयमित जीवन आपको दुःख और क्लेशों की गहरी खाई में धकेलता रहेगा। मानव जीवन व्यर्थ चला जायेगा। भविष्यकाल अंधकारमय बन जायेगा। इसलिये ज्ञानी पुरुष त्याग और संयम का उपदेश देते हैं। आप लोग संयम के मार्ग पर चलते हुए परम आत्महित प्राप्त करें, यही मंगल कामना।

आज बस, इतना ही।

प्रवचन-१८

परम कृपानिधि महान श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी स्वरचित 'धर्मबिन्दु' ग्रन्थ के तीसरे अध्याय में गृहस्थ जीवन का विशेष धर्म बताते हैं। विशेष धर्म यानी सम्यक्त्वमूलक बारह व्रत। सामान्य धर्मों के पालन के साथ जो महानुभाव विशेष धर्म का पालन करता है, वह मनुष्य इस जीवन को और पारलौकिक जीवन को सफल बना देता है। उसका जीवन श्रेष्ठ जीवन होता है। श्रेष्ठ जीवन जीने के लिए बारह व्रतों का ज्ञान होना आवश्यक है। इसलिए आपको बारह व्रत समझा रहा हूँ। आज मैं आपको तीसरा 'गुणव्रत' बताऊँगा। इस गुणव्रत का नाम है 'अनर्थदंड विरमण।'

अर्थदंड और अनर्थदंड :

'अनर्थदंड' को समझने के लिए अर्थदंड समझना आवश्यक होता है। दंड का अर्थ है सजा। सजा यानी पापकर्म का बंधन। पाप दो प्रकार के होते हैं : आवश्यक और अनावश्यक। आवश्यक पाप अर्थदंड है, अनावश्यक पाप अनर्थदंड है! मनुष्य जितने आवश्यक पाप करता है, उससे बहुत ज्यादा अनावश्यक पाप करता है। वे पाप मनुष्य मन से, वाणी से और शरीर [पांच इन्द्रिय] से करता है। आप लोगों को दोनों प्रकार के आवश्यक-अनावश्यक पापों को जान लेने चाहिए। जानकर अनावश्यक पापों का त्याग करने का प्रयत्न करना चाहिए।

सभा में से : हमें तो पाप-पुण्य का विचार भी नहीं आता है!

महाराजश्री : अभी सुख में नहीं आते होंगे पाप-पुण्य के विचार, दुःख में जरूर आयेंगे! उस समय उलझ नहीं जाओगे, यदि अभी पापों का ज्ञान प्राप्त कर लोगे तो! अनावश्यक पापों को जानो और उनका त्याग करो। चूँकि अनावश्यक पाप करने से कर्मबंधन प्रगाढ़ होता है। अतः अनर्थदंड-विरमण व्रत की प्रतिज्ञा इस प्रकार लेनी चाहिए -

अनर्थदंड-विरमण व्रत :

१. मैं दूसरों को आरंभ-समारंभ का उपदेश नहीं दूँगा।
२. चक्की, कैंची, तलवार इत्यादि आरंभ-समारंभ के साधन दूसरों को नहीं दूँगा।
३. दूध-दही, घी, तेल वगैरह के बरतन खुले नहीं रखूँगा।

४. नाटक, सिनेमा, सरकस, तमासा, वेश्याओं का नाच-मुजरा वगैरह नहीं देखूँगा।
५. मल्ल-कुश्ती, फाँसी, ताबूत (मोहर्रम) इत्यादि नहीं देखूँगा।
६. हिंसक पशु [बिल्ली वगैरह] का पालन नहीं करूँगा।
७. नदी, सरोवर, समुद्र, कुंड, कुआँ आदि में स्नान नहीं करूँगा।
८. जोर-जोर से हसूँगा नहीं।
९. विकारोत्पादक शब्द नहीं बोलूँगा। हास्योत्पादक बातें नहीं करूँगा।

ये सारे अनावश्यक पाप हैं। और भी हैं, परंतु वे पाप बाद में बताऊँगा। अभी तो इस प्रतिज्ञा को कुछ विस्तार से बतलाता हूँ।

आरंभ-समारंभ का उपदेश नहीं देना :

जिस क्रिया में छोटे-बड़े जीवों की ज्यादा हिंसा होती है, वैसी क्रियायें करने का उपदेश दूसरों को नहीं देना चाहिए। यदि आपके हृदय में जीवदया का तीव्र कोटि का शुभ भाव है, तो आप स्वयं अपने जीवन में वैसी क्रियायें नहीं करेंगे, दूसरों को उपदेश देने की तो बात ही कहाँ? फिर भी, मान लो कि आपकी फैक्टरी चलती है, मील चलती है... यंत्रों में जीवों की हिंसा होती है, फिर भी आप दूसरों को ऐसी प्रेरणा नहीं दोगे कि : 'तुम ऐसी फैक्टरी शुरु करो... बहुत पैसे कमाओगे... तुम ऐसी मील डालो, करोड़पति बन जाओगे... देखो, हमने पाँच साल में दो करोड़ कमा लिये...!'

आप यदि आपके आरंभ-समारंभ में खुश नहीं हैं, आप आपकी मजबूरी अथवा धनलोलुपता मानते हैं, तो आप दूसरों को वैसे आरंभ-समारंभ के धंधे करने की प्रेरणा नहीं देंगे।

सभा में से : कोई हमारी राय लेने आये तो?

महाराजश्री : जिस बिजनेस में ज्यादा जीवहिंसा होती हो, वैसा धंधा करने की राय नहीं देनी चाहिए। एक महत्वपूर्ण तत्त्वज्ञान उसको देना चाहिए कि 'भैया, पैसे धंधा करने से ही नहीं मिलते। पैसे मिलते हैं, पुण्य कर्म के उदय से। अंतराय कर्म टूटने से। धंधा तो मात्र निमित्त है। इसलिए ऐसा बिजनेस करो कि जिसमें ज्यादा जीवों की हिंसा नहीं होती हो।' सामनेवाला व्यक्ति यदि आपको पूछे कि 'आप क्यों फैक्टरी चलाते हो? फैक्टरी में ज्यादा जीवहिंसा होती है।' तो आप कहना : 'मेरा पापकर्म का उदय है। मैं मानता हूँ कि मेरा धंधा पाप का है, और मैं इस धंधे से जल्दी मुक्त होने का विचार करता हूँ।' कहोगे न? आरंभ-समारंभ के धंधे आपको शोभा नहीं देते हैं। असंख्य-अनंत जीवों की हिंसा कर, लाखों-करोड़ों

रुपये भले कमा लो, वे रुपये ही आपके पतन में निमित्त बनेंगे, दुर्गति में ले जायेंगे।

आरंभ-समारंभ के साधन दूसरों को नहीं दें :

जिस प्रकार आरंभ-समारंभ की दूसरों को प्रेरणा नहीं देना है, वैसे दूसरों को आरंभ-समारंभ के साधन भी नहीं देना है। आपको आरंभ-समारंभ के साधन रखने पड़ते हैं, वह अर्थदंड है, चूँकि आपके लिये वे साधन अनिवार्य हो सकते हैं और उन साधनों का दुरुपयोग आप नहीं करते हैं, नहीं करवाते हैं। परंतु वे साधन दूसरे लोगों को देने पर, वे लोग उनका दुरुपयोग नहीं करेंगे, वैसी गारंटी कौन देगा?

सभा में से : हमारे पास चक्की वगैरह है, और पड़ोसी अथवा स्नेही माँगता है, नहीं देते हैं तो औचित्यभंग नहीं होता है क्या?

महाराजश्री : नहीं होता है। जवाब योग्य और मृदु भाषा में देना चाहिए। उसको बुरा लगे वैसा नहीं बोलना चाहिए और झूठ भी नहीं बोलना चाहिए। कहना चाहिए कि 'हमारे पास है चक्की, हमारे पास है मशीन, परंतु हम व्रतधारी हैं, इसलिए ऐसे आरंभ-समारंभ के साधन दूसरों को नहीं दे सकते हैं। क्षमा करना, दूसरी कोई वस्तु चाहिए तो निःसंकोच मांग लेना!'

इस व्रत में जीव दया ही प्रधान हेतु है। आपके साधनों से दूसरे लोग जीवहिंसा नहीं करें, यही कारण है, दूसरों को वैसे साधन नहीं देने में। कभी निष्कारण कोई आफत भी आ सकती है। कुछ वर्ष पहले एक घटना पढ़ी थी। घटना सही थी। कोर्ट में केस भी चला था।

मित्र को रीवोल्वर दे दी...

दो मित्र थे। एक मित्र के पास रीवोल्वर का लायसंस था। दूसरे मित्र को मालूम था। एक दिन वह सुबह में मित्र के घर गया और बोला : 'मुझे आज बाहर जाना है, थोड़ा खतरा है, इसलिये तेरी रीवोल्वर चाहिए। कल सुबह लौटा दूँगा। स्वरक्षा के लिए ही चाहिए। चिंता नहीं करना।'

मित्र ने दे दी अपनी रीवोल्वर। रीवोल्वर में कारतूस भी भरे हुए थे। वह लेकर गया अपने घर पर। अपनी अलमारी में रीवोल्वर रख दी। भोजन कर लिया। अपने कमरे में जाकर बैठ गया।

बात दूसरी ही थी। उसकी पत्नी एक आवारा व्यक्ति के प्रेम में थी। वह व्यक्ति 'दादा' टाइप का था। इसने अपनी पत्नी को अनेक बार समझाने का प्रयत्न किया था, परंतु पत्नी मानती नहीं थी और उस 'दादा' से डरती भी थी। इसने आज अपनी पत्नी और उस दादा को जहन्नुम में भेजने का निर्णय कर लिया था। जहाँ वे

दोनों मिलते थे, वहाँ जाकर काम करने का सोचा था। दोनों का मिलने का समय दोपहर तीन बजे का होता था। वह ऑफिस जाने के लिए निकल गया।

तीन बजे वह उस जगह पहुँच गया। उसने वहाँ जो दृश्य देखा, वह आगबबूला हो गया। उसने रीवोल्वर निकाली और धड़... धड़ गोलियाँ छोड़ दी। दोनों-वह दादा और इसकी औरत... वहीं ढेर हो गये। दोनों के प्राणपखेरु उड़ गये।

रीवोल्वर की आवाज से आसपास रहनेवाले लोग वहाँ आ गये... और इसको पकड़ लिया। पुलिस भी आ गयी। रीवोल्वर के साथ पकड़ा गया। कस्टडी में बंद कर दिया गया। जिस व्यक्ति के नाम रीवोल्वर का लायसंस था, उस व्यक्ति को भी गिरफ्तार कर लिया। 'हत्या में सहयोगी' का आरोप लगा दिया गया और कुछ वर्ष कारावास में बिताने पड़े!

जैसे यह घटना रीवोल्वर को लेकर घटी, वैसे तलवार, छुरी वगैरह शस्त्रों को लेकर भी घटती है। इसलिए दूसरों को हिंसा के साधन नहीं देने का उपदेश ज्ञानी पुरुषों ने दिया है।

दूध-दही, घी-तेल वगैरह के बरतन खुले नहीं रखें :

जीवदया के ही लक्ष्य से ये बातें बतायी जा रही हैं। छोटे जीवों के प्रति भी दया से ही व्यवहार करना चाहिए। सभी जीवों में चैतन्य समान रूप से रहा हुआ है। चींटी हो या हाथी हो, मनुष्य हो या देव हो, चैतन्य सभी में है। उनके प्रति दयाभाव रखना है। उन जीवों को दुःख हो, कष्ट हो, अथवा उनकी मृत्यु हो, वैसा व्यवहार नहीं करना है।

घर में दूध-दही, घी-तेल जैसी खाद्य वस्तुएँ होती ही हैं। उनके बरतन ढंक कर रखने चाहिए। यदि बरतन खुला रहता है तो उसमें हजारों-लाखों कीड़ियाँ, मकोड़े... गिरते हैं और मर जाते हैं। कभी बड़े जीव भी उसमें गिर कर मरते हैं। कभी विषैले जीव भी गिरते हैं और खाद्य वस्तु को विषैली बना देते हैं। इसलिए दूध वगैरह के बरतनों को ढंकने में प्रमाद नहीं करना चाहिए।

एक महिला ने बताया था कि उसने शाम को रसोईघर में दूध रख छोड़ा था। रात्रि में बच्चे को दूध पिलाना था। दूध का बरतन खुला रह गया था। शाम को वह सिनेमा देखने चली गई। वापस १० बजे वह घर लौटी। उसने जल्दी-जल्दी में दूध देखा नहीं और बच्चे को पिला दिया। दूध पीते ही बच्चे ने उलटी कर दी। बच्चा बेहोश हो गया। डॉक्टर को बुलाया। दूध के बरतन में थोड़ा दूध पड़ा था। डॉक्टर ने दूध देखा। दूध में एक कीड़ा मरा पड़ा था। कीड़ा विषैला था। डॉक्टर ने इस

महिला को बहुत डांटा, तुरंत बच्चे को दो इंजेक्शन दे दिये। हॉस्पिटल में ले गये। भाग्ययोग से बच्चा बच गया!

सभा में से : आजकल महिलायें प्रायः बरतन ढंकती ही नहीं है, परवाह ही नहीं करती... बरतन खुले पड़े रहते हैं।

महाराजश्री : इससे जीवहिंसा तो होती ही है, परंतु आप लोगों के स्वास्थ्य को भी हानि होती है। यह काम विशेष रूप से महिलाओं का है। महिलाओं को इस काम में प्रमाद नहीं करना चाहिए। भले, व्रत लें या नहीं लें, घी-तेल वगैरह के बरतन खुले नहीं रखने चाहिए। यह तो एक सामान्य बुद्धि-कॉमन सेन्स की बात है।

नाटक, सिनेमा, सरकस, तमाशा वगैरह नहीं देखें :

जिस प्रकार अनर्थदंड के त्याग में जीवदया की दृष्टि है, वैसे आत्मसंयम, इन्द्रियविजय और मनोनिग्रह की दृष्टि भी रही हुई है। ऐसे दृश्य नहीं देखने चाहिये कि जिससे आत्मसंयम टूट जाय, इन्द्रियाँ चंचल हो जायँ और मन स्वच्छंदी बन जाय।

जीवन में आनंद चाहिए, मनोरंजन चाहिए, मानता हूँ यह बात, परंतु वह आनंद और वह मनोरंजन ऐसा नहीं होना चाहिए कि जिससे आत्मा मलीन हो, मन चंचल हो और इन्द्रियाँ उत्तेजित हों। इस दृष्टि से नाटक देखना, सिनेमा देखना, सरकस देखना, तमाशा देखना, वेश्याओं के नृत्य देखना... 'अनर्थदंड' कहा गया है। व्रतधारी बनना है तो इस अनर्थदंड का त्याग करना ही पड़ेगा। अरे, व्रतधारी नहीं, सद्गृहस्थ बने रहना है, तो भी इस विषय में गंभीरता से सोचना होगा।

सिनेमा, नाटक... तमाशा जब तक देखते रहेंगे तब तक मन स्थिर और शान्त रहनेवाला नहीं है। और, कुछ वर्षों से आप लोगों के घरों में विडियो... T.V. आ गये हैं... तब से आप लोगों के मन की स्थिति ही बदल गई है।

मारधाड़ और सेक्स से भरी हुई फिल्में देखकर क्या आप लोगों के मन में शान्ति, समता और प्रसन्नता आनेवाली है? याद रखना, दिमाग का संतुलन बिगड़ जायेगा। अशान्ति की आग में जलकर राख हो जाओगे।

नाटक भी कैसे गंदे, बिभत्स और सैक्सी हो रहे हैं? शील और संस्कारों का नामोनिशान मिटा दिया गया है। यदि आपको अध्यात्म के मार्ग पर चलना है, तो दुनिया के ऐसे नाटकों का मोह छोड़ना ही होगा। धर्म के साथ, अध्यात्म के साथ नाटक-सिनेमा का मेल-जोल जमता ही नहीं है। विशेष धर्म की आराधना करने की अभिलाषा हृदय में जागने पर, ऐसी तुच्छ विलासी बातें उनके मन को स्पर्श ही नहीं कर सकती हैं।

सरकस का निषेध इसलिए किया गया है कि उसमें पशुओं को त्रास दिया जाता है। पशुओं के खेल जो किये जाते हैं, उनमें पशुओं को त्रास दिया जाता है। देखनेवाले खुश होते हैं... इससे पापकर्म बंधते हैं। सामुदायिक पापकर्म भी बंधते हैं। सिनेमा-नाटक और सरकस में सामुदायिक [जितने देखनेवाले होते हैं, उन सभी का] कर्म का बंधन होता है। एक अशुभ दृश्य सभी एक साथ देखकर राजी होते हैं-तब एक साथ पापकर्म बाँधते हैं और जब वह पापकर्म उदय में आता है तब उन सभी को एक साथ दुःख आता है!

जैसे हवाई जहाज का अकस्मात होता है और एक साथ १००/२०० व्यक्ति मर जाते हैं, जैसे ट्रेन का अकस्मात होता है और एक साथ २००/४०० मर जाते हैं... बस के, गाड़ी के, स्टीमर के अकस्मात होते हैं... और एक साथ ५०/१००/२००/४०० मर जाते हैं। भूकंप आता है और एक साथ हजार/ लाख लोग मर जाते हैं! यह सब सामुदायिक पापकर्मों का फल होता है।

आजकल T.V. पर एक साथ दो-चार करोड़ लोग सिनेमा वगैरह देखते हैं। इसमें अच्छी-बुरी बातें आती ही हैं... सब लोग एक साथ अच्छे दृश्य में खुश होते हैं तो सामुदायिक पुण्यकर्म बाँधते हैं और एक साथ बुरे दृश्य में खुश होते हैं, तो सामुदायिक पापकर्म बांधते हैं। परंतु T.V. के पर्दे पर अच्छी... मन को पवित्र-निर्मल करनेवाली बातें कितनी आती हैं और बेईमानी बढ़ानेवाली कितनी बातें आती हैं-यह आप लोग अच्छी तरह जानते हो।

इसलिये हम लोग आपको T.V. विडियो वगैरह नहीं देखने का उपदेश देते हैं। हम लोग आपके मन की और आत्मा की चिंता करते हैं। व्रतधारी बनने की बात इसी दृष्टि से कही जा रही है। जँचती है न यह बात? माननी पड़ेगी। अन्यथा ये सिनेमा, नाटक और डान्स पार्टियाँ आपको दुःख-अशान्ति और संताप की गहरी खाई में पटक देंगी।

मल्ल-कुश्ती, फाँसी वगैरह नहीं देखें :

देखने-देखने में कितने पापकर्म बंधते हैं? इसलिए जो देखना अनिवार्य नहीं हो, वह नहीं देखना चाहिए। जो देखे बिना अपनी जीवनयात्रा सुखरूप चलती रहती हो, वह क्यों देखना?

लोग मल्ल-कुश्ती देखने जाते हैं। आप लोग शायद नहीं जाते होंगे। महिलायें भी नहीं जाती होंगी? T.V. पर भले देखते होंगे... परंतु आप मल्ल-कुश्ती नहीं देखें तो जीवनयात्रा रुक नहीं जायेगी। अथवा आपको कोई शारीरिक या आर्थिक

नुकसान भी होनेवाला नहीं है! फिर क्यों देखना? वैसी कुश्तियाँ देखने से राग-द्वेष बढ़ते हैं! आपका प्रिय पहलवान जीतेगा तो खुश, हारेगा तो नाराज हो जाओगे न? नहीं देखनी चाहिए मल्ल-कुश्ती।

वैसे कुछ लोगों को फाँसी देखने में मजा आता है। अभी इस युग में जाहिर में फाँसी नहीं दी जाती है। जहाँ फाँसी दी जाती है वहाँ सभी लोग जा भी नहीं सकते हैं। परंतु फिर भी कुछ लोग सरकारी इजाजत लेकर जाते हैं देखने। वहाँ पर मानो कि किसी हत्यारे को, दुष्ट व्यक्ति को फाँसी दी जाती हो, देखनेवाले के मन में 'अच्छा है, ऐसे दुष्टों को फाँसी देनी ही चाहिये...' ऐसा विचार आ जाय तो घोर पापकर्म बंध जाता है। उसके फलस्वरूप किसी भी जन्म में उसको फाँसी की सजा मिलती है!

मल्ल-कुश्ती देखना, फांसी देखना, ताबूत देखना... सब अनर्थदंड है, फालतू बातें हैं। जीवन में ऐसे तुच्छ आनंद नहीं होने चाहिए। व्रतधारी बनने के लिये ऐसी बातें देखने की इच्छा ही नहीं होनी चाहिए।

हिंसक पशुओं का पालन नहीं करें :

वैसे, व्रतधारी को हिंसक पशुओं का पालन नहीं करना चाहिए। बिल्ली, कुत्ता, शेर वगैरह हिंसक पशु हैं। हालाँकि आप लोग शेर, चीता वगैरह को पालतू नहीं रखते हो, परंतु बिल्ली और कुत्तों को तो पालतू बनाकर रखने की फैशन हो गई है न? बिल्ली और कुत्ता, उनका शिकार मिलने पर हिंसा करेंगे ही। उस हिंसा का पाप आपको भी लगेगा।

वैसे आपस में पशुओं को लड़ाने भी नहीं चाहिए। व्रतमय जीवन के साथ ये बातें जँचती नहीं हैं! ऐसी बातें व्रतमय जीवन में होनी ही नहीं चाहिए!

सभा में से : गाय, भैंस, घोड़ा... वगैरह पशुओं का पालन व्रतधारी कर सकता है न?

महाराजश्री : कर सकता है। गाय, भैंस, घोड़ा वगैरह हिंसक प्राणी नहीं हैं। लेकिन आप लोग गाय-भैंस का पालन करना चाहते हैं क्या? यदि संपूर्ण हिन्दु समाज और जैन समाज गाय-भैंसो का पालन करना शुरु कर दे तो एक भी गाय या भैंस कत्लखाने में नहीं जा सकती है! जीवदया का अपूर्व कार्य हो सकता है। परंतु आप लोगों को वह कार्य नहीं करना है। आपको तो कुत्तों का पालन करना है! याद रखना, कुत्तों से प्यार हो गया तो आने वाला जन्म कुत्ते का मिलेगा! पसंद है न कुत्ता होना? सोच लेना!

नदी, सरोवर, समुद्र, कुंड में स्नान नहीं करें :

निष्प्रयोजन जैसे पशुपालन नहीं करना है, वैसे व्रतधारी श्रावक को नदी में, सरोवर में, समुद्र में या कुंड में स्नान नहीं करना चाहिए। चुँकि उन स्थानों में जीव ज्यादा होते हैं, हिंसा होती है।

सभा में से : स्वीमिंग पुल... बाथ में स्नान कर सकते हैं क्या?

महाराजश्री : नहीं, नहीं कर सकते। वहाँ भी पानी छाना हुआ नहीं होता है। भले उसमें मछलियाँ नहीं होती होंगी, दूसरे जीव भी नहीं होते होंगे, परंतु 'अप्काय' के यानी पानी के जीव तो होते ही हैं! व्रतधारी श्रावक निष्प्रयोजन एकेन्द्रिय जीवों की भी हिंसा करना पसंद नहीं करेगा। इसलिये वह अपने ही घर में थोड़े से पानी से, वह भी छाना हुआ, उससे स्नान करेगा। आजकल आप लोग कोई कुएँ के किनारे जाकर या तालाब के किनारे पर बैठकर स्नान नहीं करते हैं। यदि वहाँ भी स्नान करना हो तो छानकर पानी बरतन में लेकर स्नान करना चाहिए।

व्रतधारी श्रावक पानी का बहुत ही कम, जितना अनिवार्य हो उतना ही उपयोग करेगा। और यदि आज के युग में आप लोग भले व्रतधारी नहीं हों, फिर भी पानी का बहुत ही कम उपयोग करने लगो तो? देश की पानी की समस्या हल हो जाय न? कितना दुरुपयोग करते हो पानी का? दुःख पाओगे। कुदरत रूठी है...। कुछ समझदार बनोगे तो बचोगे... अन्यथा विनाश निकट है।

जोर-जोर से हँसना नहीं है :

व्रतधारी श्रावक बनना है तो ये सारी मर्यादायें पालनी ही होंगी। एक महत्त्वपूर्ण मर्यादा अब बताता हूँ। श्रावक को जोर-जोर से हँसना नहीं चाहिए। अट्टहास्य नहीं करना चाहिए। हाँ, स्मित हो सकता है। सामान्य हास्य निषिद्ध नहीं है।

सभा में से : कभी डॉक्टर कहते है कि जोर-जोर से हँसना!

महाराजश्री : उपचार के रूप में हँसना पड़ता है तो भले हँसो, परंतु बात-बात में जोर-जोर से हंसने की आदत व्रतधारी को शोभा नहीं देती है। व्रतधारी का व्यक्तित्व महान होता है। जोर-जोर से अट्टहास्य करने में व्यक्तित्व निम्न स्तर का हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रसंग के अनुरूप हास्य होना चाहिए। हँसने की बात हो, और आप गंभीर रहते हैं, आपके मुँह पर स्मित भी नहीं आता है, तो अच्छा नहीं लगेगा। और जहाँ हँसने की कोई बात नहीं हो, वहाँ आप हँसते हैं, तो भी अच्छा नहीं लगेगा।

हँसते हुए भी आपकी गंभीरता अक्षुण्ण रहनी चाहिए। आपका हास्य भी अर्थगंभीर होना चाहिए। व्रतधारी का हास्य उसके व्रतमय जीवन की उदात्तता का परिचायक होना चाहिए।

विकारोत्पादक वाणी नहीं बोलें :

जिस प्रकार जोर-जोर से हँसना नहीं है, वैसे असभ्य और विकारजनक शब्द भी नहीं बोलने हैं। व्रतधारी को ऐसी बातें नहीं करनी चाहिए कि जिससे दूसरों का मन विषयवासना से उत्तेजित हो जाय। दूसरों की इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय पाने के लिये तत्पर हो जायें। यदि व्रतधारी श्रावक, विकारोत्तेजक वाणी बोलता है तो अपने व्रत को अतिचार लगता है। विकारजनक शब्दोच्चारण अर्थदंड है।

यानी, व्रतधारी श्रावक का वार्तालाप राग-द्वेष की उत्तेजना से मुक्त रहना चाहिए। उसका वार्तालाप राग-द्वेष को उपशान्त करने वाला होना चाहिए। शान्ति-समता और प्रसन्नता के फूल खिलते हैं, व्रतधारी की वाणी का वारि बरसने से।

कहने का तात्पर्य यह है कि व्रतधारी श्रावक को निष्प्रयोजन निरर्थक बोलना ही नहीं है। सत्य, प्रिय और हितकारी वचन ही उसको बोलने चाहिए।

कुछ सावधानियाँ :

अनर्थदंड विरमण व्रत का पालन सुचारु रूप से करने के लिए कुछ सावधानियाँ बरतने की होती हैं, अन्यथा व्रत को दोष-अतिचार लगते हैं और व्रत निःसार बन जाता है। यहाँ आज संक्षेप में ये सावधानियाँ बताकर प्रवचन पूर्ण करूँगा -

- ❖ पहली सावधानी है, आर्तध्यान नहीं करने की। प्रिय-अप्रिय के संयोग-वियोग के विचारों में उलझना नहीं है।
- ❖ दूसरी सावधानी है, रोग-व्याधि आने पर अभक्ष्य खाना नहीं है और मिथ्यात्वी देव-देवियों की शरण में जाना नहीं है।
- ❖ तीसरी सावधानी है, देशकथा, राजकथा, भोजनकथा और स्त्रीकथा नहीं करना। ये बातें मन को विकृत बनानेवाली होती हैं।
- ❖ चौथी सावधानी है-युद्ध करनेवालों की तारीफ नहीं करना। हिंसा के कार्य में गर्व-अभिमान नहीं करना।
- ❖ झूठ बोलने में अभिमान नहीं करना, शत्रु पर झूठा आरोप नहीं मढ़ना, अपनी झूठी प्रशंसा नहीं करना, यह है पाँचवीं सावधानी।
- ❖ व्यापार में विश्वासघात नहीं करना, झूठी बही नहीं लिखना, जाली बात, जाली सौगन्ध वगैरह नहीं करना, यह है छठी सावधानी।

❖ कोर्ट-कचहरी में झगड़ना नहीं। परिग्रह में मग्न नहीं रहना, यह है सातवीं सावधानी।

❖ पुनर्विवाह की तारीफ नहीं करना। यह है आठवीं सावधानी।

❖ नौवीं सावधानी है, दशहरे में रावणवध नहीं करना, न देखना।

❖ दसवीं सावधानी है, पानी छानकर उपयोग में लेना।

❖ ग्यारहवीं सावधानी है, नेत्र विकारादि कामचेष्टा नहीं करना।

❖ बारहवीं सावधानी है, बहुत नहीं बोलने की!

❖ तेरहवीं सावधानी है. अधिक स्नान नहीं करने की, बार-बार नहीं खाने की।

❖ चौदहवीं सावधानी है, कटाक्षवचन नहीं बोलने की। विषयकषायपोषक वाणी नहीं बोलने की।

❖ पंद्रहवीं सावधानी है, अनावश्यक वनस्पति नहीं तोड़ने की, वनस्पति के ऊपर नहीं चलने की।

आज बस, इतना ही-

प्रवचन-१९

परम उपकारी परम कृपानिधि महान श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी स्वरचित 'धर्मबिन्दु' ग्रंथ के तीसरे अध्याय में गृहस्थ-जीवन का विशेष धर्म बता रहे हैं।

❖ पाँच अणुव्रत और तीन गुणव्रत बताने के पश्चात् चार शिक्षाव्रत बताये जा रहे हैं। चार शिक्षाव्रतों में पहला शिक्षाव्रत है 'सामायिक' का। शान्ति, समता और चित्तस्वास्थ्य पाने का अमोघ उपाय है 'सामायिक'। अशांति, क्लेश, संताप और उलझनों से भरी हुई दुनिया में दो घड़ी विश्राम पाने का समय होता है, सामायिक! इसलिए सामायिक तो हर शान्तिप्रिय व्यक्ति को करना ही चाहिए। चाहे दूसरे व्रत लें या न लें, सामायिकव्रत तो जीवन में होना अति आवश्यक है। मन-वचन-काया का स्थैर्य और धैर्य पाने का दूसरा कोई अमोघ उपाय है ही नहीं।

सुख चाहिए या शान्ति?

परंतु मेरा पहला प्रश्न यह है कि आपको पहले भौतिक सुख चाहिए या मन की शान्ति? यदि आपका ध्येय ज्यादा से ज्यादा भौतिक सुख पाने का है, शान्ति से मतलब नहीं है, तो 'सामायिक' की बात आपको जँचनेवाली नहीं है। चूँकि सामायिक का संबंध शांति और समता के साथ है, भौतिक-वैषयिक सुखों के साथ नहीं है। भौतिक-वैषयिक सुख पाने के लिये दिन-रात जो लोग दौड़-धूप करते हैं वे लोग अशान्त हैं, बेचैन हैं... चिंताग्रस्त हैं... कषायपरवश हैं। फिर, भले ही वे मंदिरों में जाते हों या लाखों रुपयों का दान देते हों। भले ही वे महीने-दो-महीने के उपवास करते हों... या वर्ष में ५/१० यात्रा करते हों तीर्थधामों की। यदि उन लोगों का लक्ष्य धन-दौलत और वैषयिक सुख पाने का है, तो वे अशान्त ही रहेंगे। तीर्थस्थानों में भी उनको शान्ति नहीं मिलेगी । चाहते ही नहीं शान्ति, फिर मिलने का प्रश्न ही नहीं उठता! हाँ, फरियाद करते रहते हैं : हमें शान्ति नहीं मिलती है। हम माला फेरते हैं, मंदिर जाते हैं... तीर्थयात्रा करते हैं... हमें शान्ति नहीं मिलती है। कैसे मिलेगी शान्ति? वैषयिक सुखों की भरपूर स्पृहा हृदय में भरकर, उन सुखों को पाने का ही प्रयत्न करनेवालों को शान्ति नहीं मिलेगी। चूँकि वैषयिक सुखों की स्पृहा के साथ कषायों की प्रबलता बढ़ती जाती है। क्रोध, मान, माया और लोभ की परिणति बढ़ जाती है। और, ये कषाय शान्ति के शत्रु हैं!

विषय-कषायों को सीमित करने होंगे :

सर्वप्रथम अपनी आत्मा से पूछो : शान्ति चाहिए क्या? मन की शान्ति की उपेक्षा करनेवाले और विषयसुखों की तीव्र स्पृहा करनेवाले लोग दिमाग से अप-सेट हो जाते हैं... कुछ लोग तो पागल हो जाते हैं। लाखों रुपये और सभी प्रकार की सुविधायें होने पर भी वे लोग व्यथित और पीड़ित होते हैं। क्या आपको वैसी स्थिति का निर्माण करना है? नहीं न? तो वैषयिक सुखों की तीव्र स्पृहा का त्याग करो। कषायों से बचते रहो। कषायों से बचने का उपाय यही है - वैषयिक स्पृहा का त्याग। इसलिए 'भोगोपभोग विरमण व्रत' और 'अनर्थदंड विरमण व्रत' बताये गये हैं। ये दो व्रत, मनुष्य की वैषयिक इच्छाओं को सीमित करते हैं। वैषयिक इच्छायें सीमित होने से कषायों की प्रबलता नहीं रहती है। इससे 'सामायिक' अच्छा होता है। मन-वचन-काया को सामायिक में स्थिरता और प्रसन्नता प्राप्त होती है।

सामायिक क्या है :

सामायिक व्रत दो घड़ी प्रतिदिन करने का व्रत है। शुद्ध और शान्त जगह पर ४८ मिनट बैठना है। शुद्ध वस्त्र पहनकर बैठना है। ऊनी वस्त्र जमीन पर बिछा कर बैठना है। मुँहपत्ति रखना है और चरवला रखना है पास में। बोलना पड़े तो मुहपत्ति का उपयोग करना होता है, चलना पड़े तो चरवले का उपयोग करना होता है।

हो सके वहाँ तक शरीर को स्थिर रखना है, यानी शरीर को चंचल-अस्थिर नहीं होने देना है। एक आसन से बैठना है। उबासी भी नहीं आये, वैसे बैठना है। भित्ति का सहारा लिये बिना बैठना है।

वैसे, मौन धारण कर बैठना है। बोलना नहीं है। यानी निरर्थक, निष्प्रयोजन और पापयुक्त वचन नहीं बोलने के हैं। कभी बोलना ही पड़े तो प्रिय, सत्य और स्व-परहितकारी वचन ही बोलने चाहिए। इस प्रकार वचनयोग की निर्मलता सिद्ध करना है। काययोग और वचनयोग चापल्यरहित और पापरहित बनेंगे तभी मनोयोग निर्मल-पवित्र बनेगा।

मन में एक भी पापविचार नहीं आ जाय, इसलिए मन को मंत्रजाप में अथवा स्वाध्याय में जोड़ देना चाहिए।

सभा में से : जब मंत्रजाप करने लगते हैं तभी पापविचार ज्यादा आते हैं! फालतू विचार ज्यादा आते हैं।

महाराजश्री : चूँकि मन को मंत्र के साथ जोड़ने की कला आपने पायी नहीं है। मन को मंत्र के साथ जोड़ कर देखना! एक भी दूसरा विचार मन में प्रवेश

नहीं कर पायेगा। मन को मंत्र के साथ जोड़कर जाप शुरु करें। जैसे कि आप श्री नवकार मंत्र का जाप करना चाहते हैं, तो आप उस महामंत्र के अक्षरों से मन को जोड़ो। सभी ६८ अक्षरों को श्वेत [White] देखने का प्रयत्न करो। मन को कह दो कि 'तुझे सभी अक्षर श्वेत ही देखने के हैं। अक्षर को देखते हुए जाप करने का है।' मन से देखना है, आँखों से नहीं। आँखें तो नासिका के अग्र भाग पर स्थिर करने की हैं अथवा बंद रखने की हैं। मन देखने का काम करेगा तो दूसरे विचार नहीं करेगा!

वैसे मन को कमल के पुष्प के साथ जोड़ सकते हैं। आठ पंखुड़ियों वाला कमल देखना है और उसमें श्री नवकार मंत्र के नौ पदों को स्थापित कर जाप करना है। कमल सुंदर पुष्प होता है। मन को सुंदर वस्तु ज्यादा पसंद होती है न! उसको कमल के साथ जोड़ दो!

मन को यदि सुंदर दृश्य देखने में मजा आता है, तो उसको तीर्थंकर परमात्मा के समवसरण में ले चलो! समवसरण देखने दो! समवसरण की शोभा अद्भुत होती है। इससे भी ज्यादा शोभा होती है, तीर्थंकर परमात्मा की। वहाँ पर मन को पंचपरमेष्ठि के ध्यान में जोड़ दो। मन को जोड़ना होगा, अन्यथा वह शुभ भावों को तोड़ेगा... और आत्मा को बिगाड़ेगा।

सामायिक में यही काम करना है-मन-वचन-काया के योगों को शुभ बनाने का। निष्पाप बनाने का। दो घड़ी भी ये तीन-मन-वचन और काया निष्पाप बने रहें... तो फिर आगे ज्यादा समय भी निष्पाप रह सकते हैं।

सामायिक में काया निष्पाप रहती है :

कुछ लोग प्रश्न करते हैं : 'हमारा मन, सामायिक में भी पाप विचार करता है... चूँकि मन चंचल है, तो फिर सामायिक करना बेकार है न? नहीं करना ही अच्छा है...।'

ऐसा नहीं है। सामायिक का प्रयोजन मात्र मनोयोग को ही निष्पाप बनाने का नहीं है, वचनयोग और काययोग को भी निष्पाप बनाने का है। भले आपका मन स्थिर नहीं रहता है सामायिक में, शरीर तो दो घड़ी एक जगह स्थिर बैठेगा न? दो घड़ी शरीर से तो पाप नहीं होंगे न? क्या यह लाभ छोटा है? दो घड़ी शरीर को पापों से मुक्त रखनेवाला सामायिक करने जैसा नहीं है क्या? शरीर को पापों से मुक्त रखनेवाली धर्मक्रिया का महत्त्व कम मत समझो। कदम-कदम पर पाप करनेवाला शरीर, दो घड़ी निष्पाप बना रहता है, यह बड़ी महत्त्व की बात है।

इतना ही नहीं, दो घड़ी सामायिक में आप मौन तो बैठ सकते हो न? मन का मौन नहीं सही, वचन का मौन धारण कर सकते हो न? ४८ मिनट का मौन क्या

कम महत्त्व का है? मौन का महत्त्व धार्मिक दृष्टि से नहीं, शारीरिक दृष्टि से, आरोग्य की दृष्टि से भी बड़ा महत्त्वपूर्ण माना गया है। मौन से वचनशक्ति बढ़ती है, मौन से विचारशक्ति भी बढ़ती है।

भले मन चंचल है आपका, और आप विचारों को रोक नहीं पाते हैं परंतु वाणी को तो रोक सकते हो न? वचनयोग को निष्पाप बनाये रख सकते हो न? इस दृष्टि से भी सामायिक सार्थक होगा आपका। और ज्यों-ज्यों शरीर और वाणी निष्पाप एवं स्थिर बनते जायेंगे त्यों-त्यों मन भी निष्पाप और स्थिर बनता जायेगा। हालाँकि मन को सुधरने में समय लगेगा... मंद गति से सुधरेगा, परंतु सुधरेगा अवश्य। इसलिये 'सामायिक-व्रत' लेना अत्यन्त आवश्यक है।

सामायिक व्रत की प्रतिज्ञा :

सामायिक व्रत आप इस प्रकार ले सकते हैं : मैं प्रतिदिन एक या एक से ज्यादा सामायिक करूँगा। अथवा मैं महीने में... इतने सामायिक करूँगा। अथवा मैं वर्ष में... इतने सामायिक करूँगा। बिमारी वगैरह अपरिहार्य कारणों से नहीं करूँगा-इतना अपवाद।

वास्तव में देखा जाय तो बिमारी में बहुत अच्छा सामायिक हो सकता है। जितना समय समताभाव में रह सको-उतना सामायिक हो जाता है। वह भाव सामायिक कहा जायेगा। क्रियारूप सामायिक नहीं हो सकता हो उस समय, दो घड़ी मन को राग-द्वेष से मुक्त रख कर भाव-सामायिक कर सकते हो।

भाव सामायिक कर सकते हैं :

एक भाई, जो कि अच्छे व्यापारी हैं, श्रीमंत हैं, उन्होंने मुझे बताया कि वे पुना-बंबई प्रतिदिन अप-डाउन करते थे। इन्होंने प्रतिज्ञा की थी ट्रेन में मैं किसी से कोई बात नहीं करूँगा और जिस सीट पर बैठा, उस सीट पर से जब तक बंबई नहीं आये और बंबई से जाते समय पूना नहीं आये, तब तक उठूँगा नहीं. वे सीट पर बैठ कर मन को स्वाध्याय में जोड़ते थे। मन में राग-द्वेष को प्रवेश ही नहीं देते थे। राग-द्वेष रहित मन समयुक्त बनता है और वही सामायिक बनता है। तीन-चार घंटे जाने के और तीन-चार घंटे आने के सामायिकरूप बना दिये उन्होंने!

परिणामस्वरुप, आज ६५ वर्ष की उम्र में उन्होंने ऑफिस जाना छोड़ दिया है... बिजनेस में रुचि नहीं रही है और प्रतिदिन घर में पाँच सामायिक करते हैं। शेष समय भी समताभाव में बिताने का प्रयत्न करते हैं। संसार में कोई न कोई समस्या तो रहती है, फिर भी वे अपना समताभाव बनाये रखते हैं।

द्रव्य क्रियात्मक सामायिक करने का लक्ष्य भाव सामायिक ही है। भाव सामायिक का लक्ष्य नहीं होता है और मात्र द्रव्य सामायिक करनेवाले अपने मन में शान्ति नहीं पाते हैं और दूसरों के सामने गलत उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। जैसे कि

❖ सामायिक पूर्ण करते ही लड़ते-झगड़ते हैं,
❖ सामायिक पूर्ण करते ही असत्य बोलते हैं,
❖ सामायिक पूर्ण होते ही किसी को मारते हैं,
❖ सामायिक करते-करते संसार की बातें करते हैं,
❖ सामायिक करते-करते क्रोध करते हैं,
❖ सामायिक करते-करते नींद लेते हैं,
❖ सामायिक में प्रमाद से बैठते हैं...

इस प्रकार सामायिक की क्रिया करनेवालों को देख कर बुद्धिशाली और पढ़े-लिखे लोग सामायिक से नफरत करने लगते हैं। और ऐसी क्रिया करनेवाला व्यक्ति कभी भी भाव सामायिक कर नहीं पाता है। चूँकि भाव सामायिक उसका लक्ष्य ही नहीं होता है!

भाव सामायिक 'समतायोग' में परिवर्तित हो जाता है! और समतायोग में स्थिर बनने पर वीतरागता प्राप्त होने में देर नहीं लगती।

सामायिक में से समतायोग :

शास्त्रों में ऐसे अनेक दृष्टांत आते हैं कि घोर कष्टों में भी समता रखी... राग-द्वेष से मन को मुक्त रखा... और वे वीतराग-सर्वज्ञ बन गये। उन दृष्टांतों में से एक दृष्टांत है, आचार्यश्री चंडरूद्र के शिष्यरत्न का।

नगर के बाह्य उद्यान में आचार्य अपने शिष्यों के साथ ठहरे थे। आचार्य, अपने शिष्यों से अलग स्थान में रहे थे। उनका स्वभाव अति उग्र था। हालाँकि वे ज्ञानी थे, तपस्वी थे, परंतु क्रोध पर वे विजय नहीं पा सके थे। वे जानते थे अपने स्वभाव को, इसलिये वैसे निमित्तों से वे दूर रहना ही पसंद करते थे।

एक दिन कुछ युवक उस उद्यान में घूमने को गये। उनमें एक युवक उसी दिन शादी करके आया था। युवक थे... आचार्य चंडरूद्र के पास जाकर मजाक के मुड में बोले : 'महाराज, आपको शिष्य चाहिए क्या?' आचार्य मौन रहे। युवकों ने फिर से पूछा : 'महाराज, यदि शिष्य चाहिए तो यह लड़का तैयार है...' ऐसा बोलकर उस शादी करके आये हुए लड़के को आगे कर दिया। आचार्य ने जवाब नहीं दिया। तीन बार वे खामोश रहे। परंतु युवकों ने आचार्य को परेशान करना चालू रखा।

आचार्य का प्रचंड क्रोध धधकती आग की तरह जाग उठा और उन्होंने उस युवक को पकड़ कर उसके बालों का लुंचन कर डाला, साधु वेश भी पहना दिया!

दूसरे लड़के घबरा गये! 'शायद हमको भी यह साधु पकड़ कर मुंडन कर देगा...' वे भाग गये गाँव में। जिसको साधु बनाया था, उस युवक ने सोचा : 'अब, जब मैं स्वयं साधु बन गया हूँ तो अब मुझे यह वेश छोड़ना नहीं है। परंतु यहाँ रहने से, मेरे स्वजन यहाँ आयेंगे और मेरे निमित्त... मेरे इन गुरुदेव को परेशान करेंगे...। इसलिये यहाँ से जंगल के रास्ते चल देना चाहिए।'

सूर्य अस्त हो गया था। पृथ्वी पर अंधेरा उतर आया था। नूतन शिष्य ने आचार्य चंडरूद्र को कहा : 'गुरुदेव, अभी यहाँ से अपन चल दें तो अच्छा रहेगा, अन्यथा मेरे स्वजन आपको परेशान करेंगे।'

आचार्य ने कहा : 'अंधेरे में कैसे चलेंगे? मेरी आँखें अंधेरे में मार्ग नहीं देख सकती...।'

शिष्य ने कहा : 'गुरुदेव, आपको उठाकर मैं चलूँगा। आप मेरे कंधे पर बैठ जाइये।'

आचार्य चंडरूद्र क्रुद्ध तो थे ही... बैठ गये नये शिष्य के कंधे पर। शिष्य गुरु को उठाकर चल दिया। अंधेरे में जंगल की पगडंडी पर चलना... और गुरु को उठाकर चलना सरल तो था नहीं। कहाँ गड्ढा होता है, कहाँ टीला होता है... कंधे पर बैठे आचार्य को धक्के लगते हैं... गिरने का भय भी लगता है। उनका क्रोध बढ़ता है। शिष्य को कठोर शब्द कहते हैं... शिष्य समताभाव रखता है! चूँकि वह साधु बना था... आजीवन सामायिक व्रत स्वीकार लिया था। आचार्य उसके मुंडित सर के ऊपर लकड़ी मारते हैं... सर में से खून बहता है... चिल्लाते हैं आचार्य : 'सीधा नहीं चलता है! मुझे जमीन पर गिराकर मार देगा...!'

नये शिष्य के मन में तनिक भी रोष नहीं आता है। 'मैं स्वयं चल कर शिष्य बना हूँ... मैंने इनको परेशान किये हैं... वे तो शान्ति से बैठे अपना काम करते थे... दोष उनका नहीं, मेरा है। ये तो मेरे परम उपकारी हैं...' ये थे उनके समतामूलक विचार। यह था उनका भाव सामायिक! हाँ, चलते-चलते... खड़े-खड़े... बैठे-बैठे भी भाव सामायिक हो सकता है।

शिष्य चलते-चलते आत्मचिंतन में लीन बने। समतायोग में स्थिर बने... और वे वीतराग-सर्वज्ञ बन गये! वीतराग-सर्वज्ञ को अंधेरे में भी दिखता है। उन्होंने गुरु को नहीं कहा कि : 'मुझे केवलज्ञान हो गया है!' वे तो चलते रहे! अब वे चलते-चलते लड़खड़ाते नहीं हैं... मार्ग दिखता है... सीधा चलते हैं। तब आचार्य ने

कहा : 'अब कैसा सीधा चलता है! डंडे की मार पड़ी कि ज्ञान हुआ... कह तो... कौन सा ज्ञान हुआ तुझे अब?'

'गुरुदेव, अप्रतिपाती [केवलज्ञान] ज्ञान हुआ है।'

'अप्रतिपाती ज्ञान? कब हुआ?' आचार्य छलाँग लगाकर शिष्य के कंधे से नीचे कूद पड़े और शिष्य के चरणों में गिर पड़े। बहुत पश्चात्ताप करने लगे... पश्चात्ताप करते-करते वे भी समतायोग में स्थिर हो गये। उनको भी केवलज्ञान की प्राप्ति होती है।

यह सारा प्रभाव सामायिक का है, भाव सामायिक का है।

सामायिक में अतिचारों से बचना है :

सामायिक की क्रिया करते-करते भाव सामायिक में प्रवेश होगा, परंतु सामायिक की क्रिया में अतिचार नहीं लगने देने चाहिए। यानी सामायिक की क्रिया को दोष नहीं लगने देने चाहिए। ग्रंथकार आचार्यश्री ने पांच अतिचार बताये हैं -

'योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थापनानि।'

१. पहला अतिचार है, मन का दुष्प्रणिधान। मन के पाप विचार।
२. दूसरा अतिचार है, वचन का दुष्प्रणिधान। पाप-वचन।
३. तीसरा अतिचार है, काया का दुष्प्रणिधान। काया की पाप प्रवृत्ति।
४. चौथा अतिचार है, प्रबल प्रमाद वगैरह के कारण सामायिक के प्रति अनादर।
५. पाँचवाँ अतिचार है, स्मृतिभ्रंश।

पहले तीन अतिचार नहीं लगे इसलिए जाग्रति आवश्यक है। यदि मन में पापविचार आ जाय तो तुरंत 'मिच्छामि दुक्कडं' दे देना चाहिए। पापविचारों का प्रायश्चित्त है, मिच्छामि दुक्कडं। इससे मन की शुद्धि हो जाती है। 'धर्मबिन्दु' के टीकाकार आचार्यश्री ने कहा है : **मिथ्यादुष्कृतेन मनोदुष्प्रणिधानमात्रशुद्धिश्च।** बड़ी महत्वपूर्ण है यह बात। मन की शुद्धि का सरल और सुंदर उपाय बता दिया है। परंतु 'मैंने यह पाप-विचार किया, नहीं करना चाहिये था...' इतना महसूस तो होना चाहिए न? विचारों के प्रति जागृति के बिना यह संभव नहीं है। 'मनःशुद्धि' का आग्रह होना जरूरी है।

साधुजीवन में भी यही उपाय है :

साधुजीवन में साधु-साध्वी के लिए मनःशुद्धि का यही 'मिच्छामि दुक्कडं' का प्रायश्चित्त बताया गया है। साधु-साध्वी को यावज्जीव का सामायिक होता है। जिंदगी

है मनुष्य की। मन की चंचलता कभी-कभी साधु-साध्वी को भी सताती है। जब कभी पापविचार आ जाय, 'मिच्छामि दुक्कडं' के पानी से मन को धो देना चाहिए।

एक बात ठीक से समझ लेना कि अतिचार युक्त धर्मानुष्ठान निरर्थक नहीं है। कोई बुद्धिमान कहते हैं : 'धर्म की क्रिया करना तो दोषरहित करना, दोष लगते हों तो धर्मक्रिया नहीं करना।' यह गलत धारणा है। जान-बूझकर तो कोई दोष लगाता नहीं है! अनजानपन से या प्रमाद से दोष लगते हैं। परंतु निरंतर अभ्यास करने से एक दिन वह क्रिया अतिचाररहित करनेवाले बन जाओगे। अतिचार लगने के भय से यदि क्रिया को छोड़ दिया तो कभी निरतिचार क्रिया करने का अवसर नहीं आयेगा।

सभा में से : कुछ लोग १०/१५ साल से सामायिक करते हैं, फिर भी उनकी सामायिक की क्रिया दोषयुक्त ही होती है, अतिचार लगते रहते हैं। १०/१५ साल का अभ्यास क्या कम है?

महाराजश्री : हाँ कम है! ५/१० या १५ वर्ष का अभ्यास नहीं, १५/२० जन्मों का अभ्यास होने पर निरतिचार धर्मक्रिया होगी! इसलिए टीकाकार आचार्यश्री ने स्पष्ट शब्दों में कहा है :

'अभ्यासोऽपि प्रायः प्रभूत जन्मानुगो भवति शुद्धः।'

'प्रायः' शब्द का प्रयोग इसलिए किया गया है कि कोई उद्बुद्ध और अल्प कर्मवाला मनुष्य एक जन्म में ही धर्मक्रिया दोषरहित बना सकता है। एक-दो वर्ष में ही निरतिचार धर्मक्रिया करनेवाला बन सकता है! परंतु ऐसे मनुष्य होते हैं लाख में एक या दो!

स्मृति को बनाये रखो :

कभी-कभी उम्र बढ़ने के साथ मनुष्य की स्मृति-याददास्त कम हो जाती है। उसको एक घंटे पहले की बात याद नहीं रहती है। 'मैंने आज सामायिक किया या नहीं? मुझे कब सामायिक करना है?' भूल जाता है। इससे सामायिक व्रत का भंग नहीं होता है, दोष लगता है। स्मृतिभंग होने में जीव का इतना दोष नहीं है। जबकि अनादर करने में जीव का ही दोष होता है।

सामायिक का अनादर नहीं करना है :

अनादर होता है प्रबल प्रमाद से। परंतु यह सबसे बड़ा दोष है। जैसे-तैसे करता है सामायिक। न विधि का आदर, न हृदय में सामायिक के प्रति बहुमान।

आदर से कभी तो वह सामायिक करता ही नहीं है, करता है तो समय का खयाल नहीं रखता है। लिया सामायिक और तुरंत पार लिया!

सभा में से : ऐसा करने से तो सामायिक का भंग ही हो जाता है न? इसको अतिचार क्यों कहा गया?

महाराजश्री : इसलिए कि वह व्रत के प्रति सापेक्ष भाववाला है। जैसा-तैसा भी करता है न! 'मुझे व्रत है, इसलिए मुझे सामायिक करना चाहिए।' ऐसा विचार रहने से व्रत का भंग नहीं होता है। फिर भी, अनादर करना बड़ा दोष है।

धर्मक्रिया के प्रति अनादर करने से पापकर्म का ऐसा बंधन होता है कि आनेवाले जन्मों में वह धर्मक्रिया करने को मिले ही नहीं। यानी पुण्यबंध करने की और कर्मों की निर्जरा करने की धर्मक्रियायें जनम-जनम नहीं मिलती हैं।

सामायिक से कर्मनिर्जरा :

सामायिक की क्रिया यदि भावपूर्वक की जाय तो उससे अनंत कर्मों की निर्जरा होती है। यानी पापकर्मों का नाश होता है। परमात्मपूजा, गुरुसेवा, सुपात्रदान, अनुकंपादान... वगैरह धर्मक्रियाओं से पुण्यकर्म का बंध विशेष रूप से होता है। सामायिक से विशेष रूप से कर्मनिर्जरा होती है। इसलिए प्रतिदिन एक सामायिक तो करना ही चाहिए!

खास करके जब आपके गाँव-नगर में साधुपुरुषों का समागम नहीं हो उस समय तो अवश्य सामायिक करना चाहिए। समूह में भी सामायिक कर सकते हैं। ४८ मिनट तो दुनिया का प्रपंच छोड़ना ही चाहिये और अपनी आत्मा के लिये कुछ करना चाहिए।

४८ मिनट की फुरसत निकालनी ही चाहिए। चाहे आप बड़े उद्योगपति हों या नौकरी करने वाले सर्वेन्ट हों। आप सामायिक करना शुरु करें... ६ महीने तक निरंतर करते रहें... बाद में आप अपना अनुभव मुझे बताना। फिर आप सामायिक किये बिना रह नहीं सकोगे। आपको सामायिक की लगन लग जायेगी। आप अपूर्व शान्ति का अनुभव करेंगे।

आपको सामायिक व्रत से शान्ति-समता और प्रसन्नता प्राप्त हो और आप समतायोगी बनकर सर्वज्ञ-वीतराग बनें यही मंगल कामना,

आज बस, इतना ही -

प्रवचन-२०

परम कृपानिधि महान् श्रुतधर आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी स्वरचित 'धर्मबिन्दु' ग्रन्थ के तीसरे अध्याय में गृहस्थजीवन का विशेष धर्म बता रहे हैं। विशेष धर्म है बारह व्रतों का।

सम्यग्दृष्टि गृहस्थ यदि बारह व्रतों का यथाशक्ति पालन करता है, तो इस वर्तमान मनुष्यजीवन को तो धन्य बनाता ही है, आनेवाले जन्मों को भी धन्य बनाता है। अनन्त-अनन्त पापों से वह बच जाता है और जो पाप करने पड़ते हैं, उन पापों से जो कर्मबन्ध होता है, वह अति अल्प होता है। चूँकि व्रतधारी गृहस्थ रसपूर्वक पाप नहीं करेगा। हृदय में दुःख धारण करता हुआ वह पाप करेगा कि जो अनिवार्य रूप से संसार में करना पड़ता है।

देशावकासिक व्रत क्यों और कैसे :

दूसरा शिक्षाव्रत है, देशावकासिक। देश यानी अल्प और अवकाश यानी निवृत्ति। दिन में अल्प समय की निवृत्ति लेने का यह व्रत है। संपूर्ण दिन निवृत्त नहीं रहना है। सुबह और शाम प्रतिक्रमण और आठ सामायिक करने का अवकाश चाहिए। इतनी ही निवृत्ति चाहिए।

यह अवकाश निकालने का प्रयोजन है अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत जो लिये हों, उन व्रतों का पर्यालोचन करना और लिए हुए व्रतों को विशेष रूप से ग्रहण करने के लिये सोचना। व्रतपालन की स्वयं की शक्ति और मर्यादा देखते हुए प्रतिवर्ष व्रतों में फेरफार-परिवर्तन किया जा सकता है। यदि व्रत एक वर्ष की मर्यादा से ग्रहण किये हों तो। यदि यावज्जीव के लिये व्रत लिये हों तो विशेष रूप से परिवर्तन हो सकता है, परन्तु कम नहीं किये जा सकते और ज्यादा अपवाद भी नहीं ले सकते। यानी व्रतों का संक्षेपीकरण किया जा सकता है।

कुछ प्राचीन आचार्यों का मत ऐसा है कि यह देशावकासिक व्रत मात्र दिशापरिमाण व्रत [छठे] का संक्षेप करने के लिये है! उनका तर्क यह है कि इस देशावकाशिक व्रत के अतिचार, दिशापरिमाण व्रत के अतिचार जैसे ही हैं।

ठीक है, दिशापरिमाण व्रत का पर्यालोचन कर उसका संक्षेप यदि करना है तो कर लेना, बाद में दूसरे व्रतों का पर्यालोचन और संक्षेप करना। समय आठ सामायिक का है। बहुत अच्छे ढंग से व्रतों का पर्यालोचन हो सकता है। अपने

संयोग और सामर्थ्य का भी चिन्तन हो सकता है!

व्रतों का पर्यालोचन कैसे करेंगे?

जैसे कि आपने 'दिशापरिमाण व्रत' ग्रहण किया हुआ है। हर दिशा में आपने २००/२०० किलोमीटर जाने की मर्यादा रखी है। अब आप 'देशावकासिक' व्रत लेकर बैठे हैं, आप सोचें कि बीते हुए वर्ष में आप किसी भी दिशा में भूल से, प्रमाद से या जानबूझकर २०० किलोमीटर से ज्यादा दूर नहीं गये हैं न? यदि गये हैं, तो आप सोचें कि 'जब सद्गुरु का संयोग मिलेगा तब उनसे इस भूल का प्रायश्चित्त ले लूँगा और आगे ऐसी भूल नहीं करूँगा।'

यदि सोचने पर मालूम हो कि किसी भी दिशा में मैं १०० किलोमीटर से ज्यादा दूर नहीं गया हूँ। और भविष्य में १०० किलोमीटर से ज्यादा दूर जाने की आवश्यकता भी पड़नेवाली नहीं है, तो फिर मैं १०० किलोमीटर की ही मर्यादा क्यों न कर लूँ? आज दिन तक २०० किलोमीटर की मर्यादा है, अब मैं १०० किलोमीटर की मर्यादा बाँध सकता हूँ।

परन्तु मुझे, संभव है कि पूर्व दिशा में कभी २०० किलोमीटर जाना पड़ सकता है, तो मैं पूर्व दिशा में २०० किलोमीटर की मर्यादा रख लूँ और शेष सभी दिशाओं में १००/१०० किलोमीटर की मर्यादा कर दूँ।

परन्तु मुझे उर्ध्व [ऊपर] और अधो [नीचे] दिशा में एक/एक K.M. से ज्यादा जाना पड़ता ही नहीं है! ऊपर हवाई जहाज में मुसाफरी करने में कभी दो K.M. जाना पड़ता है, परंतु नीचे तो ५० सीढ़ी से ज्यादा नहीं उतरना पड़ता है, इसलिये क्यों आधा K.M. की मर्यादा नहीं कर लूँ? कर लेनी चाहिए।

हाँ, कभी... ऐसी बिमारी आ जाय कि अमरीका जाकर अथवा U.K. जाकर ऑपरेशन करना पड़ जाय... तो मैं, अपवाद रख सकता हूँ कि बिमारी के कारण कोई भी दिशा में कितना भी दूर जा सकूँगा।'

इस प्रकार आप हर व्रत के विषय में आलोचन कर सकते हैं। ग्रहण किये हुए व्रतों का पुनर्विचार करने का ही यह व्रत है।

इस व्रत में भी, दूसरे व्रतों की तरह अतिचार लगने की संभावना बताते हुए ग्रंथकार आचार्यश्री ने कहा है :

'आनयन-प्रेष्यप्रयोग-शब्द-रूपानुपात-पुद्गलप्रक्षेपाः।'

पाँच अतिचार :

इस प्रकार पाँच अतिचार बताये हैं।

१. पहला अतिचार है, बाहर से वस्तु मँगवाने की चालाकी करना,
२. दूसरा अतिचार है, वस्तु मर्यादा से बाहर के क्षेत्र में भेजना,
३. तीसरा अतिचार है, बाहर खड़े मनुष्य को बुलाने के लिए छींक खाना, खंखार करना वगैरह,
४. चौथा अतिचार है, बाहर खड़े मनुष्य को अपना रूप बताने की चेष्टा करना।
५. पाँचवाँ अतिचार है, कंकड़ वगैरह फेंककर 'मैं यहाँ आया हूँ,' ऐसा बताने की चेष्टा करना।

सभा में से : स्वेच्छा से व्रत लेने पर ऐसे अतिचार... ऐसी भूलें मनुष्य क्यों करता है? हाँ, किसी के आग्रह से, अनिच्छा से व्रत लेता है... तो ऐसी भूलें करना संभवित है।

महाराजश्री : व्रत ग्रहण करते समय मनुष्य के भाव विशुद्ध और प्रवर्धमान होते हैं। उस समय वह सोचता है कि 'मैं जिस प्रकार व्रत ग्रहण करता हूँ उसी प्रकार पालन करूँगा।' परंतु जीवात्मा के भाव एक समान नहीं रहते हैं। कभी भाव बढ़ते रहते हैं, कभी गिरते रहते हैं... तो कभी कुछ समय के लिये भाव वैसे के वैसे अवस्थित रहते हैं। यह मन का स्वभाव है। व्रत लेते समय भाव बढ़ते हुए होते हैं, व्रत लेने के पश्चात् भाव गिर भी सकते हैं... जब गिरते हैं तब ये दोष, ये अतिचार लगते हैं! गिरता हुआ मन, अशुभ विचारों को प्रवाहित करता है। व्रत ग्रहण करने के बाद जब भाव गिरते हैं तब व्रत बंधनरूप लगते हैं। फिर भी, यदि गृहस्थ पापभीरू होता है तो व्रत का भंग करने का नहीं सोचेगा। भंग नहीं हो, उस बात की सावधानी रखता हुआ, व्रतों को सिर्फ दोष लगे, वैसा काम करेगा। 'मेरा व्रत टूटा तो नहीं है न! टूटना नहीं चाहिए...' ऐसा सोचता है, यह भी उसकी 'व्रतसापेक्षता' है। ज्ञानी पुरुषों ने 'व्रतसापेक्षता' का मूल्यांकन बहुत किया है।

व्रत सापेक्षता चाहिए ही :

व्रत सापेक्षता यानी व्रत का पक्षपात। व्रतधारी मनुष्य को व्रत का पक्षपाती होना ही चाहिए। कभी पापकर्मों का प्रबल आवेग आने पर वह पाप करने का सोच लेता है और पाप कर भी लेता है, परंतु व्रत का पक्षपात होगा उसके हृदय में, तो वह पुनः व्रत में स्थिर होगा और व्रतभंग करने का या व्रत को दूषित करने का पश्चाताप करेगा, प्रायश्चित्त भी करेगा। व्रत छोड़ने पर भी व्रत का पक्षपात बना रहता है तो मनुष्य व्रत और व्रतधारियों का प्रशंसक बना रहेगा। व्रत और व्रतधारी की प्रशंसा, व्रतपक्षपात की निशानी है। इसलिए कभी व्रतभ्रष्ट व्यक्ति, व्रत और व्रतधारी की प्रशंसा करता हो, तो आप उसे दंभ नहीं मानें, उसका उपहास नहीं करें। उसका मूल्यांकन करना होगा। 'यह महानुभाव व्रतभष्ट हुआ है परंतु उसके

हृदय में व्रत का पक्षपात है, इसलिए कभी न कभी यह व्यक्ति पुनः व्रतधारी बन सकता है।' ऐसा सोचने से व्रत सापेक्षता के भाव का मूल्यांकन होता है।

इस बात को पुष्ट करनेवाले उदाहरण हैं नंदिषेण मुनि, आषाढ़ाभूति मुनि, अरणिक मुनि वगैरह के। अलबत्ता, मोहनीय कर्म के प्रबल उदय से वे व्रतभ्रष्ट हुए थे जरूर, परंतु उनके हृदय में व्रतों का पक्षपात भी अवश्य था। इसलिए जब उनको निमित्त मिला उत्थान का, वे जाग गये और पुनः व्रतधारी बन गये।

कभी-कभी ऐसे व्रतधारी श्रावक-श्राविका हमारे पास आते हैं। व्रतों में जो दोष लगे होते हैं, वह कहते हैं और प्रायश्चित्त लेते हैं। व्रतभंग हो गया हो तो भी कहते हैं, प्रायश्चित्त लेकर वे अपनी आत्मा को निर्मल बनाते हैं। व्रतों के प्रति प्रेम होता है, इसलिये व्रतभंग होने पर हृदय में दुःख होता है और प्रायश्चित्त लेने की भावना होती है।

सभा में से : तो फिर व्रतभंग कैसे होता है?

महाराजश्री : सत्त्व कम पड़ जाने से! बैटरी में पावर होते हुए भी प्रकाश नहीं होता है, ऐसा होता है न? पावर है परंतु पावरलेस! वैसे व्रत हैं परंतु सत्त्व कम पड़ जाने पर या सत्त्व नष्ट हो जाने पर व्रतभंग हो जाता है। सेल नये डाल दो टॉर्च में... फिर प्रकाश ही प्रकाश! वैसे सत्त्व जाग्रत होने पर पुनः व्रतपालन शुरु हो जाता है।

व्रतपालन के लिए सत्त्व चाहिए :

सत्त्व आधार होता है व्रतपालन में। इसलिए सत्त्व को बनाये रखना चाहिए। सत्त्व को बनाये रखने के लिए सत्त्वशील पुरुषों का संपर्क... परिचय रखना चाहिए। सत्त्वशील व्रतधारी स्त्री-पुरुषों के परिचय से, आपकी बैटरी 'चार्ज' होती रहेगी! पावर डल नहीं पड़ जायेंगे। व्रतपालन में दृढ़ता बनी रहेगी। व्रतभंग के कैसे भी निमित्त उपस्थित हो जायें, आप अपने व्रत में दृढ़ बने रहोगे। व्रत को दूषित करनेवाले और व्रत को भंग करनेवाले निमित्त इस दुनिया में सर्वत्र होते हैं। सत्त्वशील व्रतधारी मनुष्य उन निमित्तों के सामने अडिग रहेगा।

'प्राण जाते हों तो चले जाएँ, मैं व्रतभंग नहीं करूँगा!' यह निर्णय सत्त्वशील पुरुष का होता है। 'जो नुकसान होता हो, हो जाय, मैं व्रतभंग कर मेरी आत्मा को नुकसान नहीं पहुँचाऊँगा।' यह बात होती है सात्त्विक मनुष्यों की। आचार्यदेवश्री हरिभद्रसूरिजी ने 'योगदृष्टि समुच्चय' नामक ग्रंथ में कहा है :

'प्राणान् त्यजति धर्मार्थं, न धर्मं प्राणसंकटे।'

'अपने व्रतधर्म की रक्षा के लिए प्राणों का त्याग करेगा, परंतु प्राणों को बचाने के लिए व्रतधर्म का त्याग नहीं करेगा!' यह बात कही गई है सत्त्वशील पुरुषों के लिए, सत्त्वशील सन्नारियों के लिए।

सत्त्व गिरता है, भाव गिरते हैं, व्रत दूषित होते हैं :

जो निःसत्त्व जीव होते हैं, वे कभी भावावेश में बहकर, अपनी शक्ति-सामर्थ्य का विचार किये बिना व्रत ले लेते हैं... निःसत्त्व तो होते ही हैं... कोई वैसा निमित्त मिला... व्रत को अतिचार लगते हैं या व्रतभंग कर देते हैं! जैसे कि -

- ❖ एक भाई ने कहा : मैंने रात्रिभोजन नहीं करने की प्रतिज्ञा ली थी, परंतु तीन-चार बार रात्रिभोजन कर लिया। चूँकि रात में जोरों की भूख लगी थी... घर पहुँचा तब रात हो गई थी... खाये बिना चले वैसा नहीं था... वगैरह।
- ❖ दूसरे एक भाई ने कहा : मैंने जमीनकंद नहीं खाने की प्रतिज्ञा ली थी। लंबी ट्रावेलिंग थी, रास्ते में दूसरी कोई सब्जी नहीं मिलती थी, इसलिए मैंने तीन-चार आलू... प्याज खा लिये थे...। एक-दो बार शादी के भोजन में गया था, मित्रों के अति आग्रह से जमीनकंद खा लिया था।
- ❖ एक भाई ने कहा : मैंने चोरी [पैसे की] नहीं करने की प्रतिज्ञा ली थी, परंतु एक बार पैसे की अत्यंत आवश्यकता होने पर, सेठ को बिना पूछे तिजोरी में से १० हजार रुपये ले लिये थे!

ये सब निःसत्त्व व्रतधारी मनुष्यों के उदाहरण हैं!

इसी देशावकासिक व्रत के विषय में एक व्रतधारी ने आलोचना करते हुए कहा था : 'मैंने चार दिशा में ५०० K.M. से ज्यादा नहीं जाने की प्रतिज्ञा की थी, परंतु मुझे पूर्व दिशा में एक बार ६०० K.M. जाना पड़ा... चूँकि मेरे मित्र की शादी थी, उसकी बारात में जाना बहुत जरूरी था... मुझे उस दोष का प्रायश्चित्त दो!'

कहिए, मित्र की शादी की बारात में जाने के लिये व्रत तोड़ दिया! यह निःसत्त्वता है। कायरता है। निःसत्त्व और कायर लोग ही अतिचार लगाते हैं।

पहला अतिचार :

पहला अतिचार कैसे लगाता है व्रतधारी मनुष्य, यह बताता हूँ। मान लो कि उसने उत्तर दिशा में ५० K.M. से ज्यादा दूर नहीं जाने का नियम किया है। अब एक दिन उसी दिशा में ६० K.M. दूर सोना, चांदी या दूसरी कोई वस्तु मिलती है। यदि वह मिलती है तो अच्छा अर्थलाभ होता है। वह सोचता है : 'यदि मैं ६० K.M. जाता हूँ तो मेरे व्रत का भंग होता है, नहीं जाता हूँ तो अर्थलाभ नहीं होता है। तो क्या करूँ? दूसरे विश्वसनीय मनुष्य को भेजकर वह माल मंगवा लूँ। अथवा चिट्ठी लिखकर भेज दूँ.... इससे व्रतभंग भी नहीं होगा और माल भी मिल जायेगा।' इस प्रकार सोचकर यदि वह माल मंगवाता है तो उसको अतिचार लगता है। व्रत दूषित होता है।

दूसरा अतिचार :

जिस प्रकार व्रतधारी मनुष्य, अपनी निश्चित मर्यादा से बाहर की वस्तु मंगवाने का उपक्रम करता है तो अतिचार लगता है, वैसे निश्चित मर्यादा से बाहर वस्तु भेजने का उपक्रम करता है, तो भी अतिचार लगता है।

ये दोनों अतिचार लगने का मूल कारण होता है, लोभ, लालच और तीव्र स्पृहा। परंतु व्रतभंग नहीं करता है...। रास्ता निकाल लेता है!

सभा में से : जिस प्रकार हम टैक्स भरने में रास्ता निकालते हैं वैसे?

महाराजश्री : वैसा ही समझ सकते हो! फर्क इतना ही है कि आपके ऊपर सरकार ने टैक्स थोपा है, यहाँ व्रतधारी ने स्वेच्छा से व्रत को स्वीकार किया है! व्रत, टैक्स की तरह थोपा गया हो और मनुष्य गलियाँ खोजे बचने की, तब तो ठीक है, परंतु स्वेच्छा से व्रत लेने के बाद, भय अथवा लोभ की वजह से व्रत को अतिचार लगाये, वह अच्छा नहीं है।

तीसरा अतिचार :

व्रत से प्रेम होता है तो व्रत को दूषित करने का काम नहीं होता है। मूलभूत बात यह है कि व्रत का प्रेम होना चाहिए। ज्यों-ज्यों व्रत का प्रेम बढ़ेगा त्यों-त्यों व्रतपालन अच्छा होगा। ज्यों-ज्यों व्रत का प्रेम कम होता जाएगा, अतिचारों का सेवन बढ़ता जाएगा!

तीसरा अतिचार तब लगता है, जब व्रतधारी ने घर से बाहर, या घर के कम्पाउन्ड से बाहर नहीं जाने की प्रतिज्ञा की होती है। वैसी प्रतिज्ञा लेकर वह घर में बैठा है, बाहर कोई मनुष्य खड़ा है, उससे बात करनी है। वह तो घर से बाहर जा नहीं सकता है! उसको घर में बुला भी नहीं सकता है कि : 'लल्लुभाई जरा घर में आईये, आपसे बात करनी है!' इस प्रकार बुलाने पर व्रत का भंग हो जाता है। इसलिए उस बाहर खड़े हुए मनुष्य को बुलाने के लिये छींक खाता है... खंखार खाता है... कि जिससे बाहरवाला व्यक्ति समझ जाय कि मुझे घर में बुला रहा है!'

इस प्रकार की चालाकी से अतिचार लगता है।

चौथा अतिचार :

चौथा अतिचार भी इसी प्रकार का है। बाहर खड़े हुए मनुष्य को घर में बुलाने के लिए [स्वयं बाहर नहीं जाना है, इसलिए] वह छींक नहीं खाता है, ताली नहीं बजाता है, परंतु स्वयं घर के दरवाजे के पास जाकर खड़ा रहता है। जिससे वह

बाहरवाला मनुष्य उसको देख सके और वह स्वयं घर में चला आये। इस प्रकार की चालाकी करने से अतिचार लगता है।

पाँचवाँ अतिचार :

पाँचवाँ अतिचार भी ३-४ अतिचार जैसा ही है। कपट-कार्य में फर्क है। अपनी मर्यादा से बाहर खड़े हुए मनुष्य को बुलाने का ढंग बदलता है। कंकड़ फेंककर उसका ध्यान आकर्षित करता है, अथवा दूसरी कोई वस्तु फेंककर उस व्यक्ति को अपने पास बुलाता है। 'मैं मेरी मील की या K.M. की मर्यादा से बाहर नहीं जा सकता, जाने से व्रतभंग होता है, मुझे व्रतभंग नहीं करना है और कार्य करना है... इसलिए दूसरा उपाय खोज कर कार्य करूँ!'

सभा में से : ऐसा करने पर, भाव से तो व्रतभंग हो जाता है न?

महाराजश्री : हाँ, हो जाता है। व्यवहार से भंग नहीं होता, अतिचार लगता है। जो मनुष्य व्यवहार से भी व्रतभंग नहीं करता है, वह एक दिन भाव से व्रतपालन करने के लिए समर्थ बन सकता है। 'मेरा व्रतभंग नहीं होना चाहिए,' यह है व्रतसापेक्षता। यदि व्रतसापेक्षता नहीं रहती है तो व्रतभंग हो जाता है।

व्रतपालन में निवृत्ति का लक्ष्य चाहिए :

सही बात यह है कि व्रत ग्रहण करते समय मनुष्य का लक्ष्य निवृत्ति का होना चाहिए। प्रेम प्रवृत्ति का होता है और व्रत निवृत्ति का लेता है, इससे इस प्रकार के अतिचार लगते हैं।

ग्रंथकार आचार्यदेव ने इसलिए प्रारंभ में ही कहा है कि जो भी व्रत लें, सोच-समझ कर लें। अपनी शक्ति का विचार करके लें। भावावेश में बहकर व्रत नहीं लेना चाहिए।

'मुझे मेरी सांसारिक प्रवृत्तियाँ सीमित करनी हैं, अब मुझे निवृत्ति की ओर अग्रसर होना है,' ऐसा निर्णय आत्मसाक्षी से करना चाहिए। तभी व्रतपालन में दृढ़ता आती है। अन्यथा प्रवृत्तियों का आकर्षण, व्रतों में दूषण लगाता रहता है। यहाँ आज बताये गए पाँचों अतिचार, प्रवृत्ति के आकर्षण की वजह से ही लगते हैं, यह स्पष्ट बात है। मात्र व्रतसापेक्षता के भाव की वजह से ही बच जाता है मनुष्य, अन्यथा व्रतभंग ही हो जाय!

आचारमार्ग की अनिवार्यता : रावण की एक बात :

सभा में से : व्रतपालन आचारमार्ग है, आचारमार्ग पर इतना ज्यादा जोर क्यों दिया जाता है?

महाराजश्री : किसी भी धर्म की आधारशिला आचारमार्ग है। भारत के जिन-जिन धर्मों ने आचारमार्ग को गौण कर दिया, महत्त्व नहीं दिया, वे धर्म विलुप्त-प्रायः हो गये। वैसे, जिन मनुष्यों ने शुभ-श्रेष्ठ आचारमार्ग को जीवन में स्थान नहीं दिया, वे मनुष्य पापों के गहरे खड्डे में गिर गये, उनका पतन हो गया। इसीलिए विशिष्ट ज्ञानी पुरुषों ने सुंदर आचारमार्ग प्रतिपादित किया है। शुभ-प्रशस्त आचारों का पालन करने से मनुष्य अनेक अनर्थों से, पापों से, दुराचारों से बच जाता है। मनुष्य के पास कितनी भी कलायें हो, कितना भी बल हो, धन हो, वैभव हो... परंतु यदि सम्यग् आचार नहीं हैं, तो सब कुछ व्यर्थ है।

रावण के समय की एक बात है। है यह पुराणकथा।

रावण की राजसभा में एक महर्षि पधारे। रावण साधु-मुनि-महर्षियों को मान-सम्मान देता था। जब राजसभा में महर्षि पधारे, रावण ने उनका सम्मान किया। रावण ने अपने राज्य में विविध प्रयोगशालाएँ स्थापित की थीं। उसने वे सारी प्रयोगशालाएँ महर्षि को बता दी। विज्ञानशाला, चिकित्साशाला, शस्त्रशाला, नृत्यशाला, संगीतशाला, व्यायामशाला... वगैरह शालाएँ बता दी महर्षि को।

महर्षि ने सभी शालाओं को देखकर बहुत प्रशंसा की। जाते समय उन्होंने रावण को कहा : 'हे लंकेश, मुझे ऐसा लगता है कि ये सारी प्रयोगशालायें शीघ्र नष्ट हो जायेंगी।'

रावण चौंका। उसने पूछा : 'भगवंत, ऐसा क्यों?'

महर्षि ने कहा : 'राजन्, तुमने इन सभी शालाओं की आधारभूत शाला बनायी नहीं है...।'

रावण ने पूछा : 'भगवंत, आधारभूत शाला कौन सी है?'

महर्षि ने कहा : 'सदाचार-शाला!'

इतना कहकर महर्षि चले गये। रावण गहरे सोच में डूब गया।

वर्तमान की दयनीय स्थिति :

आज भी देश और दुनिया में यही स्थिति नजर आती है। कितने प्रकार की शालाएँ खुली हैं! प्रयोगशाला, नृत्यशाला, रसायनशास्त्र की शाला, चिकित्साशाला... विद्यालय, महाविद्यालय, संगीतशालाएँ... कितने प्रकार की क्लबें खुली हैं? यह सब कुछ होते हुए भी मनुष्य दुःखी, अशान्त और त्रस्त है। चूँकि सदाचारशाला नहीं है!

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की शिक्षा देनेवाली शालाएँ

कहाँ हैं? ऐसी शालाएँ नहीं होने की वजह से आज घोर हिंसा... पशुओं की और मनुष्यों की चल पड़ी है। कदम-कदम पर मनुष्य असत्य बोल रहा है। चोरी, अनीति, बेईमानी... बेहद बढ़ रही है। 'ब्रह्मचर्य' शब्द तो आज युवा पीढ़ी भूल ही गई है। दुराचार-व्यभिचार व्यापक बन गये हैं। अपरिग्रह के प्रति प्रायः लोगों की श्रद्धा नष्ट हो गयी है। लोभ और परिग्रह के नागपाश में मनुष्य बंध गया है।

परमार्थ और परोपकार की शिक्षा देनेवाली शालाएँ कहाँ है? विनय और मर्यादाओं की शिक्षा कहाँ मिलती है? भक्ष्य और अभक्ष्य, पेय और अपेय का बोध कराने वाली शालाएँ कहाँ हैं? अंडे, मछली और मांसाहार का प्रचार-प्रसार कितना बढ़ रहा है? शराब पीनेवालों की संख्या कितनी बढ़ गई है? पानी की तरह शराब पी रहे हैं लोग! इससे मनुष्य विनाश की ओर अग्रसर होता जा रहा है।

व्रत-नियमों की आज अनिवार्यता है :

ऐसी स्थिति में व्रत और नियम कितने आवश्यक हैं, यह बात आप लोग समझ सकते हैं। यहाँ बैठे हुए कई महानुभाव इसलिए परेशान हैं, चूँकि उनके घरों में शराब की बोतलें आ गयी हैं! उनके घरों में अंडे आने लगे हैं! वे रोक नहीं सकते हैं। परेशान हैं! परंतु क्या वे लोग अपनी भूल कबूल करेंगे? कि उन्होंने संतानों को बचपन से व्रत-नियमों की महिमा बतायी नहीं। बचपन से सदाचारों की शिक्षा दी नहीं। बचपन से पापों का भय संतानों के मन में भरा नहीं... ये बातें कबूल करेंगे वे लोग?

उपसंहार :

अब भी आप लोग सावधान होकर, व्रत-नियमों की महिमा, सदाचारों की महिमा समझें। आपके और आपके परिवार के लोगों के जीवन में व्रतपालन हो-वैसा वातावरण पैदा करें। वातावरण बिगड़ता जा रहा है, फिर भी रोक लगा सकते हो। निराश होने की आवश्यकता नहीं है। उपाय और उपचार खोजते रहो। अवश्य वैसे उपाय मिलेंगे।

'देशावकासिक व्रत' उन लोगों के लिए हैं, जिन्होंने बारह व्रत अंगीकार किये हैं और उनकी मनोवृत्ति निवृत्ति की ओर आकर्षित हो गई है! व्रतपालन विशेष दृढ़ता से करने के मनोरथ उनके मन में पैदा हुये हैं।

ऐसे लोग इस व्रत का, दोष लगाये बिना, अच्छी तरह पालन कर सकते हैं। निवृत्ति का लक्ष्य बनाकर, व्रतग्रहण कर, अच्छी तरह व्रतपालन कर, आत्मकल्याण के पथ पर अग्रसर होते रहो, यही मंगल कामना। आज बस, इतना ही।

परम कृपानिधि महान श्रुतधर आचार्य श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी ने स्वरचित 'धर्मबिन्दु' ग्रन्थ के तीसरे अध्याय में गृहस्थ जीवन का विशेष धर्म प्रतिपादित किया है। यह विशेष धर्म बारह व्रतमय है। आपको १० व्रत समझाये, आज ग्यारहवाँ व्रत समझाना है।

मैंने कल आप लोगों को कहा था, ये सारी बातें निवृत्तिमार्ग की हैं। संसार की प्रवृत्तियों से मुक्त होने की भावना हो और मोक्षमार्ग की सत्प्रवृत्तियाँ-जो कि निवृत्तिरूप हैं, उनमें अभिरुचि हो, तभी ये व्रत ग्रहण करने के होते हैं और सुचारु रूप से पालन करने के होते हैं।

पौषध व्रत :

आज जिस व्रत की बात करनी है मुझे, वह पौषध व्रत तो एक प्रकार की साधुता ही है! पौषध व्रत करनेवाला मनुष्य २४ घंटे के लिये या १२ घंटे के लिये श्रमण-साधु बन जाता है! साधु जैसी ही सारी दिनचर्या होती है पौषध व्रत में!

यदि मनुष्य महीने में दो-चार पौषध करता रहे तो अनेक चिंताओं से, संतापों से और उपाधियों से भरी हुई जिंदगी से कुछ 'रीलेक्स' होता है, राहत मिलती है और 'यह मनुष्य जीवन साधुता के लिए ही है,' यह आदर्श स्मृति में बना रहता है।

ज्ञानी पुरुषों ने इसी दृष्टि से कहा है कि चतुर्दशी के दिन, अष्टमी के दिन, पंचमी के दिन पौषध किया करो। पर्वतिथियाँ निवृत्तिमय जीवन जीने के लिये हैं। पापमय, अशान्तिमय, क्लेशमय जीवन पर्वतिथियों में नहीं जीना है। घर और दुकान से दूर रहने का अभ्यास करना आवश्यक है। पौषध ही वह अभ्यास है। निरंतर घर और दुकान के साथ रहनेवाले लोग अशान्त और संतप्त रहते ही हैं। आप लोगों को अनुभव होगा।

सभा में से : ऐसा ही है।

महाराजश्री : तो फिर पौषधव्रत के प्रति उपेक्षा क्यों? 'पौषध' एक प्रकार की शान्ति पाने की, स्वस्थता पाने की श्रेष्ठ व्यवस्था है। संसार के सभी व्यवसायों से मुक्ति! यह मुक्ति २४ घंटे की ले सकते हो, १२ घंटे की ले सकते हो। मुक्ति चाहिए तो मिल सकती है।

पौषधव्रत की चार पालनायें :

❖ पौषधव्रत में चार बातों का पालन करना होता है। पहली बात है तपश्चर्या की। उपवास के साथ पौषध करें तो श्रेष्ठ है, परंतु उपवास नहीं कर सकते हैं तो आयंबिल कर सकते हैं, अथवा एकासन कर सकते हैं। आयंबिल अथवा एकासन करने अपने घर जा सकते हैं, दूसरे के घर भी जा सकते हैं।

❖ सुबह-शाम प्रतिक्रमण तो करना ही होता है। प्रतिक्रमण का समावेश चार बातों में नहीं है।

❖ दूसरी बात है स्नान की। यदि आपको सुबह पौषधव्रत लेना है तो आपको स्नान नहीं करना चाहिए। और, जब स्नान नहीं करना है तो परमात्मा की द्रव्यपूजा भी नहीं करने की है। हाँ, यदि आपका गृहमन्दिर है, आपके सिवा दूसरा कोई गृहमन्दिर में पूजा करनेवाला नहीं है, तो आप अल्प पानी से स्नान कर, पूजा करके बाद में पौषध ले सकते हैं। तात्पर्य यह है कि पौषधव्रत में शरीर की शोभा, शरीर का शृंगार नहीं करना है।

❖ तीसरी बात है ब्रह्मचर्य के पालन की। पौषधव्रत में तो ब्रह्मचर्य का पालन करना है, परंतु उसके पूर्व १२ घंटे का ब्रह्मचर्यपालन होना चाहिए। वैसे, दिन का १२ घंटे का पौषध किया हो, शाम को प्रतिक्रमण कर, पौषधव्रत पूर्ण कर घर पर जाय, तो उस रात में भी ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। यानी दो रात और एक दिन ब्रह्मचर्य का पालन होना चाहिए। जिससे आप पौषधव्रत में अच्छा आत्मचिंतन कर सकते हैं।

❖ चौथी बात है व्यापार की। पौषधव्रत में आपको घर-दुकान की कोई भी प्रवृत्ति नहीं करने की है। घर-दुकान संबंधी बातें भी नहीं करने की है। विचार भी वैसे नहीं करने के हैं। पैसे की लेनदेन नहीं करने की है। पैसे को छूने का भी नहीं है।

सभा में से : महिलायें तो पौषधव्रत में पैसे अपने पास रखती हैं।

महाराजश्री : नहीं रखने चाहिए पैसे! मानो कि किसी धर्मकार्य में पैसे देने हैं, तो पौषध में नहीं देने चाहिए। पौषध के पहले या बाद में देने चाहिए।

सभा में से : महिलाओं के संवत्सरी प्रतिक्रमण में, कुछ सूत्र बोलते हैं उस समय वहाँ पैसे रखने पड़ते हैं, उपाश्रय-धर्मशाला का 'टैक्स' भी उसी दिन देना पड़ता है, इसलिए पौषध में भी महिलाओं को पैसे अपने पास रखने पड़ते हैं।

महाराजश्री : ऐसी प्रथायें गलत हैं। बंद कर देनी चाहिए ऐसी प्रथायें। पैसे लेने हैं तो लो, परंतु पौषधव्रत दूषित हो उस प्रकार नहीं लेने चाहिए।

पौषधव्रत इन चार बातों से ही महत्वपूर्ण है।

चार महान आदर्श :

❖ आहार संज्ञा पर विजय पाने के लिये उपवास है।
❖ देहासक्ति तोड़ने के लिये शरीरशृंगार वर्ज्य है।
❖ मैथुनसंज्ञा पर विजय पाने के लिये ब्रह्मचर्यपालन है।
❖ परिग्रहसंज्ञा पर विजय पाने के लिये अ-व्यापार है।

सर्वसावद्य (पाप) के त्यागरूप तो है ही पौषधव्रत, परंतु इन चार बातों पर विशेष लक्ष्य देना अति आवश्यक है।

आहारसंज्ञा से जो अनर्थ पैदा होते हैं, उन अनर्थों को आप जानेंगे तो उपवास का महत्त्व समझ पायेंगे। आहारसंज्ञा यानी खाने-पीने की मनोवृत्ति। भूख लगती है और खाने की इच्छा होती है यह आहारसंज्ञा नहीं है। भूख नहीं हो तब भी खाने के ही विचार मन में चलते रहें-यह आहारसंज्ञा है।

सभा में से : उपवास करते हैं तो खाने के विचार ज्यादा आते हैं। इसलिए उपवास के पारणे में भान नहीं रहता है!

महाराजश्री : यदि आप 'मुझे आहारसंज्ञा पर विजय पाना है,' इस दृष्टि से उपवास करेंगे तो उपवास के दिन खाने के विचार नहीं आयेंगे परंतु 'मुझे अणाहारी बनने के लिये क्या करना चाहिए,' ये विचार आयेंगे। पौषधव्रत के साथ उपवास होने से, चिंतन-मनन करने का अवकाश मिलता है। आहारसंज्ञा को निर्मूल करने के उपाय सोचे जा सकते हैं।

दूसरी बात है देहासक्ति तोड़ने की। देह की, शरीर की आसक्ति तोड़ने के लिए पहला उपाय यही है-देह को सजाना नहीं, देह के रूप को देखना नहीं, देह की ज्यादा तुष्टि-पुष्टि करना नहीं। परंतु प्रतिदिन संसार-व्यवहार में यह बात संभवित नहीं है। इसलिए 'पौषधव्रत' में शरीर का शृंगार नहीं करने का कहा गया है। महीने में ऐसे दो-चार पौषध कर लिये जायें... और उसमें 'शरीर और आत्मा' के भेद ज्ञान का अभ्यास किया जाय तो देहासक्ति टूट सकती है।

'मैं आत्मा हूँ, मैं शरीर नहीं हूँ...' यह बात मन में गहरी उतर जानी चाहिए। यह बात हृदय में जँचे बिना, सच्ची ज्ञानदृष्टि खुलती ही नहीं है। यह बात जँचने के बाद, आत्मप्रीति बढ़नी चाहिए और देहासक्ति टूटनी चाहिए। पौषधव्रत में यह काम सरलता से हो सकता है।

सभा में से : आजकल तो हम देखते हैं कि पौषधव्रत करनेवाले जब कोई

क्रिया-कांड नहीं होता है, तब गहरी नींद लेते हैं अथवा तो गपशप चलता है!

महाराजश्री : इसका कारण है अज्ञान! बिना ज्ञान की क्रिया! क्रिया करते हैं, परंतु उन लोगों को ज्ञान नहीं है इसलिए वे क्रियाजड़ बन गये हैं। क्रिया भी विधिपूर्वक प्रायः नहीं करते! फिर भी क्रिया करने का अभिमान कितना होता है? ऐसे लोगों का अनुकरण नहीं करना है। ऐसे लोगों का अनुकरण करने से आप भी वैसे क्रियाजड़ बन जाओगे। ज्ञान के साथ क्रिया को जोड़ो।

आप जब पौषधव्रत करें तब प्रमाद नहीं करें। विकथायें नहीं करें। राग-द्वेष की वृद्धि हो वैसा कुछ भी नहीं करें। आवश्यक क्रियाकलापों के अलावा, सिवाय जाप-ध्यान-स्वाध्याय, कुछ भी नहीं करना है। देहासक्ति तोड़ने का मानसिक पुरुषार्थ करना है।

अनासक्त महात्मा राजा गुणसेन :

ऐसा पुरुषार्थ करना है कि शरीर पर कष्ट पड़ने पर भी, 'ये कष्ट मेरे ऊपर नहीं बरस रहे हैं, शरीर पर बरस रहे हैं, मैं तो विशुद्ध आत्मा हूँ।' ऐसा चिंतन चलता रहे और मन समाधि में रहे।

'समरादित्य केवली चरित्र' में समरादित्य का पहला भव राजा गुणसेन का बताया है। राजा गुणसेन, आचार्यश्री विजयसेन से धर्म पाते हैं। आत्मा और शरीर का भेदज्ञान उनको होता है। राजा गुणसेन के प्रति तीव्र द्वेषभाव रखनेवाला अग्निशर्मा मरकर विद्युत्कुमार देवों में देव होता है। देव होने के बाद वह सोचता है : 'मैंने पूर्वजन्म में ऐसा कौन सा कर्म किया होगा कि जिससे मैंने यह दिव्य विभूति प्राप्त की है?' उसने अपने ज्ञान से पूर्वजन्म देखा... और राजा गुणसेन के प्रति तीव्र द्वेष उसके मन में उभर आया।

जिस समय देव ने गुणसेन को देखा था उस समय गुणसेन महल के एक विशुद्ध कमरे में 'कायोत्सर्ग ध्यान' में स्थिर चित्त से खड़े थे। रात्रि का समय था। देव ने उन महात्मा गुणसेन के ऊपर गर्म-गर्म धूलि की वर्षा कर दी। क्रोध से देव का मन मूढ़ हो गया था। नरक की आग जैसी वह धूलि थी। ऐसी पांशुवृष्टि से राजा गुणसेन का शरीर जलता है। फिर भी वे अनाकुल रहे! महान् सत्व था उनमें। चूँकि जिनप्रणीत धर्म से उनका मन भावित था।

धर्म पाना, धर्मक्रिया करना... एक बात है, और धर्म से मन को भावित करना दूसरी बात है। भेदज्ञान से मन भावित होता है तभी कष्ट के समय, दुःख के समय समता-समाधि रह सकती है। सुनिये, महात्मा गुणसेन का चिंतन; जब उन पर

आग बरस रही थी!

सारीर-माणसेहिं दुक्खेहि अभिद्दुयम्मि संसारे।
सुलहमिणं जं दुक्खं दुलहा सद्धम्मपडिवत्ती ।।

धन्नोऽहं जेण मए अणोरपारम्मि भवसमुद्दम्मि।
भव सयसहस्स दुलहं लद्धं सद्धम्मरयणमिणं ।।

एयस्स पभावेण पालिज्जन्तस्स सइ पयत्तेण।
जम्मन्तरम्मि जीवा पावन्ति न दुक्खदोगच्चं ।।

ता एसो च्चिय सफलो मज्झमणायरणदोसपरिहीणो।
सद्धम्मलाभगरूओ जम्मो णाइम्मि संसारे ।।

विलिहइ य मज्झ हिययम्मि जो कओ तस्स अग्नि सम्मस्स।
परिभवकोवुप्पाओ, तवइ अकज्जं कयं पच्छा ।।

एण्हिं पुण पडिवन्नो मेत्तिं सव्वेसु चेव जीवेसु।
जिणवयणाओ अहयं विसेसओ अग्निसम्मम्मि ।।

अब इन गाथाओं का अर्थ सुनाता हूँ।

१. शारीरिक और मानसिक दुःखों से यह संसार उपद्रवित है, ऐसे दुःखपूर्ण संसार में यह दुःख [आग जैसी रेती बरसने का दुःख] तो मामूली है! परंतु सद्धर्म की मुझे जो प्राप्ति हुई है, वह दुर्लभ है!

२. सचमुच, मैं धन्य हूँ, चूँकि इस अनन्त संसार में हजारों-लाखों भवों में जो सद्धर्म-रत्न पाना दुर्लभ है, वह सद्धर्मरत्न मुझे मिल गया है!

३. इस धर्मरत्न के प्रभाव से, इसके सुचारु पालन से, जन्मांतर में भी जीव दुःख-दुर्गति नहीं पाते हैं।

४. मेरा तो यही जन्म सफल हो गया है। चूँकि अनाचरण-दोष से मुक्त जन्म और सद्धर्म की श्रेष्ठ प्राप्ति, मुझे अनादि संसार में हो गई है।

५. मेरे हृदय में बस, यही बात चुभती है - मैंने उस अग्निशर्मा का घोर पराभव किया और इससे उसमें प्रचंड क्रोध पैदा हुआ। अकार्य करने के बाद मुझे घोर पश्चात्ताप हो रहा है।

६. अब तो मैंने सभी जीवों के प्रति मैत्रीभाव धारण किया है। जिनवचन से प्रेरित हो, विशेष करके अग्निशर्मा के प्रति मेरा मैत्रीभाव है। उसके प्रति तनिक भी वैरभाव नहीं है।

पौषधव्रत जैसे ही 'प्रतिमा-व्रत' में रहे हुए महात्मा गुणसेन राजा का यह गंभीर चिंतन, मात्र सुनने से काम नहीं बनेगा। इस चिंतन पर हमें गहरा मंथन करना होगा। एक बात याद रखना कि महात्मा गुणसेन ने ऐसा चिंतन कैसे संयोगों में, कैसी परिस्थिति में किया था! जिस समय उन पर आग बरस रही थी, शरीर जल रहा था... उस समय उन्होंने यह चिंतन किया था। इस प्रकार का चिंतन भेदज्ञानी-अनासक्त योगी ही कर सकता है। आत्मा और शरीर का भेद जिसने जान लिया हो, मान लिया हो और शरीर के प्रति जो अनासक्त बन गया हो, वही ज्ञानीपुरुष, ऐसी उपद्रवग्रस्त परिस्थिति में शान्त चित्त से जिनवचनरूप चिंतन कर, समभाव धारण कर सकता है।

संसार दुःखमय :

'यह संसार शारीरिक और मानसिक दुखों से भरापूरा है।' यह उनका प्राथमिक विचार है। यानी संसार में दुःख स्वाभाविक है। 'अरे, मुझे दुःख क्यों आया? क्यों मेरे ऊपर आग बरसती है?' ऐसा प्रश्न नहीं उठा उनके मन में। यह आग बरसने का दुःख तो मामूली है... सुलभ है...। नरक के और तिर्यंचगति के दुःखों की तुलना में यह दुःख नगण्य है।

जीवन में कोई भी दुःख आये, उस समय बड़े दुःखों के साथ उस दुःख की तुलना कर लो। वर्तमान दुःख तुच्छ और नगण्य लगेगा। नरक गति के और तिर्यंचगति के दुःखों का ज्ञान कर लेना चाहिए। मनुष्यगति के भी भयानक रोग, भीषण दरिद्रता, घोर अपमान-तिरस्कार आदि दुःखों की कल्पना जीवंत रखनी चाहिए। इससे तन-मन के सामान्य दुःख सहन करने की शक्ति बढ़ेगी।

धर्मप्राप्ति दुर्लभ :

दूसरा विचार उन्होंने धर्मप्राप्ति की दुर्लभता का किया। राजा गुणसेन को आचार्यश्री विजयसेन का परिचय हुआ था और उनसे धर्म की प्राप्ति हुई थी। गुरु का परिचय और धर्म की प्राप्ति-दोनों बातें राजा को दुर्लभ... मूल्यवान् लगी थी। इसलिए, उपसर्ग के समय, संकट के समय वह दुर्लभ तत्त्व को छोड़ना नहीं चाहते थे। नहीं छोड़ा उन्होंने अपना व्रत। 'आग बरसनी हो उतनी बरसे, मैं यहाँ से हिलनेवाला नहीं हूँ, व्रत का त्याग करनेवाला नहीं हूँ।'

धर्म को श्रेष्ठ दुर्लभ तत्त्व मान लिया जाय, प्राणों से भी ज्यादा दुर्लभ माना जाय, तो संकट के समय धर्म का त्याग नहीं करोगे! जो वस्तु बहुत कम लोगों को मिलती हो, वह वस्तु दुर्लभ मानी जाती है। धर्म बहुत कम लोगों को मिलता है,

इसलिए वह दुर्लभ है। याद रखें कि धर्म ही सभी सुखों का मूल है। मूल सलामत रहेगा तो वृक्ष पुनः भी पैदा हो सकता है। राजर्षि गुणसेन का चिंतन कितना यथार्थ है!

धर्म का प्रभाव :

राजा धर्म के प्रभाव का चिंतन करते हैं। 'यदि प्रयत्न के साथ धर्म का सुचारु पालन किया जाय तो जन्मान्तर में जीव दुःख नहीं पाता है, दुर्गति में नहीं जाता है।'

जीवन जीते-जीते आनेवाले जन्मों का विचार भी करना चाहिए। यह जीवन तो 'चार दिनों की चाँदनी' जैसा है। मृत्यु के बाद मेरा जन्म किस गति में होगा? मेरी दुर्गति नहीं होनी चाहिए। जहाँ भी मेरा जन्म हो वहाँ दुःख और अशान्ति न हो। यह बात धर्म की आराधना से ही संभव हो सकती है। जो इस जन्म में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, सदाचार और अपरिग्रह-धर्म का पालन करता है, दान-शील-तप और भावधर्म का पालन करता है, मैत्री-प्रमोद-करुणा और माध्यस्थ्य भावनाओं को हृदयस्थ करता है, उसकी सद्गति ही होती है। वह दुर्गति में नहीं जाता है।'

राजा गुणसेन का यह निर्णय था। धर्म के प्रभाव को उन्होंने अच्छी तरह समझा था। इसलिए उन्होंने घोर संकट में भी धर्मभावना का चिंतन किया।

मनुष्यजन्म की सफलता :

राजा गुणसेन को अपना जन्म सफल लगता है। सफलता के दो कारण उन्होंने सोचे हैं। 'मेरे जीवन में अनाचारों का, दुराचारों का मैंने सेवन नहीं किया है और मुझे सद्धर्म की प्राप्ति हो गई है!'

कितनी अच्छी बात बतायी है उन राजर्षि ने? जीवन की सफलता के दो असाधारण हेतु हैं ये। अनाचारों का सेवन नहीं होना और सद्धर्म की प्राप्ति एवं पालन होना।

सभा में से : सद्धर्म की प्राप्ति तो हो गई है, परंतु अनाचारों का सेवन करते रहते हैं... तो हमारा जीवन निष्फल जायेगा न?

महाराजश्री : अनाचारों का त्याग करने का सत्व होना आवश्यक है। अनाचार-सेवन से जो सुख प्राप्त होता है, वह सुख हेय है और तुच्छ है, यह बात मन को समझाइये। अनाचार-सेवन दुर्गति में ले जा सकता है। हाँ, एक रास्ता है बचने का! अनाचारों का सेवन करने का दुःख हृदय में हो कि-'मैं कितना निःसत्व और कायर हूँ कि मैं इन अनाचारों का, दुराचारों का त्याग नहीं कर सकता हूँ? इन पापों का सेवन मुझे नहीं करना चाहिए...।' पापों का सेवन करने के बाद खुशी नहीं मनानी चाहिए। पश्चात्ताप होना चाहिए। तो दुर्गति से बच सकते हो।

अग्निशर्मा से मैत्रीभाव :

राजा गुणसेन अंत में अग्निशर्मा को याद करते हैं। तीन-तीन बार अग्निशर्मा को मासखमण का पारणा करने हेतु निमंत्रित किया, परंतु वह पारणा नहीं करा पाया था। इससे अग्निशर्मा ने आजीवन अनशन कर दिया था। राजा गुणसेन के प्रति घोर वैरभाव बाँध लिया था... इससे राजा गुणसेन का हृदय अति व्यथित था। 'वह मेरे प्रति कोई भी भाव रखे, मैं उसके प्रति विशेष रूप से मैत्रीभाव रखता हूँ। हालाँकि सभी जीवों के प्रति मेरे हृदय में मैत्रीभाव ही है। मैं जिनवचनों के प्रति कृतज्ञ हूँ। जिनवचन ही मेरी शरण है...।'

शुभ भाव से सद्गति :

राजर्षि गुणसेन इस प्रकार की शुभ विचारधारा में बहते हैं और उनकी मृत्यु हो जाती है। शरीर का पिंजरा पड़ा रहता है और हंस उड़ जाता है। पहले देवलोक में देव बनती है गुणसेन की आत्मा।

मृत्यु के समय शुभ विचारधारा बहती रहे तो सद्गति निश्चित है। परंतु जीवन में शुभ विचारधारा का अभ्यास किया हो, तभी संभव होती है मृत्यु के समय शुभ विचारधारा। अथवा जीव में कभी शुभ भावों में बहते हुए देवगति का आयुष्यकर्म बाँध लिया हो तो मृत्यु के समय शुभ विचार आयेंगे ही।

एक बात निश्चित है कि मृत्यु के समय शुभ-पवित्र विचार रहेंगे तो सद्गति होगी और अशुभ विचार रहेंगे तो दुर्गति होगी। पौषधव्रत में निरंतर शुभ विचारधारा बहती रहनी चाहिए। अब इस पौषधव्रत के पाँच अतिचार बताता हूँ। ग्रन्थकार आचार्यश्री ने लिखा है :

अप्रत्युपेक्षित-अप्रमार्जित-उत्सर्ग-आदाननिक्षेप-
संस्तारोपक्रमण-अनादर-स्मृत्यनुपस्थापनानि ।।

मैंने पहले ही कहा था कि पौषधव्रत में श्रावक साधु जैसा बनता है। उसकी दिन-रात की चर्या साधु जैसी होती है। श्रावक को पौषध में, जहाँ बैठना हो, उस जगह को अपनी दृष्टि से देख लेनी चाहिए। अच्छी तरह देख लेनी चाहिए। यदि नहीं देखता है तो 'अप्रत्युपेक्षित' नाम का पहला अतिचार लगता है। वैसे, जिस जगह बैठना है, उस जगह को रजोहरण [चरवला] से साफ करना चाहिए, वस्त्र के आँचल से साफ करना चाहिए। यदि इस प्रकार प्रमार्जन नहीं करता है, करता है परंतु अच्छी तरह नहीं करता है, अथवा थोड़ा प्रमार्जन करता है-थोड़ा नहीं करता है, तो अतिचार 'अप्रमार्जित' नाम का अतिचार लगता है।

वैसे, जमीन को दृष्टि से देखे बिना, उस जमीन पर पानी डालता है, मूत्र एवं पुरीष का उत्सर्ग करता है, तो 'उत्सर्ग' नाम का अतिचार लगता है। श्रावक को पौषध में, ऐसी जमीन पर पानी-मूत्र-पुरीष का उत्सर्ग करना चाहिए कि जहाँ छोटे-बड़े जीव न हों। दृष्टि से देखकर ही, यदि जीव नहीं हो, तो ही पानी वगैरह डालना चाहिए।

वैसे, पौषधव्रत में उपयोगी धर्मोपकरण लेते समय, जमीन पर रखते समय भी [आदान=लेना, निक्षेप=रखना] दृष्टि से एवं चरवले से प्रमार्जन करना चाहिए। यदि नहीं करता है तो 'आदान-निक्षेप' नाम का अतिचार लगता है।

पौषधव्रत में सोने के लिए जो वस्त्र बिछाया जाता है, उसको 'संस्तारक' कहते हैं। संस्तारक का भी प्रतिलेखन करना चाहिए। जिस जगह संस्तारक बिछाया हो, उस जमीन का भी प्रमार्जन करना चाहिए। यदि यह प्रतिलेखन और प्रमार्जन नहीं करता है, तो 'संस्तारक-उपक्रमण' नाम का अतिचार लग जाता है।

पौषध में प्रतिलेखन करके ही संस्तारक का उपयोग करना चाहिए। पौषधशाला का भी प्रमार्जन करना चाहिए। संस्तारक शुद्ध वस्त्र का हो या दर्भ का हो, उसको जमीन पर बिछाकर सोना चाहिए, मकान के बाहर जाना पड़े तो वापस संस्तारक का प्रतिलेखन करना चाहिए। नहीं करें तो अतिचार लगता है।

पौषधव्रत ग्रहण करने के बाद यदि पौषधव्रत के प्रति अनादर रखता है, तो अतिचार लगता है। भूल जाता है कि 'मैंने पौषध पहले किया है या नहीं,' तो भी अतिचार लगता है। स्मृतिभ्रंश भी अतिचार है।

इस प्रकार अतिचारों को जानकर, अतिचार नहीं लगे इस प्रकार पौषधव्रत का पालन करना चाहिए। इस प्रकार दोषरहित व्रत का पालन करने से निवृत्तिधर्म के पालन का आनंद प्राप्त होता है। निष्पाप जीवन जीने का आनंद प्राप्त होता है।

ब्रह्मचर्य का पालन :

अब्रह्म-मैथुन बड़ा पाप है। मैथुनवृत्ति पर विजय पाने के लिए ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक है। पौषध में आप मन-वचन-काया से ब्रह्मचर्य का पालन कर सकते हैं। मैथुनसंज्ञा पर विजय पाना, मनुष्य के लिए सरल तो नहीं है, फिर भी अनिवार्य है।

परिग्रहसंज्ञा पर विजय पाना है :

पौषध में किसी प्रकार का व्यापार नहीं करना है। चूंकि अनादिकालीन परिग्रहसंज्ञा पर विजय पाना है। मैथुनसंज्ञा जैसी ही यह परिग्रहसंज्ञा खतरनाक है।

'मुझे अपरिग्रही बनना है,' इस भावना के साथ पौषधव्रत करने का है।

उपसंहार :

पौषधव्रत, साधुजीवन का पूर्वाभ्यास है। मन जब निवृत्तिप्रिय बनता है तभी पौषधव्रत करने में आनंद का अनुभव होता है। यदि आनंद का अनुभव नहीं होता है, तो पौषधव्रत में भी आप लोग विकथायें करते रहेंगे। निन्दा-रस का आनंद लूटते रहेंगे। निद्रा लेते रहेंगे।

एक विशेष सावधानी बताकर प्रवचन पूर्ण करुँगा।

❖ पौषध में कषाय नहीं करना, क्रोध नहीं करना, अभिमान नहीं करना, माया-कपट नहीं रखना और लोभ नहीं करना। यह महत्त्व की बात है। यदि कषाय करोगे तो पौषधव्रत के प्राण ही नष्ट हो जायेंगे। इसलिये हो सके तो मौन के साथ पौषध करें।

❖ पौषध में प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन वगैरह क्रियायें अच्छी तरह करना। बड़ी पवित्र हैं ये क्रियायें। विधिपूर्वक ये क्रियायें करनी चाहिए।

इस प्रकार पौषधव्रत का पालन करते हुए परम निवृत्ति को प्राप्त करें, यही मंगल कामना। आज बस, इतना ही।

प्रवचन-२२

परम कृपानिधि महान श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरीश्वरजी ने स्वरचित 'धर्मबिन्दु' ग्रंथ के तीसरे अध्याय में गृहस्थ का विशेष धर्म बताया है। विशेष धर्म यानी सम्यक्त्वमूलक बारह व्रत। ११ व्रतों का विवेचन पूर्ण हुआ, आज बारहवें 'अतिथि-संविभाग' व्रत का विवेचन करूँगा। व्रत का विवेचन करने से पूर्व, 'अतिथि' और 'संविभाग' शब्दों का अर्थ-भावार्थ बताता हूँ।

अतिथि :

जिसको तिथि का, पर्वतिथि का कोई बंधन नहीं होता है, वह अतिथि कहा जाता है। किसी भी दिन जो आपके घर आ सकता है, वह 'अतिथि' होता है।

'अतिथि' की महिमा मात्र जैन परंपरा में ही है, ऐसा नहीं है। वैदिक और बौद्ध वगैरह धर्मों में भी 'अतिथि' को पूज्य माना गया है। विदेशों के तत्त्वचिंतकों ने भी 'अतिथि' का महत्त्व बताया है।

'मनुस्मृति' में कहा गया है :

'न वै स्वयं तदश्नीयादतिथि यन्न भोजयेत्।'

जो अतिथि को न खिलाया जाय वह स्वयं भी नहीं खाना चाहिए।

'बुद्धचरित' में अश्वघोष ने कहा है :

'आतिथ्यमार्यधर्मो हि स्यादतिथिर्यथा-तथा।'

अतिथि कैसा भी हो, उसका आतिथ्य करना श्रेष्ठ धर्म है।

'अथर्ववेद' में कहा गया है :

'कीर्तिं च वा एष यशश्च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति।'

जो व्यक्ति अतिथि को भोजन कराने से पहले स्वयं भोजन खा लेता है, वह अपने घर की कीर्ति और यश को खा लेता है!

'शतपद ब्राह्मण' ग्रंथ में कहा गया है :

'तन्वेवानवक्लृप्तम्। यो मनुष्येस्वनश्नत्सु पूर्वोऽश्नीयात्।'

अतिथि को भोजन कराने से पूर्व स्वयं भोजन कर लेना पूर्णतया अनुचित है।

'वाल्मीकि रामायण' में 'अतिथि' की महत्ता इस प्रकार बतायी है :

यथामृतस्य संप्राप्तिः यथा वर्षमनूदके ।
यथा सदृशदारेषु पुत्रजन्मा प्रजस्य वै ।।
प्रणष्टस्य यथा लाभो यथा हर्षो महोदयः ।
तथैवागमनं मन्ये स्वागतं ते महामुने ।।

जैसे अमृत की संप्राप्ति, जैसे जलहीन स्थान पर वर्षा, जैसे निःसंतान मनुष्य को सदृश पत्नी से पुत्रजन्म, जैसे नष्ट संपत्ति की पुनः प्राप्ति, जैसे हर्ष का अतिरेक, उसी प्रकार मैं आपका आगमन मानता हूँ। हे महामुनि! आपका स्वागत है!

'महाभारत' में वेदव्यास ने कहा है :

चक्षुर्दद्यान्मनो दद्याद् वाचं दद्यात् सुभाषितम् ।
उत्थाय चासनं दद्या देष धर्मः सनातनः ।।
प्रत्युत्थायाभिगमनं कुर्यान्न्यायेन चार्चनम् ।।

घर आये व्यक्तियों को प्रेमपूर्ण दृष्टि से देखें, मन से उनके प्रति उत्तम भाव रखें, मीठे वचन बोलें तथा उठकर आसन दें। गृहस्थ का यह सनातन धर्म है। अतिथि की अगवानी करें और यथोचित रीति से आदर-सत्कार करें।

दक्षिण के तत्त्वचिंतक **'तिरुवल्लुवर'** ने कहा है कि : दरिद्रों में दरिद्र वह है, जो अतिथि का सत्कार न करे!

एक विदेशी प्रसिद्ध कवि **'एमर्सन'** लिखता है :

Happy the man who never puts on face but receives every visiter with that Countenance he has on.

सुखी है वह मनुष्य जो अतिथि को देखकर कभी मुँह नहीं लटका लेता है। अपितु हर अतिथि का प्रसन्नतापूर्वक स्वागत करता है।

अपने जैनधर्म में तो 'अतिथि' को बाहर व्रतों में समाविष्ट कर उसका महान् गौरव स्थापित किया है। परंतु बारहवें व्रत में जिस अतिथि का समावेश किया गया है वे अतिथि कोई सामान्य अभ्यागत नहीं समझना है, वे होते हैं पंच महाव्रतधारी साधु और साध्वी! साधु और साध्वी का 'संविभाग' करने का होता है। यदि गाँव में साधु-साध्वी उपलब्ध नहीं हों तो फिर व्रतधारी श्रावक और श्राविका को 'अतिथि' मानकर, उनका संविभाग करना चाहिए।

संविभाग :

'संविभाग' शब्द जैनदर्शन का विशिष्ट शब्द है। अतिथि को मात्र भाग नहीं देना है, वि-भाग नहीं देना है... उसका 'संविभाग' करना है। 'सम्' उपसर्ग यहाँ 'सम्यग्' अर्थ में है। 'सम्यग्' यानी सुंदर! अतिथि को भोजन, वस्त्र वगैरह जो कुछ देना है, सुंदर ढंग से देना है। प्रेम से देना है।

'अतिथि संविभाग' व्रतधारी को -

१. उपवास कर,
२. पौषध कर,
३. पारणे के दिन एकासन कर,
४. विनय से साधु-साध्वी को निमंत्रित कर,
५. उनका प्रिय शब्दों से स्वागत कर,
६. आहार-पानी देने का है। और जो आहार वे ग्रहण करें वही आहार व्रतधारी ग्रहण करता है। उसी आहार से वह एकासन करता है। यह है अतिथि-संविभाग व्रत के पालन की पद्धति।

सभा में से : हमने तो देखा है कि ऐसे व्रतधारी स्त्री-पुरुष मुनिराज को वे सभी वस्तु लेने का आग्रह करते हैं जो उनको खानी होती है! मुनिराज की इच्छा नहीं होती है कुछ वस्तु लेने की, फिर भी थोड़ी-थोड़ी लेनी पड़ती है!

महाराजश्री : सही बात है। नहीं लेते हैं तो वे लोग नाराज हो जाते हैं। कहते हैं : 'महाराज सा, आप नहीं लेगें तो हम खा नहीं पायेंगे... थोड़ा सा भी ले लो! ले लेते हैं! यह हम लोगों की करुणाजन्य उदारता होती है। परंतु आप लोगों को चाहिए कि 'सहजता से, स्वभाविकता से जो आहार मुनिराज ग्रहण करेंगे, वही आहार मैं ग्रहण करूँगा।' ऐसा करने से 'अतिथिसंविभाग' व्रत करने का विशेष आनन्द प्राप्त होता है।

इस प्रकार उपवास-पौषध के साथ 'अतिथिसंविभाग' भले आप वर्ष में एक या दो बार करें, परंतु उपवास-पौषध के बिना प्रतिदिन अतिथि-संविभाग कर सकते हैं। 'मैं अतिथि का संविभाग करके ही भोजन करूँगा।' ऐसी प्रतिज्ञावाले स्त्री-पुरुष आज के समय में भी कहीं-कहीं देखने को मिलते हैं। प्राचीन काल की कहानियों में तो इस प्रकार का व्रत धारण करनेवाले अनेक स्त्री-पुरुष आते हैं। उनमें 'नयसार' नाम के ग्रामपति का उदाहरण श्रेष्ठ है। जो श्रमण भगवान महावीर की ही आत्मा थी! महावीर बनने की नींव 'नयसार' के जन्म में पड़ी थी-ऐसा कहें तो गलत नहीं होगा।

नयसार और अतिथि संविभाग :

नयसार को एक दिन राजा की ओर से आदेश मिला कि जंगल में जाकर, नौकरों से लकड़ी कटवाकर ले आये। नयसार नौकरों को लेकर जंगल में गये। जंगल के एक विभाग में उन्होंने अपना 'कैम्प' डाल दिया। एक ओर नौकर लकड़ी काटते हैं, दूसरी ओर कुछ नौकर भोजन बना रहे हैं। नयसार अपने कैम्प में हैं। भोजन का समय होता है। नयसार अपने मन में सोचते हैं : 'यदि इस समय कोई तपस्वी-अतिथि आ जाय तो उसको भिक्षा देकर मैं भोजन करूँ।'

वह कैम्प में से बाहर निकला। जंगल में से जहाँ रास्ता गुजरता था, वहाँ गया और कोई तपस्वी... मुनि... संतपुरुष का इन्तजार करता हुआ खड़ा रहा। इतने में दूर... दूर कोई मुनिराज को इधर-उधर भटकते देखा। नयसार शीघ्र वहाँ पहुँचा और मुनिराज को वंदन कर पूछा : 'हे तपस्वी, आप इस जंगल में अकेले कैसे भटक रहे हैं?'

मुनिराज ने कहा : 'मैं एक सार्थ के साथ था। प्रातः मैं मेरे ज्ञान-ध्यान में निमग्न था, सार्थ चल दिया... मुझे मालूम नहीं हुआ... मैं अकेला चल पड़ा... रास्ता मालूम नहीं था... यहाँ आ गया!'

'हे महात्मन्, चलिए मेरे साथ। इस जंगल में ही थोड़े दिन के लिए मुझे रहना है, इसलिए भोजनादि तैयार हैं। मेरा भाग्योदय हुआ कि आप जैसे महात्मा मुझे मिल गये। आप मेरे निवास में पधारें, भिक्षा ग्रहण करें। विश्राम करें। दिन ढलते मैं आपको रास्ता बताऊँगा, आप सार्थ से मिल जायेंगे।'

मुनिराज, नयसार के साथ उनके निवास में गये। नयसार ने बहुत भक्तिभाव से मुनिराज को भिक्षा दी। भिक्षा देने के बाद ही नयसार ने भोजन किया। नयसार का यह अतिथि-संविभाग था। चूँकि नयसार को यह तपस्वी-अतिथि मिलने पर अमृत की प्राप्ति जैसा आनंद हुआ था। खोई हुयी संपत्ति मिलने पर जैसा हर्ष होता है वैसा हर्ष उसको हुआ था।

नयसार ने मुनिराज को प्रेमपूर्ण दृष्टि से देखा था। मन में मुनिराज के प्रति उत्तम भाव जागे थे। मधुर वचनों से उसने मुनिराज को निमंत्रित किया था और वृद्धिगत भावों से उसने मुनिराज को भोजन दिया था। यह 'संविभाग' था! मात्र दान देना संविभाग नहीं है, इस प्रकार देना संविभाग है!

अतिथि के प्रति प्रेमभाव और मधुर वाणी-व्यवहार होना अति आवश्यक है। उनको भोजन, वस्त्र, औषध आदि पूज्यता के श्रेष्ठ भाव के साथ देने से अपूर्व

आत्मानंद की प्राप्ति होती है।

मुनिराज ने भोजन कर लिया, विश्राम कर लिया, उसके बाद नयसार ने कहा : 'हे महात्मन्, चलें, मैं आपको रास्ता बताता हूँ।' मुनिराज के साथ नयसार चला। मुनिराज के मन में नयसार के प्रति सद्भाव पैदा हो गया था। सद्व्यवहार से और सद्भाव से दूसरों के हृदय में स्नेहभाव प्रायः पैदा हो जाता है!

सभा में से : 'प्रायः' क्यों कहा?

महाराजश्री : दुनिया में कुछ लोग ऐसे भी होते हैं कि उनके साथ आप सद्भावपूर्ण सद्व्यवहार करें, तो भी वे उसका मूल्यांकन नहीं कर पाते हैं! उनके हृदय में सद्व्यवहार करनेवाले के प्रति स्नेहभाव पैदा ही नहीं होता है! होते हैं ऐसे लोग!

अभी-अभी एक सत्य घटना मैंने पढ़ी। एक छोटे शहर की बात है। एक मोहल्ले में, एक छोटे घर में तीन-चार लड़के रहते थे, कॉलेज में पढ़ते थे।

एक दिन उस मोहल्ले में बर्तन बेचनेवाली एक औरत आयी। वह पुराने कपड़े के बदले में बर्तन देती थी। उन लड़कों के घर में आकर बोली : 'बर्तन लेने हों भाई, तो पुराने कपड़े दो और बर्तन ले लो।'

एक लड़के ने कहा : 'हमें तो बर्तन नहीं चाहिए, परंतु सामने जो गली है, उस गली में जो पहला घर है, वहां जो औरत रहती है, वह बर्तन लेगी... वहाँ चली जा।'

वह औरत चली गई उधर। लड़के हँसने लगे। उन्होंने जिस औरत का घर बताया था, वह औरत झगड़ा करनेवाली थी, दुर्व्यवहार करनेवाली थी। वह बर्तनवाली औरत वहाँ चली गई। उस औरत ने पुराने कपड़े देकर बर्तन लिये... झगड़ा कर... एक गिलास ज्यादा भी ले लिया।

वह बर्तनवाली औरत वापस लौटी। वे लड़के बाहर ही खड़े थे। पूछा उन्होंने : 'क्यों तुम्हारा धंधा हुआ?' औरत ने कहाँ : 'हाँ, हुआ धंधा, परंतु उसने एक ग्लास ज्यादा ले लिया!' कह कर वह चली गई।

दो दिन के बाद वह बर्तनवाली औरत, उन लडकों के पास गई और पूछा : 'भैया, वह औरत कहाँ रहने चली गई? आपको मालूम है क्या? उसने घर बदल दिया है, और उसके पड़ोसी कोई उसका नया घर बताते नहीं हैं।'

लड़कों ने पूछा : 'परंतु तुझे उस औरत का क्या काम है?'

'भाई, उसने जो पुराने कपड़े दिये थे, एक पेन्ट की जेब में से ५०० रुपये निकले हैं! मुझे वापस लौटाने हैं!'

लड़के चकित रह गये। एक लड़के ने कहा : 'तेरे भाग्य से तुझे ५०० रुपये मिले हैं... तू रख ले, वापस लौटाने की क्या जरूरत है?' वह औरत बोली : 'नहीं भैया, ये अनीति के रुपये हैं... मैं नहीं रख सकती, भगवान देखता है... भगवान पेट भरने को रोटी देता है... ये रुपये उस औरत को लौटाने ही हैं। आप दया करो... उस औरत का घर खोजकर मुझे बताओ।'

एक लड़के को उस महिला का, झगड़ाखोर महिला का नया घर मालूम था। वह बर्तनवाली के साथ गया। घर बताया। वहाँ पर वो औरत पड़ोसन के साथ झगड़ा कर रही थी।

बर्तनवाली औरत ने जाकर कहा : 'बहिन, तुमने जो पुराने कपड़े मुझे दिये थे, उसमें से ये ५०० रुपये निकले हैं, ले लीजिए आप के रुपये।' उसने ५०० रुपये उस औरत को दे दिये। उस औरत ने न तो बर्तनवाली को धन्यवाद दिया, न पानी भी पिलाया, बल्कि बोली :

'अच्छा किया तूने, मेरे पैसे लौटा दिये, अन्यथा तुझे ये अनीति के रुपये हजम नहीं होते! तुझे बड़ा नुकसान होता।'

सुनकर उस कॉलेजियन लड़के का मन खट्टा हो गया। उसने बर्तनवाली को कहा : 'सुना न? इस डाकन को पैसे वापस नहीं देने थे... कैसी है यह चुड़ैल? धन्यवाद के दो शब्द भी बोलती नहीं है... और ऊपर से...'

बर्तनवाली ने कहा : 'भाई, वह धन्यवाद दे या न दे, मुझे तो भगवान की नजरों में अपराधी नहीं बनना था, दे दिये वापस। चलो यहाँ से...!'

- ❖ घर में बहु कितना ही अच्छा काम करती हो, सास उसका मूल्यांकन नहीं करती है, प्रशंसा के दो शब्द नहीं बोलती है... ऐसा ज्यादातर घरों में देखने में आता है न?
- ❖ पुरुष बहुत मेहनत कर पैसा कमाता है, कुछ पत्नियाँ उसका मूल्यांकन नहीं करती हैं। ऊपर से बोलती हैं : 'पैसे कमाकर लाते हो... क्या हमारे ऊपर उपकार करते हो? घर चलाना है तो पैसे कमाने ही पड़ते हैं।'
- ❖ नौकर सेठ के प्रति कितना भी सद्भाव रखता हो, अच्छा काम करता हो, परंतु ज्यादातर सेठ लोग नौकरों का मूल्यांकन नहीं करते हैं! वैसे सेठ नौकरों के प्रति कितना भी सद्भाव और सद्व्यवहार रखते हों, नौकर लोग प्रायः उनका मूल्यांकन कम करते हैं।

सद्भाव और सद्व्यवहार का मूल्यांकन करें :

दुनिया में सद्भाव और सद्व्यवहार बहुत दुर्लभ तत्त्व हैं। किसी भी व्यक्ति में

ये दो तत्त्व दिखायी दें तो उसकी प्रशंसा करनी चाहिए, उपबृंहणा करनी चाहिए। उसके प्रति सद्भाव प्रदर्शित करना चाहिए, सद्व्यवहार करना चाहिए। ऐसा करने से उन दो तत्त्वों में वृद्धि होती है। सद्भाव वृद्धि पाता है, सद्व्यवहार व्यापक बनता है।

मुनिराज ने 'नयसार' के सद्भाव का और सद्व्यवहार का मूल्यांकन किया। 'यह आत्मा सुयोग्य है, सुपात्र है, गुणवान् है। इसने मुझे मार्ग बताया है, मैं भी उसको मार्ग बताऊँ।'

जब सही रास्ते पर दोनों आये तब नयसार ने कहा : 'हे महात्मन्, इसी रास्ते पर आप चले जाना... आगे सार्थ मिल जायेगा।'

मुनिराज ने नयसार के सामने करुणा और वात्सल्य से देखा। नयसार नतमस्तक हो, मुनिराज को नमन कर रहा है। मुनिराज ने प्रेमपूर्ण शब्दों में कहा : 'महानुभाव, तूने मुझे एक गाँव का रास्ता दिखाया, मैं तुझे परम सुख और परम शान्ति का रास्ता बताना चाहता हूँ।'

'बताइये महात्मन्!' नयसार ने भक्तिपूर्ण शब्दों में कहा।

मुनिराज ने कहा : 'नयसार, जो सर्वज्ञ और वीतराग अरिहंत हैं उनको ही परमात्मा मानना। जो महाव्रतधारी हों, जिनाज्ञानुसारी हों, उनको सद्गुरु मानना और सर्वज्ञभाषित धर्म को ही धर्म मानना। और, मैं तुझे एक महामंत्र देता हूँ, रोजाना उसका जाप करना।'

मुनिराज ने नयसार को श्री नवकार महामंत्र दिया। नयसार ने बहुत ही भक्तिभाव से महामंत्र ग्रहण किया। कृतज्ञभाव से नयसार की आँखें भर आयी। मुनिराज ने आशीर्वाद दिया और अपने रास्ते चल दिये। नयसार, जब तक मुनिराज दिखायी दिये, तक तक खड़ा रहा, बाद में वह अपने कैम्प की ओर वापस लौटा। उसका हृदय भक्तिभाव से गद्गद था। उसकी कल्पना में वे मुनिराज तैरते थे। उसने 'सम्यग्दर्शन' गुण पा लिया था।

'अतिथि संविभाग' का यह प्रभाव था। 'अतिथि' के रूप में आपके घर कभी उत्तम आत्मायें आ सकती हैं। कोई तीर्थंकर की, कोई गणधर की, कोई केवलज्ञानी की आत्मा, जो कि आनेवाले जन्मों में होनेवालीं हों, आ सकती हैं आपके घर। यदि आप भावपूर्ण हृदय से उनका संविभाग करते हैं तो महान् लाभ प्राप्त हो सकता है।

हृदय में 'अतिथि' के प्रति प्रेमभाव, भक्तिभाव, अहोभाव होगा तो अतिचार नहीं लगेंगे। परंतु उस भाव में गिरावट आती है तो अतिचार लगते ही हैं।

पाँच अतिचार :

'अतिथि-संविभाग' व्रत के पाँच अतिचार ग्रन्थकार ने इस प्रकार बताये हैं:

सचित्तनिक्षेप-पिधान-परव्यपदेश-मात्सर्य-कालातिक्रमाः ।।

१. पहला अतिचार लगता है, सचित्त निक्षेप। साधु-साध्वी सचित्त (सजीव) आहार नहीं लेते हैं, सचित्त आहार उनके लिये वर्ज्य होता है। वैसे, सचित्त [फल-सब्जी वगैरह] वस्तु से संलग्न अचित्त आहार भी साधु-साध्वी ग्रहण नहीं करते हैं। कच्चे पानी के बरतन पर रोटी-सब्जी वगैरह पड़े हों, हम वह आहार नहीं ले सकते! चूंकि कच्चा पानी [बिना उबाला हुआ] सचित्त होता है। वैसे एक बर्तन में फल पड़े हैं, फल सचित्त होते हैं [केले के अलावा] उन फलों के बर्तन पर अचित्त आहार पड़ा हो; फिर भी वह आहार हम ग्रहण नहीं कर सकते हैं।

अतिथिसंविभाग-व्रत करनेवाला श्रावक, यदि अज्ञानता से आहार को सचित्त वस्तु के ऊपर रखता है... गलती से रखता है... साधु मुनिराज को वह कल्पता नहीं है, इसलिए वे लेते नहीं। यह 'अतिचार' है। जानबूझकर, साधु को आहार नहीं देना पड़े-इस भावना से करता है तो व्रत का भंग होता है।

जैसे कि वह सोचता है : 'मेरे इस अतिथि संविभाग व्रत के अनुसार मुझे साधु को भिक्षा देनी चाहिए, परंतु ये साधु सचित्त वस्तु पर रखी हुई वस्तु लेते नहीं हैं, मैं उनके सामने आहार रख दूँगा... वे लेंगे नहीं और मेरा व्रत टूटेगा नहीं!'

इसमें 'मेरा व्रत टूटेगा नहीं,' यह भाव व्रतसापेक्षता का होने से अतिचार है, अन्यथा जानबूझकर भिक्षा नहीं देने की भावना से यदि वैसा करता है तो व्रतभंग ही कहा जायेगा।

२. दूसरा अतिचार है, 'सचित्तपिधान' का। आहार के ऊपर सचित्त पुष्प-फल-कंद आदि रख कर आहार को ढक देता है और जब भिक्षा के लिए मुनि आते हैं तब वह आहार उनके सामने रख देता है। मुनिराज वह आहार ग्रहण नहीं करते हैं, चले जाते हैं, तब यह मूर्ख मनुष्य सोचता है : 'मैंने तो मुनि के सामने भिक्षा रख दी थी, उन्होंने नहीं ली तो मैं क्या करूँ? मेरा व्रत टूटा नहीं!'

मात्र मन मनाने की बात है यह! वास्तव में व्रतभंग ही कहा जायेगा यह। कुटिल बुद्धि से ही उसने अचित्त आहार को सचित्त वस्तुओं से ढंक कर रखा है... जिससे कि मुनि आहार ग्रहण करे ही नहीं! अतिथि को नहीं देने की भावना में 'संविभाग' रहता ही नहीं! संविभाग करने की भावना के बिना अतिथिसंविभाग व्रत कैसे अखंड रहेगा! टूट ही जायेगा।

३. अब तीसरा अतिचार समझ लो। लगाने के लिए नहीं, बचने के लिए समझना! श्रावक साधुओं की भिक्षाग्रहण करने की पद्धति जानता है कि जो वस्तु जिस व्यक्ति की हो, उसी की इच्छा से वह वस्तु ग्रहण करते हैं। मालिक की इच्छा के बिना, दूसरा व्यक्ति वह वस्तु देवे, तो भी साधु ग्रहण नहीं करते! इस नियम का फायदा उठानेवाला व्रतधारी श्रावक, साधु को भिक्षा नहीं देनी पड़े इसलिए भिक्षा देते समय बोलता रहता है : 'यह घी तो लल्लुभाई का है, यह शर्करा चंचलबेन की है... और वे लोग यहाँ नहीं हैं, फिर भी महाराज सा, आप ग्रहण करें यह घी और यह शर्करा!' मुनि मना करेंगे! नहीं लेंगे भिक्षा और चले जायेंगे! वह व्रतधारी श्रावक खुश हो जायेगा! चलो, घी-शर्करा बच गये! और व्रत भी बच गया!

कैसे बचेगा व्रत ऐसी दुष्ट बुद्धि वाले का! टीकाकार आचार्यश्री ने लिखा है-'यदाऽना भोगादिनाऽतिक्रमादिना वा एताना चरति तदाऽविचारोऽन्यदा तु भंग एव!' यदि व्रतधारी अनजानपन से... भूल से वैसा करता है तो अतिचार लगता है, परंतु अनाचार करता है, इरादतन करता है... तो व्रतभंग ही होता है।

४. चौथा अतिचार तब लगता है जब वह भिक्षा देते समय सोचता है : 'मेरे पासवाले भिखारी ने भी मुनि को भिक्षा दी, तो क्या मैं उस भिखारी से भी गया बीता हूँ?' ऐसा सोचकर देता है भिक्षा! अथवा क्रोध करके देता है भिक्षा... तो अतिचार लगता है। 'मात्सर्य' का अर्थ है दूसरों का गुण सहन नहीं होना! दूसरे लोग मुनि को दान देते हैं, यह दूसरों का गुण देखकर सहन नहीं होता है... और मात्सर्य से प्रेरित होकर भिक्षा देता है! यह अतिचार है। वास्तव में 'संविभाग' होता ही नहीं है, इसलिए भंग ही मानना चाहिए।

५. पाँचवाँ अतिचार भी नाम का ही अतिचार है, वास्तव में व्रत भंग ही होता है। मुनि के भिक्षा का जो समय हो, उसके पहले ही भोजन कर ले, अथवा समय बीत जाने के बाद भोजन करे! जब मुनि आये भिक्षा के लिए, तब कहे 'आप देरी से आये,' अथवा 'आप जल्दी आ गये!'

ये पाँच अतिचार हैं। संविभाग की भावना चली जाती है तब ये अतिचार लगते हैं। अतिथि के प्रति भक्तिभाव नष्ट हो जाता है तब ये दोष लगते हैं। दोषरहित व्रतपालन ही आत्मकल्याण का कारण बनता है-यह बात कल बताऊँगा।

आज बस, इतना ही।

प्रवचन-२३

परम कृपानिधि महान श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी स्वरचित 'धर्मबिन्दु' ग्रन्थ के तीसरे अध्याय में गृहस्थजीवन का विशेष धर्म बता रहे हैं। उन्होंने बारह व्रतमय विशेष धर्म बताया। परंतु एक महत्त्वपूर्ण बात अपने सामने उन्होंने रखी है। वे कहते हैं -

'एतद्रहिताणुव्रतादिपालनं विशेषतो गृहस्थधर्मः।'

अतिचाररहित सम्यक्त्व का और बारह व्रतों का पालन विशिष्ट गृहस्थधर्म है। अतिचार-दोष नहीं लगने चाहिए व्रतों को। आप सोचते होंगे कि सोच-समझ कर यदि विधिपूर्वक व्रत लिये जाएँ, तो फिर अतिचार लगने का प्रश्न ही नहीं उठता है! परंतु ऐसी बात नहीं है। अतिचार लगते हैं पापकर्मों के उदय से। क्लिष्ट कर्मों के उदय से। ग्रंथकार महर्षि ने कहा है :

'क्लिष्टकर्मोदयादतिचाराः।'

बहुत महत्वपूर्ण बात आज करनी है। व्रतधारी को अतिचार लगने का मूल कारण समझाना है। समझने का प्रयत्न करना है।

जिस समय मनुष्य-गृहस्थ सम्यक्त्वसहित बारह व्रत स्वीकार करता है, उस समय आत्मा में विशिष्ट शुद्धि पैदा होती है। उस विशुद्धि से मिथ्यात्व और कषायों का सर्वथा नाश होना चाहिए और कुछ लोगों को होता भी है।

परंतु आत्म-विशुद्धि से मिथ्यात्व वगैरह कर्म सर्वथा नष्ट नहीं हुए हों तो जब मिथ्यात्व और कषायों का उदय होता है तब अतिचार लगना, अनाचार का सेवन होना स्वाभाविक होता है।

मिथ्यात्व का उदय होने पर जिनवचनों में शंका, मिथ्या दर्शनों के प्रति आकर्षण वगैरह दोष पैदा होते हैं। कषायों के उदय से जीव-हिंसा, असत्य, चोरी, दुराचार, परिग्रह आदि पापों का आचरण हो जाता है। यानी व्रतों को दोष लगने की संभावना बनी रहती है।

हाँ, सम्यक्त्वमूलक बारह व्रतों को स्वीकार करते समय आत्मा में विशेष प्रकार की शुद्धि पैदा होती है और उस आत्मशुद्धि से मिथ्यात्व का आमूल उन्मूलन हो जाता है, अनन्तानुबंधी कषायों का आमूल नाश हो जाता है, तो फिर अतिचार लगने की संभावना नहीं रहती है।

अतिचार के मूल कारण : मिथ्यात्व और कषाय :

मिथ्यात्व को सर्वप्रथम मिटाना आवश्यक है। इसलिए मिथ्यात्व को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। यह मिथ्यात्व, आत्मा का अनादिकालीन दोष है। परंतु जो दोष अनादि हो, वह अनंत-अंत रहित ही हो, यह आवश्यक नहीं है। अनादि दोष का भी अन्त हो सकता है। जो जीव 'भव्य' होते हैं, उनका मिथ्यात्व-दोष, अनादि होते हुए भी नष्ट होता है। परंतु जो जीव 'अभव्य' होते हैं, उनका अनादिकालीन मिथ्यात्वदोष कभी नष्ट नहीं होता है! उनका मिथ्यात्व अनादि-अनन्त होता है!

भव्य और अभव्य :

आप लोगों के लिए 'भव्य' और 'अभव्य' शब्द नये हैं न? समझाता हूँ इन शब्दों को। जो जीव कभी भी... मोक्ष पानेवाले होते हैं वे भव्य कहलाते हैं! यानी भव्य जीव की कभी न कभी मुक्ति होगी ही। किसी की शीघ्र, किसी की देरी से। परंतु जो जीव 'अभव्य' होते हैं, उनकी कभी मुक्ति होती ही नहीं है! चूँकि उस अभव्य आत्मा को मुक्ति के प्रति प्रेम ही नहीं होता, वह मुक्ति-मोक्ष चाहता ही नहीं! जीवात्मा जिस वस्तु को चाहता ही नहीं है, उसको वह मिलती ही नहीं! 'भव्य' जीवात्मा कभी भी... मुक्ति चाहता है! मुक्ति से उसका प्रेम जाग्रत होता है... इसलिए उसकी मुक्ति होती है। भव्य जीवात्मा के भीतर मुक्तिराग सुषुप्त अवस्था में पड़ा हुआ होता है। समय आने पर, वैसा आलंबन मिलने पर वह मुक्तिराग जाग्रत होता है और उसकी मुक्ति हो जाती है। ऐसे भव्य जीव अनंत होते हैं। हाँ, अनंत जीव मुक्त हो भी गये हैं और अनंत जीव मुक्त होंगे भी!

मजे की बात तो यह है कि, अभव्य जीव भी संसार में अनन्त हैं- ऐसा धर्मग्रंथों में कहा गया है! उन अभव्य जीवों में मुक्तिराग होता ही नहीं है! न सुषुप्त अवस्था में, न जाग्रत अवस्था में। वे जीव, कभी भी किसी भी जन्म में मोक्ष को-मुक्ति को मानते ही नहीं! 'शास्त्रों में जैसा मोक्ष कहा गया है वैसा मोक्ष हो ही नहीं सकता!' ऐसी अभव्य जीवों की शाश्वत् मान्यता होती है!

'ऐसा क्यों?' यह प्रश्न मत करना। जीवात्माओं की अपनी-अपनी योग्यता की बात है यह!

कभी भव्य जीव भी अभव्य जैसा लगता है! जिस समय मोक्षरुचि सुषुप्त होती है, मोक्ष के प्रति दृष्टि खुली नहीं होती है, उस समय वह भव्य जीव भी मोक्ष से नफरत करता है... मोक्ष को नहीं मानता है! जब उसका 'भव्यत्व' परिपक्व होता है तब दृष्टि खुलती है, अंतर्दृष्टि खुलती है और मोक्ष के प्रति द्वेष नहीं करता है।

मोक्ष के प्रति अद्वेषी बनता है!

मोक्ष के प्रति अद्वेष : भव्यात्मा की एक अवस्था :

मोक्षद्वेष दूर हो जाना, सामान्य बात नहीं है। महत्वपूर्ण घटना है। भव्य जीवन का बहुत कुछ विकास होने पर यह घटना घटती है। 'अभव्य' आत्मा की अनंतकालीन संसारयात्रा में यह 'मोक्ष-अद्वेष' की घटना कभी नहीं घटती है! सदैव मोक्ष-द्वेष ही बना रहता है! उन आत्माओं की क्वालिटी ही वैसी होती है!

सभा में से : हम लोग मोक्ष समझते ही नहीं... समझते नहीं इसलिए मोक्ष के प्रति राग नहीं है... तो क्या हम मोक्षद्वेषी कहलायेंगे?

महाराजश्री : नहीं, मोक्ष के प्रति राग नहीं है, इसका अर्थ मोक्षद्वेष नहीं है, परंतु मोक्ष के प्रति अद्वेष है। जैसे राग नहीं है, वैसे द्वेष नहीं है। मेरे जैसा कोई साधु अथवा श्रावक मोक्ष का स्वरूप समझाता हो, उस समय आपके मन में क्या ऐसा होता है कि 'नहीं, नहीं, ऐसा मोक्ष मुझे नहीं चाहिए, ऐसा मोक्ष हो ही नहीं सकता है!'

सभा में से : नहीं, ऐसा नहीं होता है।

महाराजश्री : तो फिर आप भव्य आत्मा हैं! अरे, द्वेष होता भी हो तो भी मैं आप को 'अभव्य' नहीं कह सकता हूँ! चूँकि आनेवाले जन्मों में आपका भव्यत्व उज्ज्वल हो जाय... आत्मा की विशुद्धि बढ़ जाय, उस समय आपके मन में मोक्षराग जाग्रत भी हो जाय! इसलिए 'यह आत्मा भव्य है या अभव्य?' इसका सही जवाब विशिष्ट श्रुतज्ञानी दे सकते हैं। और अवधिज्ञानी वगैरह दे सकते हैं। आत्मा को आत्मज्ञान से देखनेवाले और जाननेवाले सही बात बता सकते हैं!

मिथ्यात्व के साथ मुक्तिप्रेम हो भी सकता है :

अपने पास न तो पूर्वों का ज्ञान है, न अवधिज्ञान वगैरह आत्मप्रत्यक्ष ज्ञान हैं! अपने पास जो अति अल्प शास्त्रज्ञान है, उसके आधार पर शास्त्र की तत्त्वचर्चा करनी है!

भव्य-मिथ्यात्वी जीव की एक अवस्था ऐसी आती है... जब उसमें मुक्ति की चाह पैदा होती है! भले अपने-अपने धर्म के अनुसार मुक्ति की कल्पना हो, मुक्ति की चाह जाग्रत होती है। अभव्य-मिथ्यात्वी को कभी भी... किसी भी जन्म में मुक्ति का प्रेम पैदा होता ही नहीं! इतना ही नहीं, मोक्ष के प्रति द्वेष रहता है!

मिथ्यात्व से अतिचार :

सम्यक्त्वसहित बारह व्रत जब गृहस्थ ग्रहण करता है, उस समय [यदि

वह भव्य है तो] आत्मा में विशेष प्रकार की शुद्धि प्रगट होती है, परंतु वह शुद्धि संपूर्णतया Tolally मिथ्यात्व का और अनन्तानुबंधी क्रोध-मान-माया और लोभ का सफाया करने में समर्थ नहीं बनती है तो कभी भी उपशान्त मिथ्यात्व और उपशान्त कषाय उदय में आ सकते हैं और जीव को भ्रमित कर सकते हैं, अस्वस्थ कर सकते हैं। भ्रमित और अस्वस्थ मनुष्य व्रतों को दूषित करता है, अतिचार लगाता है।

व्रतधारी श्रावक ही नहीं, महाव्रतधारी साधु भी, यदि उसका मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी कषाय, उदय में आ जायँ तो वह भी अपने महाव्रतों को अतिचार लगाते हैं। मिथ्यात्व और कषायों का तीव्र उदय आने पर व्रतभ्रष्ट भी हो सकता है साधु और श्रावक। ऐसी कई घटनायें बनी हैं भूतकाल में और वर्तमान में घट रही हैं।

सम्यक्त्व के पाँच अतिचार :

जब मिथ्यात्व का उदय होता है तब पाँच प्रकार के अतिचार लग सकते हैं। 'प्रवचन सारोद्धार' ग्रंथ में इस प्रकार के अतिचार बताये गये हैं -

संका कंखा य तहा वितिगिच्छा, अन्नतित्थि य पसंसा।
परतित्थि ओव सेवणमइयारा पंच सम्मत्ते ।।

पहला अतिचार है, **शंका**। जीवादिक नौ तत्त्व के विषय में संशय करना। दूसरा अतिचार है, **कंखा**। यानी अन्य धर्मों के साथ वीतरागधर्म की तुलना कर, अन्य धर्मों को विशेष मानना। तीसरा अतिचार है, **वितिगिच्छा**। मतिभ्रम होने से फल पर संदेह करना। चौथा अतिचार है, अन्य धार्मिकों की प्रशंसा करना, वीतरागधर्म की निंदा करना। पाँचवाँ अतिचार है, अन्य धार्मिकों की सेवा करना। स्वयं के धर्मगुरुओं की सेवा नहीं करना। जब मिथ्यात्व का भाव आत्मा में उदित होता है तब ये बातें मनुष्य के जीवन में आती हैं। इससे सम्यक्त्व दूषित होता है।

क्लिष्ट कषायों के उदय से अतिचार :

जिस प्रकार मिथ्यात्व से सम्यक्त्व दूषित होता है, वैसे कषायों के उदय से व्रत दूषित होते हैं।

- ❖ तीव्र क्रोध होने पर पहला अणुव्रत दूषित हो सकता है। क्रोध में हिंसा हो जाना स्वाभाविक है। वैसे क्रोध में मनुष्य झूठ भी बोल देता है। यानी दूसरा अणुव्रत दूषित होता है।
- ❖ तीव्र मान कषाय के उदय से भी हिंसा वगैरह पापों का आचरण हो जाता है।

❖ तीव्र माया करने से तीसरा चोरी नहीं करने का अणुव्रत दूषित होता है। असत्य भी बोलता है... और इस प्रकार अणुव्रतों को अतिचार लगते हैं।

❖ लोभ-कषाय के उदय से कौन सा व्रत दूषित नहीं होता है? लोभ यानि आसक्ति, ममत्व... स्नेह... गृद्धि...। ऐसा लोभ, पाँच अणुव्रतों को तो अतिचारों से दूषित करता ही है, गुणव्रतों को और शिक्षाव्रतों को भी दूषित करता है।

❖ 'क्लिष्ट कर्मों के उदय से अतिचार लगते हैं,' यह बात बड़ी महत्वपूर्ण है। यह बात दूसरों के लिए सोचने से, अतिचार लगाने वाले दूसरे लोगों के प्रति अभाव या द्वेष पैदा नहीं होगा। दूसरे व्रतधारियों के प्रति - 'इनको क्लिष्ट पापकर्मों का उदय आया है। इसलिए वे अपने ग्रहण किये हुए व्रतों को दूषित कर रहे हैं... क्या करें वे? जीवात्मा का कोई दोष नहीं है।' इस प्रकार अपने मन का समाधान करने से अपने मन में द्वेष पैदा नहीं होता है। शान्ति बनी रहती है।

परंतु यह विचार स्वयं के लिए नहीं करना है। जब अपन अतिचार लगाते हों तब 'मेरे क्लिष्ट कर्मों के उदय से मेरे व्रतों को दूषित करता हूँ,' ऐसा सोचने से आप व्रतों को दूषित करते चलोगे... कभी भी अतिचारों से बचोगे नहीं। अतिचार से आगे बढ़कर अनाचार का सेवन करोगे और व्रतभंग कर दोगे।

दोनों दृष्टिबिंदु भिन्न होने चाहिए सोचने के। जिस ढंग से दूसरों के प्रति सोचना है, उसी ढंग से अपने लिए नहीं सोचना है। जिस प्रकार अपने लिए सोचना है, उस प्रकार दूसरों के लिए नहीं सोचना है। सोचने का ढंग अपना ऐसा होना चाहिए कि दूसरों के प्रति द्वेष न हो और स्वयं प्रति निराशा न हो, झूठा आत्मसंतोष न हो।

आप यदि सोचेंगे कि 'मेरे व्रत अतिचारों से दूषित होते हैं, मैं क्या करूँ? मेरे पापकर्मों के उदय से दूषित हो रहे हैं। कर्मोदय को मिटाना मेरे वश की बात नहीं है।' तो क्या होगा? एक दिन आप व्रत भंग कर दोगे।

पापकर्मों का पराभव किया जा सकता है :

इसलिए ग्रंथकार महर्षि कहते हैं-आप पापकर्मों का पराभव कर सकते हैं, करते रहो।

'विहितानुष्ठानवीर्यतर-तज्जयः।'

आपने जो सम्यक्त्व ग्रहण किया है, उस सम्यक्त्व की, उस सम्यग्दर्शन की प्रतिदिन स्मृति करते रहो। प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा और आस्तिक्य-इन पाँच बातों का पालन करते रहो। सम्यग्दृष्टि जीव के व्यवहारों को समझकर, उन व्यवहारों का पालन करते रहो। आप पापकर्मों पर विजय पाओगे।

आपने जो अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत ग्रहण किये हों, आप उन व्रतों के स्वरूप का, प्रभाव का और फल का चिंतन-मनन करते रहो, आप पापकर्मों का पराभव करोगे। मात्र एक-दो बार चिंतन स्मरण करने से काम नहीं बनेगा, पुनः-पुनः चिंतन, पुनः-पुनः स्मरण करना होगा। सदैव शुभ व्यवहारों का पालन करना होगा। यही 'जीववीर्य' है। इसी जीवसामर्थ्य से पापकर्मों पर विजय पाना है। पापकर्मों पर विजय पाने पर अतिचार लगने का सवाल ही पैदा नहीं होता है।

टीकाकार आचार्यदेव कहते हैं :

'विहितानुष्ठानं सर्वापराध व्याधिविरेचनौषधं महत्।'

यह स्वीकृत सम्यक्त्व-अणुव्रत-गुणव्रत-शिक्षाव्रतों का पुनः-पुनः स्मरण और तदनुरूप शुभ व्यवहारों का पालन एक महान औषध है! इस औषध से सभी अपराधरूप व्याधियों का विरेचन हो जाता है! यानी सभी अपराध नष्ट हो जाते हैं। फिर कोई अतिचार लगेगा ही नहीं।

ग्रहण किये हुए सम्यक्त्व और व्रतों का निरतिचार पालन करने के लिए ग्रंथकार और टीकाकार महर्षि कितना समुचित मार्गदर्शन दे रहे हैं! पुरुषार्थ की ओर प्रेरित करते हैं। हालाँकि पापकर्मों के उदय से अतिचार लगते हैं, यह वास्तविकता बता दी, परंतु वास्तविकता को स्वीकार कर, हाथ बाँधकर निष्क्रिय बनकर बैठे रहने का नहीं कहा। बल्कि उन पापकर्मों पर विजय प्राप्त करने का उपदेश दिया। 'तुम पुरुषार्थ करते रहो, तुम पापकर्मों पर, अतिचारों पर विजय पा सकोगे। इस पुरुषार्थ से तुम ऐसी स्थिति प्राप्त करोगे कि जिससे सभी अतिचार-सभी अपराध तुम्हारे नष्ट हो जायेंगे।'

सही पुरुषार्थ करने का मार्गदर्शन :

पुरुषार्थ निष्ठा से करना चाहिए। आत्मसाक्षी से करना होगा। मात्र दिखावा नहीं होनी चाहिए। पुरुषार्थ किस प्रकार करना चाहिए, उसका मार्गदर्शन देते हुए टीकाकार आचार्यश्री कहते हैं :

१. उन व्रतों का प्रतिदिन अनुस्मरण करो,
२. उन व्रतों के प्रति बहुमान-अहोभाव बनाये रखो,
३. अव्रतों का... यानी हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन वगैरह के प्रति धृणा-तिरस्कार का भाव बनाये रखो,
४. पापसेवन के फल का, व्रतभंग के फल का आलोचन-चिंतन करो और व्रतपालन के फल का चिंतन करो।

५. तीर्थंकर परमात्मा की भक्ति करो,
६. सुसाधु पुरुषों की पर्युपासना करो, और
७. उत्तरगुणों के प्रति श्रद्धाभाव बनाये रखो।

ये सात बातें हैं पुरुषार्थ के क्षेत्र की। प्रमाद किये बिना, इन बातों की उपेक्षा किये बिना पुरुषार्थ करने की प्रेरणा देते हैं ग्रंथकार और टीकाकार आचार्यदेव।

अब मैं इन सातों बातों को कुछ स्पष्ट करके समझाता हूँ। आज बारह व्रतों का विवेचन पूर्ण करना है। कल से व्रतधारी श्रावक गृहस्थों को सामान्य जीवनचर्या बताना है। इसलिये आज ये महत्वपूर्ण सात बातें एकाग्र मन से सुन लेना। हालाँकि ये सात बातें, 'पंचाशक' नामक ग्रंथ में से, जो कि इसी ग्रंथकार का ग्रंथ है, टीकाकार आचार्यश्री ने लेकर बतायी हैं। बहुत ही स्पष्ट मार्गदर्शन दिया गया है।

व्रतों की प्रतिदिन स्मृति करें :

पहली बात है, व्रत ग्रहण करने के बाद आप अपने मन में व्रतों का स्मरण करते रहें। यानी आपने कितने और किस प्रकार व्रत ग्रहण किये हैं, यह याद करते रहें।

व्रतों के प्रति बहुमान बनाये रखें :

प्रतिदिन व्रतों का अनुस्मरण जो करना है, बहुमान से करना है। कितने अच्छे हैं ये व्रत! इन व्रतों से मेरी आत्मा अनंत-अनंत पापों से बच गई है! मेरे समग्र जीवन को कैसा संयमित कर दिया है! एक-एक व्रत, तीर्थंकर परमात्मा ने कितना अच्छा बताया है! जब तक मुझे गृहस्थावास में रहना पड़े तब तक मेरे जीवन में ये व्रत होने ही चाहिए। मैं इन व्रतों का अच्छा पालन करूँगा।' इस प्रकार बहुमान का भाव रहने से, व्रतों के प्रति लगाव बढ़ता है और इससे पुण्यानुबंधी पुण्यकर्म का बंधन होता है।

पापों के प्रति धृणा करते रहो :

- ❖ सम्यक्त्व के प्रति प्रीति बनाये रखनी है तो मिथ्यात्व के प्रति धृणा-जुगुप्सा करते रहो।
- ❖ अहिंसा के प्रति प्रेम बनाये रखना है तो हिंसा के प्रति सख्त नफरत करते रहो। हिंसा की निंदा और धृणा करते रहो।
- ❖ सत्य का पक्षपात बनाये रखना है तो असत्य-झूठ की निंदा किया करो। असत्य

का कभी भी पक्ष नहीं लेना चाहिए।

❖ अचौर्य से, न्याय-नीति से और ईमानदारी से लगाव बनाये रखना है तो चोरी से, अनीति से और बेईमानी से घोर घृणा करते रहो। कभी लोभ में बहकर चोरी का पक्ष मत लिया करो।

❖ सदाचार से (स्वस्त्री संतोष, परस्त्री त्याग) प्रीति बनाये रखने के लिये, दुराचार की घोर घृणा करते रहो।

❖ अपरिग्रह से प्रेम बनाये रखने के लिए परिग्रह की तीव्र जुगुप्सा करते रहो। परिग्रह की कटु आलोचना करते रहो।

❖ नियंत्रित जीवनपद्धति (गुणव्रतमय जीवन) से लगाव बनाये रखने के लिए, अनियंत्रित और स्वच्छंद जीवनपद्धति का घोर विरोध करते रहो।

❖ व्रतों के प्रतिपक्षी पापों की इस प्रकार घृणा करने से, व्रतों के प्रति श्रद्धा दृढ़ बनी रहती है।

परिणति की आलोचन करें :

चौथी बात है परिणति यानी फल... परिणाम का विचार करने की। व्रतों का निरतिचार पालन करने से कौन सा फल प्राप्त होता है? अतिचार सहित यदि व्रतपालन करते हैं तो कौन सा फल प्राप्त होता है? और व्रतभंग करते हैं तो क्या फल मिलता है? इन बातों का पर्यालोचन करना चाहिए। इस प्रकार के चिंतन से व्रतपालन में दृढ़ता आती है। चूँकि व्रतभंग का परिणाम अशुभ ही होता है। अतिचारसहित व्रतपालन करने से भी फल अच्छा, जैसा चाहिए वैसा प्राप्त नहीं होता है।

तीर्थंकर भक्ति करें :

पाँचवाँ पुरुषार्थ है तीर्थंकर भक्ति का। तीर्थंकर परमात्मा का प्रभाव अचिन्त्य और अद्भुत होता है। तीर्थंकर का स्वरूप समझाते हुए एक प्राचीन महर्षि ने लिखा है :

❖ परमात्मा अचिन्त्य चिंतामणि हैं,

❖ भवसागर में जहाज हैं,

❖ त्रिलोक के परमनाथ हैं,

❖ अनुत्तर पुण्य के भंडार हैं,

❖ राग-द्वेष और मोह से मुक्त हैं।

दूसरी जगह ऐसा कहा गया है कि परमात्मा तीर्थंकरदेव

❖ भवसागर में निर्यामक हैं,
❖ भव-वन में सार्थवाह और
❖ भव-वन में जीवों की रक्षा करनेवाले महा-गोप हैं।

तीर्थंकर परमात्मा का चिंतन, इन विशेषताओं के द्वारा करनी चाहिए। इस से परमात्मा के प्रति अपूर्व बहुमान हृदय में पैदा होगा। और बहुमानसहित जो भक्ति होगी, वह अद्भुत होगी।

परमात्मा की प्रतिदिन अष्टप्रकारी पूजा करें। अभिषेक पूजा, चंदनपूजा, पुष्पपूजा, धूपपूजा, दीपकपूजा, अक्षतपूजा, नैवेद्यपूजा और फलपूजा-यह अष्टप्रकारी पूजा है। बाद में भावपूजा करने की है।

निर्दंभ और निष्कपट हृदय से जो मनुष्य परमात्मा की भक्ति करता है, वह भगवद्-अनुग्रह का पात्र बनता है। जिस मनुष्य पर भगवद्-अनुग्रह अवतरित होता है, वह व्रतपालन करने में समर्थ-शक्तिमान बनता है।

कुमारपाल महाराजा, पेथडशाह महामंत्री वगैरह व्रतधारी श्रावक प्रतिदिन भावपूर्वक परमात्मा की भक्ति करते थे। इससे वे व्रतपालन में दृढ़ रह पाये। संकट आने पर भी वे अडिग रहे। इसलिए व्रतधारी स्त्री-पुरुषों को प्रतिदिन परमात्मभक्ति, मन-वचन-काया को स्थिर करनी चाहिए।

सुसाधु पुरुषों की पर्युपासना करें :

जिस प्रकार प्रतिदिन परमात्मभक्ति करने की है, वैसे प्रतिदिन सद्गुरुजनों की सर्वप्रकार से उपासना करने की है। जिस प्रकार राजा कुमारपाल, आचार्यदेव हेमचन्द्रसूरिजी की पर्युपासना करता था। जिस प्रकार महामंत्री पेथड शाह, आचार्यदेव धर्मघोषसूरिजी की पर्युपासना करता था, जिस प्रकार राजा आम, आचार्यदेव बप्पभट्टीसूरिजी की पर्युपासना करता था।

सद्गुरु का योग-संयोग मिलना भी दुर्लभ है। संयोग मिला है तो महान् भाग्योदय समझकर, सद्गुरु की पर्युपासना कर लेनी चाहिए। पर्युपासना यानी सभी प्रकार की उपासना, सभी प्रकार की सेवा। भिक्षा, वस्त्र, पात्र और औषध से तो सेवा करने की ही होती है। विशेष में, उनकी ज्ञानोपासना में, उनके शासनप्रभावना के कार्यों में सहयोगी बनने का होता है। अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार सहयोगी बनने का है।

इससे सद्गुरु की परम कृपा प्राप्त होती है। कृपा का बल अद्भुत होता है। उस कृपाबल से व्रतपालन में दृढ़ता आती है। यदि व्रत ग्रहण नहीं किये हों तो व्रत ग्रहण

करने की इच्छा जाग्रत होती है। सद्गुरु का सतत मार्गदर्शन मिलने से, मोक्षमार्ग की आराधना में गति आती है, प्रगति होती है और हिम्मत बढ़ती है। इसलिए गुरुपर्युपासना का पुरुषार्थ अवश्य किया करें।

उत्तरगुणों से अलंकृत बनें :

'प्रवचनसारोद्धार' नामक ग्रंथ में श्रावक के २१ गुण बताये गये हैं, वे ही 'उत्तरगुण' होने चाहिए ऐसा मैं समझता हूँ। अक्षुद्र, रूपवान्, सौम्य, लोकप्रिय, अक्रूर, भीरु, अशठ, स-दाक्षिण्य, लज्जायुक्त, दयायुक्त, मध्यस्थ, सौम्यदृष्टि, गुणरागी, सत्कथाकारी, सुदीर्घदर्शी, विशेषज्ञ, वृद्धानुसारी, विनीत, कृतज्ञ, परहितार्थकारी और लब्धलक्ष-ये २१ गुण हैं। ऐसा गुणवान् पुरुष, व्रतपालन में दृढ़ बनेगा ही।

बुद्धिमान व्यक्ति को प्रमाद नहीं करना चाहिए :

इस प्रकार सात बातों का पुरुषार्थ बताया है। पुरुषार्थ करते रहना चाहिए। प्रमाद नहीं करना चाहिए। ग्रंथकार आचार्य देव कहते हैं कि बुद्धिमान् व्यक्ति को प्रमाद नहीं करना चाहिए, आलस्य नहीं करना चाहिए। आप बुद्धिमान हैं न? तो फिर यह सात प्रकार का पुरुषार्थ करते रहें।

इस प्रकार पुरुषार्थ करनेवाला बुद्धिमान् यदि व्रतधारी नहीं होगा तो व्रतधारी बन जायेगा और व्रतधारी होगा तो कभी व्रतभंग नहीं करेगा। कभी भी व्रत भंग नहीं करेगा। पुरुषार्थ से अतिचार पर विजय प्राप्त करना है। अतिचाररहित व्रतपालन करना है।

आज बारह व्रतों की विवेचना पूर्ण होती है। विवेचना शास्त्रसापेक्ष रहकर की है, फिर भी प्रमाद से या अज्ञानता से जिनाज्ञा से विपरित बोला गया हो, तो मिच्छामि दुक्कडं!

आचार्य श्री भद्रगुप्तसूरि (प्रियदर्शन) रचित व सर्जित साहित्य और विश्वकल्याण प्रकाशन, महेसाणा द्वारा प्रकाशित उपलब्ध पुस्तकें (अब श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र, कोबातीर्थ से उपलब्ध व प्रकाश्यमान)

हिन्दी पुस्तके

प्रवचन

क्रम	पुस्तक नाम	डीलक्ष	जनरल
1	*धम्मं सरणं पवज्जामि भाग-1/4	600	275
2	*पर्व प्रवचनमाला	165	75

कथा-कहानियाँ

1	*समरादित्य महाकथा भव-1 से 9	750	550
2	*मायावी रानी	120	50
3	*प्रीत किये दुःख होय	195	90
4	*कलिकाल सर्वज्ञ	120	55
5	*जैन रामायण भाग-1/3	635	300
6	*राजकुमार श्रेणिक	80	35
7	*राग विराग	68	30
8	*कथादीप	115	50
9	*नैन बहे दिन रैन	135	65
10	*सबसे ऊँची प्रेमसगाई	125	60
11	हिसाब किताब		15
12	फूलपत्ती		10

तत्त्वज्ञान

1	*मारग साचा कौन बतावे	160	70
2	*समाधान	50	50
3	मोती की खेती		5
4	शांतसुधारस अनुवाद		15
5	पीयो अनुभव रस प्याला		20

निबंध मौलिक चिंतन

1	*यही है जिन्दगी	175	80

2	*जिंदगी इम्तिहान लेती है	142	65
3	चिंतन की चांदनी		30
4	स्वाध्याय		30

बच्चों के लिए सचित्र

1	विज्ञानसेट	20

ગુજરાતી પુસ્તકો

પ્રવચનો

ક્રમ	પુસ્તક નામ	ડીલક્ષ	જનરલ
1	*ધમ્મં સરણં પ્રવજ્જામી	595	305
2	*શાંતસુધારસ ભાગ-1/3	540	315
3	પર્વ પ્રવચનમાળા		50
4	મનને બચાવો		15

કથા-વાર્તા સાહિત્ય

1	*સમરાદિત્ય મહાકથા ભાગ-1/3	500	400
2	*જૈન રામાયણ ભાગ-1/3	540	270
3	*સુલસા	165	90
4	*મયણા	170	85
5	*પ્રીત કિયે દુઃખ હોય	165	85
6	*પાંપણે બાંધ્યુ પાણિયારું	115	55
7	*એક રાત અનેક વાત	141	65
8	*વાર્તાના ઘાટે	90	40
9	અંજના		20
10	ભવના ફેરા (કષાયો પર ચિંતન)		20
11	દોસ્તી		25
12	હિસાબ કિતાબ		20
13	મને તારી યાદ સતાવે		30
14	ફૂલ-પાંદડી		10
15	રીસાયેલો રાજકુમાર		20
16	સર્વજ્ઞ જેવા સૂરિદેવ		30
17	શ્રદ્ધાની સરગમ		40

તત્ત્વજ્ઞાન-વિવેચન

1	*જ્ઞાનસાર	220	115
2	*પ્રશમરતી	300	155
3	*મારગ સાચા કૌન બતાવે	178	87
4	*સમાધાન	190	82
5	*પીયો અનુભવ રસ પ્યાલા (અધ્યાત્મ વિવેચના)	101	40
6	*હારિભદ્રી યોગદર્શન (યોગ અંગે વિવેચન)	155	65

મૌલિક ચિંતન નિબંધ

1	*તારા દુઃખને ખંખેરી નાંખ	150	75
2	*લય-વિલય-પ્રલય	168	75
3	હું તો પલપલમાં મુંઝાઉ		30
4	સ્વાધ્યાય		30
5	ત્રિલોક-દર્શન (જૈનભૂગોળની ડાયરી)		25

બાળકો માટે રંગીન સચિત્ર

1	વિજ્ઞાનસેટ (બાળકો માટે સચિત્ર રંગીન 3 પુસ્તકો)		20

વિવિધ

1	*હૃદય કમલમેં ધ્યાન ધરત હૂં	135	55
2	*વિચારપંખી	120	50
3	*જૈનધર્મ (પરિચય ગાઈડ)	120	55
4	*જીવનધર્મ	95	41
5	ગીતગંગા (ગમતા ગીતોનું સંકલન)		20
6	નમ્રિયતે (મૃત્યુ પર વિવેચન)		10

English Books

1	*Guide Lines Of Jainism	45	45
2	*Jindarshan	60	60
3	Jain Ramayana Part-1/3		130
4	Bury Your Worry		30
5	Code Of Conduct		10

*શ્રી મહાવીર જૈન આરાધના કેન્દ્ર, કોબા દ્વારા પુનઃ પ્રકાશિત

નોંધ